दिव्यचक्षु

रमणलाल वसंतलाल देसाई

अनुवाद

मनमोहिनी

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली

दिव्यचक्षु

रमणलाल वसंतलाल देसाई

अनुवाद

मनमोहिनी

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली

भूमिका

ऐतिहासिक व सामाजिक—दोनों प्रकार के उपन्यासों का प्रवाह गुजरात में आज से लगभग 108 वर्ष पूर्व एक ही साथ आरंभ हुआ था, और आज तक वह लगभग समांतर ही बह रहा है। यदि हम श्री गोवर्धनराम को अलग करके देखें तो पायेंगे कि प्रत्येक महत्वपूर्ण गुजराती उपन्यासकार ने इन दोनों प्रकार के उपन्यासों की रचना की है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में गुजराती लेखक की प्रेरणा का केंद्र मूलत: देशाभिमान और देशभक्ति रहा है। किसी औपन्यासिक कृति में जब काल्पनिकता का अंश अतिरिक्त रूप से बढ़ जाता है तो उसमें ऐतिहासिकता कम हो जाती है और जब किसी रचना में मात्र ऐतिहासिक तत्वों में चिपटे रहने का आग्रह बढ़ जाता है तो इतिहास के रूप में उसकी उपादेयता बढ़ने के बावजूद वह पाठक की कल्पना को स्पर्श कर उसमें कोई लोकांतर सक्रांति कर पाने में अक्षम ही सिद्ध होती है।

किंतु अशक्त हो या सशक्त, ऐतिहासिक उपन्यासकार की दृष्टि, उसने स्वयं जिस कालखंड को चुना है, उसका यथातथ्य चित्रण करने—उस कालखंड में वर्तमान जीवन का कुछ ऐसा सर्जन करने, जिसमें कल्पना को छूने की क्षमता हो, की ओर रही है। और उससे भी अधिक उसकी दृष्टि इस ओर रही है कि उस कालखंड को वर्तमान के संदर्भ में निरूपित करना है।

सामाजिक उपन्यासों को लें तो देखेंगे कि उनमें लेखक ने अधिकांश में अपने समकालीन समाज को ही चित्रित किया है। यह चित्रण किसी उपन्यास में नितांत यथार्थपरक होता है तो किसी में भावनाशीलता से ओतप्रोत।

किसी उपन्यास में लेखक का समकालीन समाज-जीवन इस रूप में अंकित होता है, मानों वह एक स्वतंत्र और स्वायत्त कालखंड है, तो किसी उपन्यास में दो या तीन पीढ़ियों के सामाजिक जीवन के आलेखन द्वारा पीढ़ियों के साम्य और

वैषम्य को उभारकर——समकालीन सामाजिक जीवन के सदासद् रूपों का निरूपण किया जाता है।

गुजराती के सामाजिक उपन्यासों में बदलते हुए सामाजिक जीवन का चित्रण हल्के और गहरे रंगों में हुआ है। आज से 108 वर्ष पूर्व जब गुजराती उपन्यास का जन्म हुआ, अंग्रेजी के संपर्क के कारण हमें हमारे यहां के बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, कन्या-विक्रय, वर-विक्रय, शारीरिक और मानसिक रूपसे अनमेल विवाह, कौटुंबिक, क्लेश, जड़ और निर्जीव रूढ़ियों व अंधविश्वास, विवाह और मृत्यु जैसे अवसरों पर सामर्थ्य से बढ़कर किये जाने वाले खर्च, धर्म के नाम पर चलने वाले पाखंड आदि सामाजिक कुरीतियां सालने लगी थीं। अस्तु उस समय के उपन्यासों में किसी न किसी रूप में ये अनिष्ट प्रतिबिंबित हैं। लगभग 95 वर्ष पूर्व युनिवर्सिटी के ग्रेजुएटों की कृतियां सामने आने लगी थीं। इन लेखकों को व्यवस्थित और उदारभावी शिक्षण मिलने के कारण उनकी दृष्टि व्यापक और विशाल भी बनी और मूलगामी व मर्मगामी भी। पश्चिम के इतिहास, दर्शन, साहित्य और समाज-शास्त्र, तथा पूर्व के संस्कृत काव्यकारों के अध्ययन के परिणामस्वरूप उनकी देशोन्नति के प्रति ललक तीव्र हो गयी। उन्होंने इस ओर भी ध्यान देना आरंभ किया कि किस प्रकार शिष्ट व संस्कारी मनुष्य के उपयुक्त जीवन जिया जाय। साथ ही वे इस संसार के अधिष्ठान रूप गृहस्थाश्रम को निर्मल, निर्भय, स्वस्थ और प्रसन्न बनाने के चिंतन की ओर मुड़े। शहर विकसित होते जा रहे थे और ग्रामीण जीवन अस्त-व्यस्त होता जा रहा था। परिणाम स्वरूप संयुक्त परिवार खंडित होने लगे थे। और जब 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई तो पूरे राष्ट्र के शिक्षित वर्ग में जो जागृति की लहर दौड़ी, उसके फलस्वरूप हमारे लेखकों का ध्यान देशी राज्यों, नारी शिक्षा, नारी प्रतिष्ठा, मध्यम और निम्न- (श्रमिक) वर्ग के जीवन और गरीबी की और गया। अस्तु उस युग——1880 से 1915 तक के पंडित-युग——के उपन्यासों में इन समस्याओं का चित्रण कहीं हल्के तो कहीं गहरे रंगों में होने लगा था।

आज से 60 वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था प्रथम विश्व-युद्ध ? वह चार वर्ष चला। उस बीच और उसके बाद पृथ्वी का नकशा ही बदल गया। मानव स्वातंत्र्य और मानव समानता के नये युग का उदय हुआ। धर्म, राज्य और समाज विषयक दृष्टि-

कोण बदल गया। सन् 1915 में गांधीजी अफ़्रीका से भारत आये। गुजरात उनकी समस्त प्रवृतियों का केंद्र बना और गांधीजी के व्यक्तित्व और विचारधारा की छाप पूरे देश पर और विशेष रूप से गुजरात पर छा गयी। स्वातंत्र्य सत्य, अहिंसा, नारी और पुरुष की समानता, दीनजन वात्सल्य, शोषणमुक्ति, हिंदू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता निवारण, ग्रामोद्धार, विश्वबंधुत्व आदि विचारों का वातावरण तैयार होने लगा। जीवन सबसे बड़ा उपास्य देवता और त्याग तितिक्षा, पुरुषार्थ और पराक्रम उसके उत्कर्ष के साधन समझे जाने लगे। संपूर्ण गुजराती साहित्य की ही तरह गुजराती उपन्यास कृतियों में भी इन भावनाओं की अनुगूंज सुनाई देने लगी। इतना ही नहीं, उपन्यास के स्वरूप और शैली विषयक विभावना में भी परिवर्तन आया। अनावश्यक विस्तार समाप्त होने लगा। पृष्ठ पर पृष्ठ भरने वाला तात्विक और सामाजिक विषयों का मनन चिंतन---पर्यवेषण समाप्त होने लगा। उबाऊ अलंकार बाहुल्य और कवितामय वर्णनों की भरमार भी खत्म हुई। भाषा का पांडित्य भार समाप्त हो गया। गांधीजी ने धर्म के स्थान पर उच्च नितिमत्ता की प्रतिष्ठा की थी और तत्कालीन गुजरात के छोटे या बड़े किसी भी लेखक पर कम या अधिक परिमाण में गांधीजी के विचारों का प्रभाव हुए बिना नहीं रहा। जो भी कला को नीति के सायुज्य से मुक्त रखने का आग्रह एक वर्ग में प्रखर हुआ। साथ ही कला के लिए कला के वाद का भी जोर बढ़ा। गुजराती उपन्यास में ग्रामजीवन का सामावेश हुआ। ऐतिहासिक या कि सामाजिक सभी प्रकार के उपन्यास सुवाच्यता और सरलता की दिशा में अग्रसर होने लगे। पात्र आलेखन (चरित्र-चित्रण) और भी स्पष्ट और सुरेख होने लगा। संवादों में भी स्वाभाविकता और सजीवता की वृद्धि हुई। कथन शैली में कोमलता मार्मिकता और कटाक्ष का संचार होने लगा, गांभीर्य कुछ कम होने लगा। दर्शन की अपेक्षा रसमयता पर भार दिया जाने लगा। उपन्यास का लक्ष्य एक ही रह गया : आनंददायित्व !

दूसरा विश्वयुद्ध 35 वर्ष पूर्व आरंभ हुआ। यह युद्ध छह वर्ष चला। उस दौरान और उसके बाद दुनिया में फिर से एक अभूतपूर्व और अश्रुतपूर्व क्रांति आयी। संसार ने अणुयुग में प्रवेश किया। साम्राज्यवाद की चूलें हिलने लगीं। भारत के साथ एशिया और अफ़्रीका के कई देश स्वतंत्र हुए। वर्चस्वी समझे जाने

वाले इंग्लैंड और यूरोप खोखले होने लगे। और फिर अमेरिका और एशिया की स्थापना हुई महासत्ता के रूप में।

दूसरे विश्वयुद्ध ने जिस तरह करोड़ों निस्सहायों और निरपराधियों का संहार किया उसके कारण मनुष्य की ईश्वर, अपने पुरुषार्थ और भविष्य के प्रति आस्था समाप्त हो गयी। जीवन की निर्हेतुकता, अतंत्रता और अर्थशून्यता, व्यक्ति का एकाकीपन, गौरवहीनता, किंकर्तव्यमूढ़ता और हताशा, व्यक्तित्व की छिन्न-भिन्नता और विशृंखलता-पाश्चात्य साहित्य में इन सभी भावनाओं का आलेखन होने लगा। और भारत में उन्हीं भावनाओं की अनुगूंज होने लगी। वह अनुगूंज साहित्य में भी समाने लगी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जिन आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों का जन्म हुआ और उनके कारण जो स्वप्न भंग हुआ, उसने भी इन भावनाओं को पुष्ट ही किया।

अब फिर उपन्यास की विभावना में परिवर्तन आया है। कला के लिए कला का वाद गांधीयुग में कुछ पनपा अवश्य था, पर उसकी जड़ें विशेष जम नहीं सकी थीं। इस युग में वह फिर फैला और उसकी जड़ें भी मजबूत हुईं। कला सर्जन के अतिरिक्त कलाकृति का हेतु कुछ हो ही नहीं सकता। भावसंक्रमण भी नहीं और मूल्य बोध भी नहीं। उपन्यास में नायक अच्छा है या खराब, उदात्त है या अधम, यह बात महत्वहीन है। महत्व इस बात का है कि यह देखा जाय, कि वह भला या बुरा, श्रेष्ठ या अधम कैसे बना। अस्तु पात्रों के ऊपरी व्यवहार और उनके पीछे उनकी सूक्ष्म और जटिल मनस्थितियों का विश्लेषण ही नये उपन्यास का संविधान होना चाहिए।

जहां लक्ष्य निश्चित होता है वहां उसकी ओर गति भी होती है। पर जहां लक्ष्य ही अस्पष्ट हो, वहां गति की दिशा, कैसे निर्धारित हो ? ऐसी स्थिति में गति मात्र आवर्तों की ही सृष्टि करती है और पदविन्यास सीधी रेखा पर होने की बजाय टेढ़ी तिरछी रेखाओं पर होता है। और उसके लिए प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है।

इन्हीं कारणों से आधुनिक उपन्यास प्रतीक बहुल हो गये हैं। घटना स्वयं नहीं, घटना के सर्जक जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रेरणा-स्रोत होते हैं, वे आधुनिक हैं। आधुनिक ही क्यों ? किसी भी युग के सच्चे और महान उपन्यासकार की दृष्टि ही महत्वपूर्ण

होने के कारण उपन्यास में से घटनाओं का लोप हो रहा है। मन की चेतन, अवचेतन और अचेतन संवेदन क्रियाओं का आलेखन युग की विशिष्टता बन रही है। इन्हीं सबके कारण जो भी संभव है वह अनुसंधान मात्र गिने चुने हस्ताक्षरों के साथ ही होता है। मध्यम और एकनिष्ठ अधिकारी पाठकों के साथ उनका संबंध टूट गया है।

साहित्यकार को––और उनमें से भी उपन्यासकार को––क्या यह इष्ट होगा ?

और मध्यम या कनिष्ठ अधिकारी के रूप में पाठक समुदाय अपनी रसपिपासा बुझाते हुए या मात्र काल विनोद के रूप में सामान्य से भी निम्न मानी जाने वाली उपन्यास रचनाओं की ओर बढ़ रहा है।

[दो]

गुजराती उपन्यास के प्रारंभकाल से लेकर आज तक लिखी गयी कृतियों पर हम विचार करें तो यह प्रवाह हमें स्पष्ट ही तीन मोड़ लेता हुए प्रतीत होता है।

गुजराती में भी सर वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों की ही तरह के उपन्यास लिखे जाने के पक्षधर, सरकारी शिक्षा विभाग के अधिकारी मि. रसेल की सूचना पर नंद-शंकर महेता (1835–1905) कृत 'करणघेलो' (1866) को प्रथम गुजराती उपन्यास के रूप में स्वीकारा गया है। इस उपन्यास में इस गुजरात के अंतिम हिंदू राजा करण वाघेला के जीवन के महत्वपूर्ण प्रसंग को लेकर यह कहानी कही गयी है कि गुजरात में हिंदू राज्य सदैव के लिए किस प्रकार अस्त हो गया। कथ्य ही नहीं, रोचकता और कलातत्व की दृष्टि से इसमें काफी अपरिपक्वता है। इतना ही नहीं, इसमें राजा करण के समय के गुजरात की अपेक्षा लेखक ने अपने समय के गुजरात का चित्र ही अधिक उभारा है। परंतु उसके देशकाल, प्रकृति और घटनाओं के मनोहारी वर्णन और रोचक गद्य-शैली के कारण यह ऐतिहासिक कृति आज भी काफी आस्वाद्य है। अपने रचना-काल में तो यह उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि, उसके अनुकरण पर 'राणक-देवी' 'वनराज चावड़ो' और 'सधरा जैसंग' जैसे उपन्यास लिखे गये। मराठी में भी इसका भाषातंर हुआ था।

'करणघेलो' हमारा प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है तो उससे कुछ ही पूर्व, किंतु

उसी कालखंड में लिखा गया महीपतराम नीलकंठ (1829-1891) का उपन्यास 'सासुवहुती लड़ाई' (1866) हमारा प्रथम सामाजिक उपन्यास है। इस उपन्यास में तत्कालीन समाज के प्रतिबिंब के अतिरिक्त लेखक के समाज सुधारक दृष्टि बिंदु देखने को मिलते हैं। किंतु लेखक के पास अपने विचारों और संवेदनों को अभिव्यक्ति देने में समर्थ भाषा नहीं है। अस्तु इस उपन्यास का महत्व मात्र उसमें वर्णित कई सत्य घटनाओं के कारण एक दस्तावेज के रूप में ही है। महीपतराम ने वनराज चावड़ो 'सधरा जैसंग' नाम के ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। साहित्यिक कसौटी की दृष्टि से इनमें कुछ भी नहीं है।

समयानुक्रम में 'सासुबहुनी लड़ाई' पहले लिखी गयी। किंतु कैसा भी अनघड़ ही सही, उपन्यास का कलेवर पहली बार गढ़ा गया 'करणवेला' में ही। अस्तु इसे हमारा पहला ऐतिहासिक उपन्यास ही नहीं, पहला उपन्यास माना जाता है।

नंदशंकर द्वारा आरंभ हुए प्रवाह में 'राणकदेवी', 'अंधेरी नगरी जो गर्धर्वसेन' 'वे बहनों' आदि उपन्यास मिलते जाते हैं। किंतु इनका पहला स्पष्ट और निश्चित मोड़ आता है गोवर्धनराम त्रिपाठी (1855–1907) के उपन्यास 'सरस्वतीचंद्र' (1887–1891) के पास।

'सरस्वतीचंद्र' चार भागों में लिखा गया है। इसमें सरस्वतीचंद्र, कुमुद और कुसुम की प्रणयकथा के निमित्त संस्कृति की कथा कही गयी है। भारत में जब प्राचीन पूर्व, अर्वाचीन पूर्व और अर्वाचीन पश्चिम की संस्कृतियों का त्रिवेणीसंगम हो रहा है उस समय में सुशिक्षित और संस्कारी अभिजात लोकसंग्रह की वृत्ति वाले मनुष्य का अपनी जाति के प्रति, अपने स्वजनों के प्रति, अपने समाज के प्रति, अपने देश के प्रति, समूची मानवजाति के प्रति और जड़ व चेतन मात्र के प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिए, इसका रसमय निदर्शन करवाया गया है।

'सरस्वतीचंद्र' क्षुद्रातिक्षुद्र और मात्र पशुओं की सी स्थिति में जी रहे पात्रों से आरंभ करके ऊंची से ऊंची चेतसिक और आध्यात्मिक भूमिका में स्थित नारी और पुरुष पात्रों की विविध कक्षाओं का चित्रण है, मानवहृदय के अतलतम में चल रहे मनोमंथन का आश्चर्यजनक निरूपण है, दृष्टि के सम्मुख चित्र बनकर नाचते से वर्णन हैं, और जीवन से संवद्ध लगभग प्रत्येक विषय की तर्कसंगत और बुद्धिगम्य रूप में मीमांसा की गयी है।

कथ्य, शैली और जीवनदर्शन की कसौटी पर कसने पर 'सरस्वतीचंद्र' का स्थान आज भी अनन्य है। अन्य बहुत से उपन्यास सर्वांग सुंदर क्रीड़ाशिखर होंगे किंतु 'सरस्वतीचंद्र' दैवी आत्मा नगाधिराज है।

'सरस्वतीचंद्र' के पास से मोड़ लेने वाले प्रवाह में मणिलाल नभुभाई द्विवेदी कृत 'गुलाबसिंह' 'मर्मणलाल नीलकंठ की गुजराती साहित्य की प्रथम हास्यप्रधान उपन्यास कृति 'भद्रंभद्र' छोटालाल जीवनराम मास्तर 'विश्ववंद्य'कृत 'योगिनी कुमारी' 'भोगींद्रराय दिवेटिया कृत 'उषाकांत', 'असिस्टेंट कलेक्टर' और 'अजामिल' आदि इच्छाराम देसाई कृत 'गंगा–एक गुर्जर वार्ता', चुन्नीलाल वर्धमान शाह कृत 'सोरठी-सोमनाथ', मणिलाल छबाराम भट्ट कृत 'पृथ्वीराज चौहाण अने चंदबरदाई', नारायण विसन जी ठक्कर कृत, 'पद्मिनी' मोतीलाल सट्टावाला कृत 'विक्रमनीवीसमी सदी,' और अमृत केशव नायक कृत 'एम.ए. बनाके क्यों मेरी मिट्टी खराब की ? जैसी असंख्य कृतियां सम्मिलित हैं। ये सभी कृतियां लोकप्रिय भी थीं। किंतु इनमें से कोई भी कृति उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में कोई नया मानदंड नहीं बना सकी।

यह मानदंड स्थापित किया कनैयालाल मणिकलाल मुंशी (1887–1971) ने। सन् 1915 में 'घनश्याम' उपनाम से मुंशीजी का धारावाहिक उपन्यास 'गुजराती' साप्ताहिक में प्रकाशित होना आरंभ हुआ। इस उपन्यास में मुंशीजी नया कथ्य, नये पात्र, नये संवाद, और नयी ताजगी लेकर आये। इस प्रकार गुजराती उपन्यास साहित्य के प्रवाह में दूसरा स्पष्ट और निश्चित मोड़ आया।

मुंशीजी ने तेरह ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। इनमें सोलंकीयुग की कीर्तिगाथा गाने वाली ऐतिहासिक उपन्यासत्रयी 'पाटणनी प्रभुता', 'गुजरातनो नाथ,' और 'राजाधिराज', महमूद गजनवी के सोमनाथ पर आक्रमण के समय उसका प्रतीकार करने वाले भीमदेव सोलंकी के प्रेम और शौर्य की कीर्तिगाथा के रूप में 'जय सोमनाथ', बंगभंग के समय देश की मुक्ति के लिए देखे गये गुजरात के युवकों के स्वप्न और उनके करुण विलय का निरूपण करने वाली कृति 'स्वप्नदृष्टा', और आर्यवर्त की सीमा नर्मदा से हिमालय तक विस्तारित करने वाले महाभार्गव के महिमा स्रोत से पूर्ण कृति 'भगवान परशुराम' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जिस समय मुंशीजी का सूर्य मध्याकाश में प्रखर था, उस समय भी अपने ही तेज से प्रकाशित होकर संसार की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करने वाले उपन्यासकारों में मुख्य है : रमणलाल वसंतलाल देसाई (1892–1965)।

मुंशीजी के समकालीन या कि अनुगामी लेखकों में धूमकेतु ने भी सोलंकीयुग की विरुदवलि रूप में 'चौलादेवी', 'राजसंयासी', 'कर्णावती', 'सिद्धराज जयसिंह' आदि उपन्यास लिखे। किंतु वे न मुंशीजी तक पहुंच सके और न ही कहानी लेखक धूमकेतु से आगे निकल सके। झवेरचंद्र मेघाणी ने भी 'वेविशाल', 'तुलसीक्यारो', 'सोरठ, तारां वहेतां पाणी', और 'गुजरातनी जय भाग 1—2' जैसे सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों द्वारा, बीते युग की कुलीनता और महानता का चित्रण किया। गंगामैया जैसी पतितपावन, वात्सल्य मूर्ति नारी-पात्रों का सर्जन किया और गुजराती गद्य की विविध छटाओं का रम्य दर्शन करवाया। किंतु ये उपन्यास न तो कोई नया मानदंड स्थापित कर सके और न ही लोकगीतों के गायक और 'सौराष्ट्रनी-रसधार' के लेखक झवेरचंद मेघाणी की सुकीर्ति का ही अतिक्रमण कर पाये। गुणवंतराय आचार्य की विशेष रूप से समुद्री साहस कथाओं—'सक्करबार' 'सरफरोश', 'सरगोश' आदि काफी पाठकों द्वारा पसंद अवश्य की गयीं, किंतु ये कृतियां तथा 'देशदीवान', 'दरियालाल', 'हाजी कासम तारीवीजली' आदि उपन्यास मुंशीजी के सामने नहीं टिक सके और न ही विद्वानों की प्रशंसा पा सके। पन्नालाल पटेल ने 'वलामणां', 'मलेलाजीव' और 'मानवीनी भवाई' में गुजरात के गांवों को हूबहू खड़ा कर दिया है और अपने अद्‌भुत कथा कौशल द्वारा विदग्धों को भी चौंका दिया है। किंतु ये गांव जिस प्रकार उनकी शक्ति सिद्ध हुए थे, निर्बलता भी वे ही सिद्ध हुए।

इन सब लेखकों ने प्रशस्ति भी पायी अवश्य। किंतु रमणलाल देसाई ने सामान्य पाठकों के हृदय में उपन्यासकार के रूप में जो स्थान पाया और जिसे उन्होंने वर्षों तक बनाये रखा, पन्नालाल पटेल को बाद कर दें तो अन्य किसी लेखक ने न तो वह स्थान पाया और न ही किसी को उसे बनाये रखने में सफलता ही मिली।

रमणलाल के उपन्यास 'जयंत' (1925) 'शिरीष' (1927) और 'कोकिला' (1929) जब बड़ौदा के 'समाज विजय' के वार्षिक विशेषांकों के रूप में प्रकाशित

हुए तो गुजरात का ध्यान आकर्षित नहीं कर सके थे। किंतु बाद में सुघड़ साज-सज्जा के साथ प्रकाशित होने पर इन कृतियों ने काफी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। और इस प्रकार गुजरात को मुंशीजी के बाद उपन्यासकार के रूप में एक और विशिष्ट हस्ताक्षर मिला

उसके बाद तो रमणलाल के एक के बाद एक कई उपन्यास प्रकाशित होते गये। इन उपन्यासों को असाधारण लोकप्रियता भी मिली। मुंशीजी के लेखक के मध्यानकाल में भी रमणलाल के उपन्यासों ने अपने सौम्य और मांगलिक दांपत्य-चित्रों, रसीक प्रसंग घटनाओं, सूक्ष्म और स्वच्छ विनोदवृत्ति, संभावित मर्यादोन्मुखी आदर्शपरायणता और भावनामयता, वास्तविक जीवन के मार्मिक निरूपण और सरल, मधुर, सम्यक् प्रवाहमयी शैली के कारण गुजरात के पाठक वर्ग में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया।

जिस प्रकार मुंशीजी को और सभी गुजराती उपन्यासकारों को मर्यादा की सीमा ने जिस प्रकार बाधा दी, रमणलाल को भी दी है। संपादकों, प्रकाशकों या कि पाठकों की मांग को न नकार पाने के कारण या कि जनता की दृष्टि के निकटतम रहने की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर लिखने रहते के कारण शायद सभी लेखकों को यह बाधक होती ही होगी। ऐसी ही किसी सीमा के कारण रमणलाल के उपन्यासों के नायक नायिका एक ही सांचे में ढले होते हैं। कई बार तो रमणलाल के उपन्यास जासूसी रहस्यात्मक कहानियों जैसे ढलने लगते हैं। ऐसे में ही विशेष प्रतीतिकर नहीं बन पाते। रमणलाल के उपन्यासों का भाषाप्रवाह आकर्षक अवश्य होता है। किंतु उस प्रवाह का वेग हमेशा धीमा होता है। उनकी वस्तुसंकलना जिस प्रकार सुश्लिष्ट होती है, कभी-कभी उतनी स्वाभाविक और संभाव्य नहीं होती। 'दिव्यचक्षु', 'ग्रामलक्ष्मी', और 'भारेलो अग्नि' के बाद उनकी शक्ति क्षीण होती गयी है और 'सौंदर्य ज्योत', 'झंझावात' और 'प्रलय' में उनका रंग काफी फीका पड़ गया है और कलाविधान भी शिथिल हो गया है।

लेकिन इन सभी सीमाओं के उपरांत भी रमणलाल मुंशीजी के सामने टिक सके और वास्तविक अर्थों में 'लोकप्रिय' बन सके, यह भी सचाई है। पढ़ने में सामान्य रुचि लेने वाले गुजराती परिवारों में रमणलाल मुंशीजी की अपेक्षा अधिक पढ़े जाते थे। और विश्वविद्यालयों के अभ्यासक्रम में बार-बार स्थान पाये बिना भी

रमणलाल के उपन्यासों की बिक्री भी अधिक होती थी। मात्र लोकप्रियता ही साहित्य की गुणवत्ता का थर्मामीटर नहीं ही है। किंतु रमणलाल मात्र लोकप्रिय लेखक ही नहीं थे, उन्होंने समसामायिक अधिकारी विद्वानों का आदर और अनुमोदन भी पाया था। मुंशीजी ने उपन्यास के प्रवाह को मोड़ अवश्य दिया था। किंतु उस समय के अनेक उल्लेख्य उपन्यासकारों में से किसी का नाम उनके साथ अविभाज्य रूप में जुड़ सका है तो वह है रमणलाल का!

धूमकेतु, झवेरचंद मेघाणी, गुणवंतराय आचार्य आदि लेखक रमणलाल के समकालीन माने जाते हैं और चुन्नीलाल वर्धमान शाह तो मुंशीजी से भी पूर्व के कहे जाते हैं। किंतु रमणलाल के अनुगामी कहे जाने वाले लेखकों में पन्नालाल पटेल, ईश्वर पटेलीकर, पीतांबर पटेल, मनुभाई पंचोली—दर्शक, चुन्नीलाल मडिया, निरंजन वर्मा और जयमल परमार, रामनारायण नागरदास पाठक, यशोधर मेहता, पुष्कर चंदरवाकर, जयंती दलाल, बचुभाई शुक्ल, हरजीवन सौमेय, मोहनलाल मेहता सोपान, धीरूबेन पटेल, कुंदनिका कापड़िया, शिवकुमार जोशी आदि ने उपन्यास के क्षेत्र में अपनी विशिष्टताओं का योग दिया है। इनमें भी पन्नालाल पटेल और 'दर्शक' का योगदान तो एक लंबे समय तक स्मरणीय रहने में समर्थ है।

इनमें से प्रत्येक लेखक अपनी अपनी नयी शैली, नया कथ्य, नये पात्र लेकर आया है और 'दर्शक' तो एक उदात्त दर्शन भी लेकर आये हैं। फिर भी उपन्यास की विभावना की दृष्टि से इन सभी लेखकों का अनुसंधान मुंशी और रमणलाल के साथ ही रहा है।

यह अनुसंधान टूटा और गुजराती उपन्यास के प्रवाह में तीसरा स्पष्ट मोड़ आया जब आज से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व सुरेश जोशी अपनी पश्चिमी साहित्य से प्रभावित और विशेष रूप से उस समय नयी प्रतीत होने वाली साहित्य मीमांसा द्वारा गढ़ी हुई विभावना लेकर उपन्यास के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए।

और गुजरात के तत्कालीन साहित्यरसिकों पर जैसा प्रभाव उनका हुआ वैसा प्रभाव प्रो. बलवंतराय ठाकोर के अतिरिक्त शायद ही किसी गुजराती साहित्यकार का अपने समकालीन तरंगों पर हुआ होगा।

नंदशंकर, गोवर्धनराम और मुंशी कोई विभावना लेकर नहीं आये थे, खुद

उपन्यास लेकर आये थे। सुरेश जोशी भी बाद में 'छिन्नपत्र' लाये अवश्य, पर 'छिन्नपत्र' का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और उनकी उस विभावना के ही प्रभाव तले या कि थोड़े बहुत प्रत्यक्ष या परोक्ष उनके प्रभाव में लिखने वाले उपन्यासकारों में चंद्रकांत बक्षी, मधुराय, रघुवीर चौधरी, श्रीकांत शाह, दिगीश मेहता, राधेश्याम शर्मा और किशोर जादव मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक लेखक शक्तिशाली है और प्रत्येक की अपनी विशिष्टता भी है। इन सबको यथोचित्त सम्मान और ख्याति भी मिली है। किंतु जनसामान्य के हृदय तक पहुंचने की सामर्थ्य इनमें से किसी में भी नहीं है।

[तीन]

असहयोग युग में गुजरात के जीवन में जो परिवर्तन आये और गुजरात शौर्यमय जीवन जीने लगा, उसे देखने के प्रयास के रूप में रमणलाल का 'दिव्यचक्षु' एक पहचान है। किंतु कथा जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है, अरुण और रंजन की प्रणय-कथा प्रधान होती जाती है और गुजरात में स्फुरित हो रही नयी चेतता का चित्रण गौण बनता जाता है। अस्तु, 'दिव्यचक्षु' को गुजरात के राजनीतिक और सांस्कृतिक नवोत्थान की कथा के निमित्त लिखी गयी प्रणयकथा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

रमणलाल देशनेताओं, देशसेवकों, व्यापारियों, सरकारी अफसरों आदि को लेकर किसी भी प्रकार के भ्रम में नहीं हैं। किंतु उन्होंने विशेष भार मानवमन के संवेदन पर ही दिया है और उपन्यास का आलेखन भावनाशीलता की भूमिका पर ही किया है। वे इतने कोमल हृदय हैं कि अंतत: किशन को मार नहीं डालते, किंतु कुशल भी ऐसे हैं कि किशन की गंभीर बीमारी का उपयोग अस्पृश्यता निवारण के कार्य के रूप में कर लेते हैं।

'कौमुदी' मासिक के लिए टुकड़ों टुकड़ों में लिखा जाने के कारण, साथ ही लेखक की अपनी सीमाओं आदि के कारण 'दिव्यचक्षु' में कई स्थलों पर कचास रह गयी है।

एक तो यह कि इस उपन्यास का क्रियाकलाप शिथिल है। फिर उनको जहां तहां रमणलाल की चिंतन कणिकाएं और टीका-टिप्पणियां गतिभंजक (स्पीड

ब्रेकर्स) का ही काम करती हैं। इन गतिभंजकों में से कुछ कटाक्ष और विनोद वास्तव में आस्वाद्य हैं तो कई सामान्य और लक्ष्यहीन हैं। कई गतिभंजकों (कंजूस अच्छा या उड़ाऊ वाली चर्चा) में वे चर्चा आरंभ तो करते हैं किंतु अपना निश्चित अभिप्राय दर्शाये बिना ही रूक जाते हैं तो कई जगह वह समकालीन लोकमान्यता और रुढ़ाधारों का समर्थन मात्र करते हैं । अपने अंग्रेज पात्रों के दृष्टांतों द्वारा रमणलाल यह बताते तो अवश्य हैं कि प्रत्येक अंग्रेज बच्चा खराब नहीं होता, किंतु अंग्रेजों का रहन-सहन विषयक उनकी मान्यता असहयोग युग के सामान्य लोक समुदाय की मान्यता से विशेष अलग भी नहीं है ।

रमणलाल की भाषा शैली वर्णनों की अपेक्षा संवादों में विशेष रूप से खिलती हैं । हां, उनका पदविन्यास अवश्य ही कहीं कहीं शिथिल रह जाता है। वैसे मेरे पास तेरहवीं आवृति की प्रति में जो असंख्य और अर्थ का अनर्थ करने वाली मुद्रण की भूलें हैं, अब उनका दायित्व अवश्य ही रमणलाल पर नहीं है। फिर भी उनकी भाषा में कहीं कहीं 'विरुद्धता' जैसे व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध माने जाने वाले शब्द प्रयोग हुए हैं, तो कहीं कहीं 'वाजित्र' (ऑर्गन का सीधा भाषांतर—मुखयंत्र हो सकता था) जैसे भाषांतरित प्रयोग भी हुए हैं। वाक्य रचना में भी कहीं कहीं अंग्रेजी गंध रह गयी है। इस सबके उपरांत भी विशेष रूप से रंजन के अरुण और पुष्पा के साथ के कई संवाद रमणलाल की संवादकला के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। इन संवादों द्वारा पात्रों के व्यक्तित्व विकसित होते जाते हैं और पाठक 'भांति-भांति के लोग' की रसमधुर सृष्टि का प्राणी बन जाता है।

रंजन द्वारा अरुण को जगाने (ध्वजारोहण जुलूस में घायल होने के बाद) या अरुण के आत्महत्या के प्रयत्न को व्यर्थ करके उसमें समा जाने जैसे प्रसंगों में भावोन्मत्त नये खून के प्रणय चित्रण की जो कला दृष्टिगोचर होती है, वह गुजराती साहित्य में जहां तहां देखने को नहीं मिलती ।

—मनसुखलाल झवेरी

1. प्रतिज्ञा

स्वराज्यलाभप्रति पूरीतात्मने

—श्रीमद्भागवत

एक छोटे से खुले मैदान में छोटा-सा झंडा फहरा रहा था। झंडे के इर्द-गिर्द लगभग बीस युवक वृत्ताकार खड़े थे। उनके चेहरों पर अपूर्व गांभीर्य छाया था। सूर्योदय होने को ही था। कोमल मुखाकृति वाले उन युवकों के बीच एक तेजस्वी वयस्क अलग ही दिख रहे थे जिनके चेहरे पर चिंतन का ओज उन्हें माला के मनकों से उन युवकों के बीच मेरु का आसन दे रहा था।

एक युवक ने मधुर किंतु ओजमय स्वर में गाना आरंभ किया। गीत का प्रत्येक चरण शेष समूह द्वारा दोहराया जा रहा था :

'वीरो ! युद्ध छिड़ गया है। उठो जागो।
इस शांतिमय पावन संग्राम की बेला में
केसरिया बाना धारण करके
हे वीरो ! उठो… …जागो।
न तो हमें अस्त्र-शस्त्र टकराने हैं
न ही शत्रुओं को मृत्युभय से डराना है
शत्रुविहीन युद्ध में प्राण होम करने
वीरो ! उठो… …जागो !
संसार में वैर का विष काफी फैल गया है
तलवारों ने नाच-नाच कर अगणित शीश
धरती पर बिछा दिये हैं।
वीरो ! उठो… …जागो।

प्रेम के अवरूद्ध नद की धारा को फिर से प्रवाहित करो
सूखी मरुभूमि को सागर की तरह जलमय कर दो ।
बढ़कर अपनी बलि दो और गुजरात की मां गूजरी का नाम गुंजा दो ।
वीरो ! उठो ··· ···जगो !

सामूहिक संगीत के स्वरों ने सबके हृदय में उत्साह का ज्वार भर दिया, पूर्व दिशा से ऊपर उठते सूर्य ने ध्वजा पर अपनी पहली किरण फेंकी। और फिर मानो सूर्य और ध्वजा का तेज एकाकार हो गया ।

उसके बाद मेरु स्थान से तेजस्वी जनार्दन ने झंडे के सामने पहुंचकर आदर-पूर्वक सिर झुकाया और गंभीर स्वर में प्रतिज्ञा की :

'मैं इस ध्वजा के समक्ष प्रतिज्ञा करता हूं कि सत्य की इस लड़ाई में सदैव अहिंसा का पालन करूंगा । और फिर—उसी, प्रकार पीछे कदम रखते हुए उन्होंने अपना पूर्व-स्थान ग्रहण कर लिया। युवकों ने भी एक एक करके उसी प्रकार झंडे के सामने जाकर प्रतिज्ञा की । अंतिम युवक आगे कदम बढ़ाते हुए कुछ हिच-किचाया । उसके चेहरे पर अनिच्छा और अश्रद्धा स्पष्ट तैर रही थीं। वह वृत्त में अंतिम था और इसी कारण उसका स्थान जर्नादन के निकट ही बायीं ओर था। उसे आगे बढ़ने में हिचकिचाते हुए सभी ने देखा ।

"अरुण ! रुक क्यों गये ?" जर्नादन ने शांति से पूछा ।

"मुझसे प्रतिज्ञा निभ सकेगी ?"

"मेरी धारणा थी कि तुम प्रतिज्ञा करोगे और निभाओगे। किंतु वैसा न कर सको तो प्रतीज्ञा न करना ही उचित है । इसके लिए मेरा कोई आग्रह भी नहीं।" जर्नादन ने उत्तर दिया । असंतोष का हल्का सा कंपन उनके स्वर में था ।

दो तीन युवकों ने एक दूसरे की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि फेंकी। अरुण क्षण भर के लिए जैसे विचारों की उहापोह में उलझा। फिर वह दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ गया। सभी आश्चर्यपूर्वक उसे देखते रहे । झंडे के पास पहुंचकर अरुण ने गंभीर स्वर में कहा :

"इस झंडे के सामने मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि एक वर्ष तक अहिंसा का पूरा-पूरा पालन करूंगा ।"

जर्नादन के गंभीर मुख पर सहज मुस्कुराहट फैल गयी। बोले, "मुझे बहुत

अच्छा लगा है। अहिंसा का यह एक वर्ष अन्य वर्षों को भी खींच लायेगा।"

अरुण वापस अपनी जगह आ चुका था। युवकों के बीच हो रही सहज दृष्टि वार्ता रुक गयी। जनार्दन कुछ बोलने को ही थे कि सामने के मकान की ओर से एक युवती तेजी से आती दिखाई दी। सभी उस ओर देखने लगे।

"क्यों रंजन ! क्या बात है ?" युवती के पास पहुंचने पर जनार्दन ने पूछा।

झंडे के अहिंसाव्रत की प्रतिज्ञा पुरुषों के लिए ही आवश्यक मानी गयी थी। महिलाएं तो होती ही अहिंसक है, इसी मान्यता के आधार पर जनार्दन ने रंजन को उस शपथ समारोह से मुक्त कर रखा था।

जनार्दन काफी विचित्र व्यक्ति थे। उनके व्यक्तित्व तथा व्यवहार में कई विचित्रताएं देखने में काफी आती थीं। उन्हें किसी अवसर पर अंग्रेजी वेशभूषा में देखा जा सकता था तो किसी अवसर पर एकदम ग्रामीण वेश में भी। कई बार वे अकल्पित स्थलों पर भी दिखायी दे जाते थे। कभी वे शिवजी के मंदिर से बाहर निकलते दिखायी देते थे तो कभी किसी मस्जिद में प्रवेश करते हुए भी।

उनके विषय में अजीब-अजीब अटकलें लगायी जाती थीं। किसी की धारणा थी कि जनार्दन किसी की हत्या करके फरार हुए अपराधी हैं, तो किसी की मान्यता थी कि वे बम बनाने वाले दल के नेता हैं तो कुछ तथाकथित बुद्धिजीवी यह भी कहते थे कि वे भारत में अराजकता फैलाने वाले बाल्शेविक संघ के वेतनभोगी प्रचारक हैं।

लगभग चार वर्ष पूर्व वे जब छोटी-सी कुटिया बनाकर शहर से बाहर रहने लगे थे तो कोई भी उन्हें जानता नहीं था। किंतु इन चार वर्षों में इस शहर का हर बूढ़ा बच्चा उन्हें पहचान गया था। इतना ही नहीं, आसपास के गांव वाले भी उन्हें जानने लगे थे।

झाडू तथा फावड़ा लिए सुबह-सुबह शहर की एक संपन्न बस्ती में सफाई करते हुए जनार्दन कोई चारेक वर्ष पूर्व वहां की एक महिला को दिखाई दिये थे।

"अरे, वहां सफाई करता है और यहां यह कचरा क्यों छोड़े जा रहा है ? और देख, यहां से यह कीचड़ भी साफ कर देना।" ब्राह्म मुहूर्त में जागी उस महिला ने जनार्दन को आज्ञा दी थी।

"हां बहन, इस जगह की भी बारी आ जायेगी।" जनार्दन ने उत्तर दिया था।

उस महिला को कुछ आश्चर्य हुआ था। नगरपालिका के वेतनभोगी सफाईदार की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध उच्चारण ने उसे कुछ चौंकाया था। तभी सूर्योदय के बढ़ते प्रकाश में उसे लगा कि कोई स्वच्छ शिष्ट पुरुष मेहतर का काम कर रहा है।

महिला ने मन ही मन कहा : "लो, अब तो भंगी भी बढ़िया पहनने और शुद्ध बोलने लगे हैं।" समझ में नहीं आता कि छोटी जात वालों के अच्छा बोलने और अच्छा पहनने पर किसी को बुरा क्यों लगना चाहिए। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि तथाकथित ऊंची जाति वाले इन छोटी कहीं जाने वाली जातियों के आचार व्यवहार में होने वाले सुधारों को आसानी से सहन नहीं कर पाते।

सफाई का काम बीच में ही छोड़कर जनार्दन को अपनी ओर आते देख उस महिला ने उन्हें फटकारने की दृष्टि से मन-ही-मन एक वाक्यावली रच डाली। छोटे लोगों से बात करने के लिए एक विशिष्ट प्रकार की तीखी भाषा ही काम में लायी जाती है किंतु उन्हें एकदम ही पास आया देख वह महिला अपना सोचा हुआ वाक्य बोल नहीं पायी और बोलने के लिए कुछ सोचती खड़ी उस महिला से जनार्दन ने कहा :

"बहन, गली साफ करवाने में मेरी मदद नहीं करोगी ?" महिला कुछ भी उत्तर दिये बिना घर में चली गयी और जनार्दन फिर से अपने काम में लग गये।

दोपहर के समय गली की कुछ स्त्रियों में उस दिन सवेरे वाले प्रसंग को लेकर ही बातें होती रही।

अगली सुबह अधिक लोगों ने जनार्दन को काम करते देखा। एक स्त्री से जनार्दन ने कहा :

"बहन, यह पानी उधर की बजाय इधर जरा जोर से डालतीं तो यह जमा हुआ कीचड़ बह जाता।"

एक अन्य स्त्री झाड़ू पर कचरा उठाये फेंकने जा रही थी कि जनार्दन ने कहा, "यह कचरा यहां चौक पर मत फेंकिये। लाइये, मैं दूर डाल आता हूं।"

एक सज्जन कागज फाड़कर खिड़की में से गली में फेंकने लगे। मकर संक्रांति की पतंगों की तरह कागज की चिंदियां चारों ओर उड़ने लगीं। बड़ी शांति से जनार्दन ने कागज़ का एक-एक टुकड़ा बीना। फिर उन्होंने उन सज्जन को पुकार

कर खिड़की पर बुलाया और जेब से दियासलाई की डिबिया निकालकर एक तीली से कागज के टुकड़े जला डाले। फिर पांव से कागज की राख को मसलते हुए कहा :

"भाई, अगर कागज के टुकड़ों को यों जला डालो तो कचरा कम नहीं होगा क्या ?"

"बड़ा समझदार आया है उठकर ? हमें जैसे अच्छा लगेगा, करेंगे। तुझे क्या पंचायत ?"

यों तो वे सज्जन ही जानें कि गली में चाहे जैसे कागज फेंकने के अपने अधिकार को छोड़ने के लिए वे तैयार थे या नहीं। किंतु अपने काम में संशोधन करने वाले हर किसी को पहली बार तो इसी प्रकार का उत्तर देना प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक वृत्ति है।

सुनकर जनार्दन कुछ बोले नहीं। फिर भी अगले दिन गली में कुछ सफाई दिखाई दी। और एक महीना जाते-न-जाते तो गली का रूप ही बदल चुका था। गली का प्रत्येक आंगन पानी के छिड़काव और अल्पना के सौंदर्य चित्रण से सुशोभित रहने लगा था।

शहर के किसी मोहल्ले में बालक-बालिकाओं को एकत्र करके जनार्दन उन्हें सरल प्रकार के व्यायाम करवाते और व्यायाम के अनुकूल लय के साथ अभियान गीत भी सिखाते। छोटे-छोटे बच्चे खेल के समय अपने साथियों के साथ मिलकर जुलूस की तरह गीत गाते हुए गलियों में घूमते। बच्चों से परेशान मां-बाप बच्चों के इस व्यवस्थित व्यवहार के कारण प्रसन्न रहने लगे।

आसपास के गांवों में भी जनार्दन का आना-जाना था। किसी झोपड़ी के आंगन में या बस्ती के मैदान में ग्रामीण किसानों को एकत्र कर वह जाने कहां-कहां की मजेदार बातें करते रहते। नयी-नयी घटनाएं और प्रगति की बातें वह इस प्रकार बताते कि अनपढ़ से अनपढ़ की भी समझ में आ जाये।

ग्रामीणों के मनोरंजनार्थ वनभोज और मेलों का आयोजन करते, उनके साथ मिलकर गांव की सड़कों, कुओं और तालाबों की मरम्मत करते और सीमा सुरक्षा के लिए गांव के युवकों को तैयार करते।

प्रसिद्धि के साथ-साथ जनार्दन के विरोधी भी बढ़ते गये। कोई कहता, वह

शराब के ठेकों के पास घूमता रहता है और मौका देखते ही अंदर जा बैठता है। यही नहीं, उनके चरित्र पर इससे भी गंभीर लांछन लगाये जाते कि वे वेश्याओं के मोहल्ले में निर्द्वंद्व घूमते देखे गये हैं या कि वे वेश्याओं में जाते हुए पकड़े भी गये हैं।

इन सब आरोपों के कारण लोग उनके अधिक निकट जाने में हिचकिचाते थे। समझदार और गंभीर लोग तो उनसे तिरस्कारपूर्वक दूर ही रहते। कइयों को उनकी विचित्रताएं भयप्रद लगती और कई उन्हें अर्द्ध विक्षिप्त मनमौजी अवधूत मानकर सह भी लेते।

इस सबके उपरांत उनके नेतृत्व में पचीस-तीस युवकों का एक संगठन तैयार हो गया था। तीन-चार युवतियां भी उनके निकट संपर्क में आ गयी थीं। इन युवकों में से कुछ को वे गांवों में भेजते, कुछ से गलियां साफ करवाते, कुछ को मोहल्लों के बच्चों के साथ खेलने भेजते तो किसी से लेखादि लिखवाकर मोहल्लों में बंटवाते या कवितादि की रचना करवाकर गवाते।

उनकी इन प्रवृत्तियों ने धीरे-धीरे सत्ताधारियों का ध्यान भी आकर्षित किया। सत्ता बड़ी ईर्ष्यालु शक्ति है। वह गर्विता शीशे में दिखाई देता प्रतिबिंब भी सहन नहीं कर पाती। गली साफ करने का अधिकार नगरपालिका को है। कोई और उस काम को करने लगे तो नगरपालिका उसे क्यों सहने लगी? शिक्षा देने का अधिकार मात्र शिक्षाशास्त्रियों के अधिकृत शिक्षा विभाग को है। एक व्यक्ति लेख लिख या लिखवाकर, गांव वालों को एकत्र कर उनकी ही तरह बातें करके ज्ञान फैलाने का दायित्व स्वयं उठाने लग जाय तो शिक्षा विभाग के अधिकारियों के लिए यह अवांछनीय है। जान-माल की रक्षा का दायित्व पुलिस का है। अब गांव वाले यदि स्वयं अपनी रक्षा करने लग जायें तो पुलिस विभाग के अधिकारों को धक्का नहीं लगेगा? व्यक्ति की क्या मजाल कि इन स्थापित सत्ता क्षेत्रों में प्रवेश कर जाय? व्यक्ति को तो मात्र एक ऐसा साधन बनना है कि सत्ता की शक्ति का अमल हो। सत्ताधिकारियों को लगा, इस प्रकार सत्ता के कार्यों में हस्तक्षेप करने वाला जनार्दन एक विद्रोही है।

अब सत्ताधीशों ने जनार्दन और उनके कामों पर कड़ी नजर रखना शुरू कर दिया। वह कहां जाते हैं, क्या बोलते हैं, सभी कुछ पर नजर रखी जाने लगी।

इतनी चौकसी के बाद स्वाभाविक ही था कि जनार्दन के कामों के कारण का अनुमान लगाया जा सके। आरंभ में अनुमान लगाया गया कि कोई अर्द्ध विक्षिप्त अपने पागल सपनों को साकार करने की कोशिश कर रहा है। आगे जाकर सोचा गया कि कोई स्वार्थी व्यक्ति लोगों को फुसलाकर रुपया जमा कर रहा है। किंतु सत्ता कभी भी इन छोटे-छोटे अनुमानों से संतुष्ट होकर चुप नहीं बैठ जाती। उसके लिए आवश्यक है कि वह अंतिम सीमा तक अनुमानों की संभावना पर सोचे।

और इसी प्रकार विचार करते हुए सत्ता को लगा कि जनार्दन एक भयंकर क्रांतिकारी और बागी व्यक्ति है। मनुष्य का ज्ञान दो प्रकार से बढ़ता रहा है। अनुभवों की परंपरा से एक ज्ञान, एक मान्यता सिद्ध होती है। यदि कोई ज्ञान या मान्यता मन में जाग उठे तो कई संबद्ध प्रसंगों द्वारा उसकी पुष्टि होती जाती है। जनार्दन को क्रांतिकारी मान लेने पर उसी के अनुरूप प्रसंग जुटते गये। और सत्ताधीशों का विश्वास बढ़ता गया कि जनार्दन बागी, विद्रोही, विप्लववादी है और वह अपने सिद्धांतों को व्यवहार में लाने के लिए ही ये सारी प्रवृत्तियां फैला रहा है।

तभी जनार्दन के संगठन द्वारा एक पत्र प्रकाशित किया जाने लगा। उसमें प्रकाशित लेख धधकते अंगारों की तरह होते थे। पत्र राज्य और प्रजा दोनों के ही दोषों पर तीव्र प्रहार करता था। अपने ही पक्ष द्वारा अपनी आलोचना होने पर प्रजा सहजता से सह लेती है, अपनी अधिसंख्या के कारण प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचते-पहुंचते वह आलोचना हल्की पड़ जाती है, और फिर प्रजा उस आलोचना को भूल जाती है। किंतु शासन मूर्ति राज्य अपनी आलोचना को शायद ही झेल पाता है। अतिरिक्त अहम् का ही परिणाम है यह। जो स्वयं को सर्व-शक्तिमान मानते हैं, उनका सर्वज्ञ होने का दावा भी स्वाभाविक ही है। अस्तु, प्रजापक्ष का पत्र सत्ता के लिए कुछ कहे और शासनाधिकारियों को वह शूल की तरह गड़ता गड़ता महसूस हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह व्यक्ति-दोष नहीं है। सामुदायिक मानस का लक्षण इसे भले ही कह लिया जाय।

जब तक सत्ताधिकारियों के साथ संघर्ष की नौबत आ ही जाती थी। पुलिस अधिकारियों को सूचना मिली कि जनार्दन का संगठन आज कुछ विशेष कार्य

करने वाला है। व्रतधारी व्रत लेने से पूर्व और बाद में अनजाने ही अपने कार्य को अधिक महत्व दे बैठते हैं। व्रत चाहे खादी पहनने का हो या चर्खा कातने का, अपने अनजाने ही उनके चेहरों पर ऐसे भाव आ जाते हैं जैसे वे हिमालय आरोहण जैसा दुष्कर कार्य करने जा रहे हों। सत्ताधारी इसी माप से उनकी गंभीरता को मापते हैं और खादी पहनने या चर्खा कातने वाले के प्रति वे कुछ इस प्रकार शंकालु हो उठते हैं मानो वह कोई बम बनाने वाला है।

एक पुलिस अधिकारी ने मकान में प्रवेश किया और बरामदे में बैठी कुछ लिखती रंजन से पूछा :

"जनार्दन अंदर हैं ?"

"क्या काम है ?" रंजन ने पूछा।

"मैं पुलिस का आदमी हूं और मुझे जनार्दन से मिलना है।"

"आप यहां बैठिये। मैं उन्हें बुला लाती हूं।" कहकर रंजन तेजी से मकान के पिछवाड़े से युवकों की टोली के पास जा पहुंची। सभी सोचने लगे थे, "रंजन क्यों दौड़ी आ रही है ?"

जनार्दन ने पूछा, "क्यों रंजन ! क्या बात है ?"

"एक पुलिस अधिकारी आपसे मिलने आया है।" रंजन का स्वर बारीक किंतु मधुर था। युवकों में से कइयों की आंखों में क्रोध धधकने लगा। पुलिस विभाग यों ही किसी को प्रिय नहीं। फिर, जब से उसने राजनीतिक अपराधों की जांच करनी आरंभ की, वह और भी अप्रिय हो उठा था !

"बस, इतनी सी बात है ? चल आ रहा हूं हम लोग आज से ही तो अहिंसक बने हैं, बनैले पशुओं की कोटि से निकलकर मनुष्य बने हैं। रागद्वेष हम में होना ही नहीं चाहिए। अरुण तुम मेरे साथ चलो।"

जनार्दन ने सारी बात बड़ी शांति से कही थी। अरुण की आंखें जलने लगी थीं। उसके मुख की लालिमा कोई भी देख सकता था। हिंसा का महान उपासक अरुण आज कुछ समय के लिए अहिंसक बना था किंतु अब तक की हिंसक वृत्ति की छाप उसके चेहरे पर आये बिना न रही।

जनार्दन रंजन आगे बढ़ चले !

'जहां देखो, वहां अरुण।' अस्फुट शब्द अरुण के कानों तक पहुंचे। अरुण ने

धीमे-धीमे पीछे आ रहे व्यक्तियों की ओर कतराती दृष्टि से देखा। दो एक लोग हंसे।

'स्वराज तो यही लेगा न?' कोई इतनी धीमी आवाज में बोला कि मात्र अरुण सुन सके। निंदा और आलोचना के बाण ब्रह्मास्त्र की तरह अचूक होते हैं। जिसे लक्ष्य कर उन्हें छोड़ा जाता है, उसी को लगते हैं।

"हां-हां, मैं ही स्वराज्य लूंगा।" अरुण पीछे घूमकर गरजा। जनार्दन ने शांति से अरुण के कंधे पर हाथ रखा। कहा,

"अपने पुलिस-मित्र प्रतीक्षा कर रहे हैं। स्वराज्य लेने पर तू मात्र अरुण नहीं रह जायेगा। तब तू भारतवर्ष के तैंतीस करोड़ जन में बंट जायेगा।"

2. मतभेद

नहीं यहां वैर का बदला लेना
यहां ईष्ट है नेह का दर्द सहना
—कलापी

पुलिस अधिकारी ने प्रतीक्षा के क्षणों में चारों ओर दृष्टि घुमायी बरामदे में एक गोल मेज के आस-पास कुछ कुर्सियां पड़ी थीं। मेज पर कागज व पुस्तकों के अलावा कुछ नहीं था। बैठे-बैठे ही जितना संभव था, उसने देखा, किंतु किसी भी कागज या पुस्तक को नहीं छुआ। घूमते रहने के आदी पुलिस कर्मचारी से अधिक देर एक जगह बैठा नहीं गया। उसने खड़े होकर इधर उधर चहल कदमी शुरु की। पास वाली खुली खिड़की से अंदर झांका। अंदर के बड़े कमरे में मात्र कंबल और दरी बिछी थी। दीवारों पर कुछ तस्वीरें टंगी थीं।

महासभा के विशिष्ट नेताओं, धर्म और समाज के सुधारकों अन्य लोकनायकों तथा व्यापारी सज्जनों के चित्रों के साथ-साथ रिपन, मिंटो और हार्डिंग्ज जैसे वायसराय और मोर्ले व मोंटेग्यु जैसे सहृदय भारत मंत्रियों के मित्र उनमें थे। भारत के ही नहीं, विश्व के महापुरुषों और क्रांतिकारियों के चित्र भी वहां दिखाई दे रहे थे।

किंतु पुलिस अधिकारी ने अंदर प्रवेश नहीं किया। सभी पुलिस कर्मचारी राक्षस नहीं होते। अपराधी यदि सरलता से अपना अपराध स्वीकार लें तो पुलिस के तथाकथित अत्याचारों के लिए अवकाश ही कहां रह जाता है? सभी यदि अपराध करना छोड़ दें तो पुलिस की भी आवश्यकता न रहे। खैर, यह तो जब होगा, तब सही। और इससे पुलिस के राक्षसत्व को उचित नहीं माना जा सकता।

और उसे उचित मनवाने की सभी पुलिस कर्मचारियों की वृत्ति भी नहीं होती !

अंदर से जनार्दन, रंजन और अरुण बाहर आये। कमरे में ही दृष्टि दौड़ा रहे पुलिस अधिकारी को देखकर जनार्दन ने कहा :

"अरे नृसिंहलाल ! आप हैं ? आइये आइये। कहिये कैसे तकलीफ की ?"

नृसिंहलाल कुर्सी पर बैठ गये। सामने ही जनार्दन और रंजन भी बैठ गये अरुण उनके पीछे खड़ा रहा।

"आप से कुछ विशेष काम है। यदि हम दो ही हों ... तो ..." नृसिंहलाल ने कहा।

नृसिंहलाल की आयु जनार्दन के बराबर ही थी। उनकी वर्दी के कारण उनका जो रुआब हो सकता था, उससे अधिक प्रदर्शित करने का उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया। मरखनी वर्दी के बावजूद उनके चेहरे पर भलमनसाहत की छाप स्पष्ट थी और पुलिस के कठोरता भरे धंधे में इतने वर्ष सम्मानपूर्वक बिताने के बाद भी उनमें संस्कारहीन पशुता का नितांत अभाव था।

"किसलिए ? मेरे पास तो किसी से छिपाने लायक कुछ भी नहीं है। आपको आपत्ति न हो तो इन दोनों को यहीं रहने दीजिये।"

नृसिंहलाल ने कुछ सोचा। फिर बोले :

"ठीक है। बातें फिर होंगी। अभी तो आपके इस मकान की तलाशी लेनी है।"

"तलाशी का आज्ञापत्र कहां है ?" अरुण ने कड़कर पूछा।

"हमें आज्ञा-पत्र की आवश्यकता भी क्या है ? नृसिंहलाल मेरे मित्र हैं। इन्हें छिपाने लायक यहां कुछ भी तो नहीं है।" जनार्दन ने कहा।

"पर इस समय तो ये मित्र के रूप में नहीं आये हैं।"

नृसिंहलाल ने ध्यान से अरुण की ओर देखा। उनकी दृष्टि में बुजुर्गियत की उदारता व गरिमा थी जो बच्चों के अकारण रोष को सहज ही में झेल लेती है। वे बोले :

"मेरे पास आज्ञा-पत्र है। उसके बिना मैं यहां कैसे आता ?"

नृसिंहलाल ने आज्ञा-पत्र निकालकर अरुण को पकड़ा दिया। पढ़कर उसका अंग अंग क्रोध से कांपने लगा। क्रोधावेश में उसके मुंह से एक शब्द तक नहीं निकल पाया। उसने आज्ञा-पत्र को मेज पर जोर से पटक दिया। नृसिंहलाल ने उसे उठा लिया। यह सब जनार्दन से छिपा नहीं था। उन्होंने प्यार से कहा :

"अरुण, आज की प्रतिज्ञा को भुलाओगे नहीं, हाँ क्रोध भी हिंसा का ही एक विशिष्ट अंग है।"

अरुण ने कोई उत्तर नहीं दिया किंतु उसके चेहरे से स्पष्ट लग रहा था जैसे वह अहिंसा और अक्रोध को जहन्नुम में जाने का श्राप दे रहा हो।

"आप मेरे मकान की तलाशी ले सकते हैं।" जनार्दन ने कहा।

"अच्छी बात है। आप मेरे साथ रहेंगे।" कहते हुए नृसिंहलाल ने मेज पर पड़े कागजों, किताबों को देखना शुरू कर दिया। हाथ में नामों की एक सूची आने पर उन्होंने पूछा :

"यह क्या है ? किसके नाम हैं ये ?"

"लिखा तो है इसी में। मेरे संगठन के सदस्यों के नाम हैं।"

नृसिंहलाल ने नाम पढ़े। एक नाम पर वे चौंके :

"कंदर्प ? यह है ?"

"आपके सुपुत्र।" जनार्दन ने उत्तर दिया।

नाम पढ़ने के बाद उन्होंने पुस्तकों को देखा। कुछ पुस्तकों ने उनका ध्यान खींचा 'क्रांति का दर्शन', 'विश्व के क्रांतिकारी,' 'कार्ल मार्क्स का साम्यवाद'। नृसिंहलाल ने तीनों पुस्तकें और सूची अलग रख दीं। अब वे दोनों अंदर गये। अरुण और रंजन वहीं रह गये। अंदर टंगी तस्वीरें देखकर नृसिंहलाल कुछ हंसे बोले :

"चित्रों का यह संकर-मेला क्यों लगा रखा है ?"

"आप जरा ध्यान से देखिये। फिर यह संकर-मेला नहीं लगेगा आपको। मैंने भारतवर्ष के वर्तमान इतिहास को चित्रबद्ध करने का प्रयास किया है।"

"सो कैसे ?"

"देखिये, इधर राजा राममोहनराय से लेकर सभी वर्तमान धर्म सुधारक क्रमबद्ध हैं। ये हैं व्योमेश बनर्जी, लालमोहन और दादाभाई, जिनसे महासभा की राजनीतिक प्रवृत्तियों का श्रीगणेश हुआ। लोकमान्य तिलक से आगे दो रास्ते बन गये थे। काजी शहबुद्दीन, सयाणी और तैयब जी के रूप में आप मुसलमानों का प्रवेश देख पा रहे हैं।"

"पर ये अंग्रेजों के चित्र ?" नृसिंहलाल ने पूछा।

"अंग्रेजों के उपकार मैं तो कभी भूल नहीं पाऊंगा। भारतवर्ष भी नहीं भूलेगा।

वेडरबर्न और काटन को अलग कर दें तो भी अंग्रेज अधिकारियों में रिपन और हार्डिंग्ज जैसे भारतवासियों के शुभेच्छु थे। उनका प्रभाव यों ही नहीं था।"

"पर तुमने तो खुदीराम का चित्र भी लगा रखा है।"

"उनके द्वारा किये गये रक्तपात का प्रतिकार अहिंसा से नहीं हो पायेगा। पर इससे भी कैसे इनकार किया जा सकता है कि उनमें देश के उद्धार की लगन नहीं थी।"

"और गांधीजी का चित्र यों अलग-थलग रखने का मतलब?" पुलिस अधिकारी तक बातचीत के समय गांधीजी या महात्मा गांधी कहते नहीं हिचकिचाते। उनके प्रति प्रजा और शासन की श्रद्धा समान थी।

"गांधीजी ही तो भारत की वर्तमान प्रवृत्तियों के अग्रणी हैं। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक उत्थान के कर्णधार, ऊंचाई की प्रतिद्वंद्विता करते करते गांधीजी एकाकार हो गये हैं।" जनार्दन ने उत्तर दिया।

नृसिंहलाल उनकी बातें समझ भी पा रहे हैं या नहीं, यह देखने के लिए जनार्दन ने उनकी ओर देखा। किंतु वे वहां कोई उत्तर नहीं खोज पाये। दोनों व्यक्ति वहां से निकलकर चौगान में पहुंचे। वहां फहराते झंडे को देखकर नृसिंहलाल ने पूछा :

"वह झंडा कैसा ?"

"यह हमारा झंडा है।"

"तुम पर जरूर राजद्रोह का आरोप लगेगा।"

"क्यों भला ?"

"यूनियन जैक के अलावा कोई और झंडा कैसे फहराया जा सकता है ?"

"देशी राज्यों में यूनियन जैक कहां होता है ?"

"उन राज्यों को उसके लिए छूट मिली हुई है।"

"अरे, अपने देश में तो हर मंदिर की अपनी ध्वजा होती है। जहां भी पवित्रता दिखाई दे, झंडा फहराया जा सकता है।" फिर कुछ हंसकर जनार्दन आगे बोले :

"और यही क्या, तुम्हारे शराब के ठेकों तक पर तो ध्वजा फहराती रहती हैं। फिर यूनियन जैक के लिए इतना दुराग्रह क्यों ?"

"यह सब नहीं चल सकता।" कहते हुए नृसिंहलाल झंडे की ओर बढ़े। जनार्दन

भी साथ ही थे।

उन्होंने पास पहुंचकर, घूर-घूरकर झंडे को देखा। शुभ्र-श्वेत ध्वजा मानो सूर्य के प्रकाश में चमकती हुई उड़ रही थी। वायु उस निर्जीव पदार्थ में प्राण फूंक रही थी या कि कोई जीवंत भावना उसमें मूर्तिमंत हो रही थी।

"नया ही लगाया है शायद यह झंडा ?" नृसिंहलाल ने पूछा।

"हां मुझे पता है," पुलिस यहां की कार्यवाहियों में काफी रुचि रखती है।"

"आज ही इसे लगाने के कारण।"

"हमारे इस संगठन में कोई खून का लाल रंग पसंद करता था तो कोई क्रोध के काले रंग को सम्मान देता था। आज सबने एकमत होकर निश्चय किया है कि हम सभी को अहिंसा के शुद्ध सात्विक श्वेत रंग को पूजना है। इसीलिए ध्वजा के समक्ष हमने अहिंसा व्रत की प्रतिज्ञा ली है।" जनार्दन ने झंडे का रहस्य समझाया।

"सब आज इतनी-सी बात के लिए इकट्ठा हुए थे ?"

"हां, इसलिए।"

नृसिंहलाल ने अविश्वास पूर्वक जनार्दन की ओर देखा। संगठन के युवक टोलियों में बंटे इधर-उधर घूमते मकान में आते दिखाई दिये।

"यह झंडा मुझे ले जाना पड़ेगा।" कुछ सोचने के बाद नृसिंहलाल बोले।

"कहां ?"

"प्रमाण-स्वरूप पुलिस के अधिकार में।"

"आपका यह प्रमाण यहीं रहेगा।"

"यहां नहीं रह पायेगा। इसे पुलिस कोतवाली में ले ही जाना होगा।"

"यह झंडा यहां से नहीं हटेगा। हां, कोतवाली पर इसे चढ़ाना हो वह अलग बात है।"

"हुंह।" कोतवाली पर उस झंडे को चढ़ाये जाने की बात पर नृसिंहलाल हंसे। उन्होंने चारों ओर देखा। फिर जेब से सीटी निकालकर उसे हाथ में उछालने लगे।

"क्यों पुलिस बुलानी है ?" जनार्दन उस सीटी को अच्छी तरह पहचानते थे।

"आपको उसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। आप यहां से सभी चीजें ले जा सकते हैं। झंडे के अलावा। इस झंडे के कारण हम अपराधी माने जायें तो हम स्वयं

आकर अपराध स्वीकार कर लेंगे।"

"पर यदि हम झंडा उखाड़ ले जायें तो आप क्या कर लेंगे ?"

"हम क्या करेंगे ? शक्ति रहते हम झंडा नहीं ले जाने देंगे ?"

"अवश्य।"

"आप अहिंसा से इसकी रक्षा कैसे करेंगे ? मेरी समझ में यह नहीं आ रहा। यह निश्चित है कि आप बल प्रयोग करेंगे।"

"वह सब आप नहीं समझ पायेंगे। आप एक बार झंडा उखाड़कर देखें, तब समझ जायेंगे कि अहिंसा इसकी रक्षा कैसे करती है।"

"भले आदमी। यह क्या तमाशा लगा रखा है तुम व्यर्थ ही भले आदमियों के बच्चों को बर्गला कर घरों में क्लेश करवाते हो और हमारी भी शांति भंग करते हो।" नृसिंहलाल ने जनार्दन को झिड़का।

"मैं किसी को न्योता देने तो जाता नहीं। जिसकी इच्छा हो, मेरा साथ दे।"

"फिर सीधी-सीधी बात करो ना ? आकाश को हाथों में समेटने का लोभ किस काम का ? ठीक है, थोड़ा-थोड़ा बोलो, थोड़ा-थोड़ा मांगों। पर इस स्वराज्य वाली बात का मतलब ?"

"नृसिंहलाल। अंग्रेजों के हाथ इस आकाश को समेट सके तो हमारे और तुम्हारे हाथों में यह कभी नहीं आ सकता ? और स्वराज्य की मांग से डरने का कारण ? दादाभाई जैसे मनीषियों का यह मंत्रोच्चार है और हमारे अंग्रेज शासकों ने स्वयं स्वराज्य के अधिकार को स्वीकरा है। फिर आप इतना क्यों डरते हैं ?"

जनार्दन को इस प्रकार बोलते सुन नृसिंहलाल के मुख पर कुछ बेचैनी दिखाई दी। उनके मन में कुछ इस प्रकार की घबराहट और ऊहापोह मच रही थी मानो वे स्वयं राजद्रोह का पाठ सीखने लगे हैं। उन्हें लगा कि भारतवर्ष का वर्तमान वातावरण और ऐसे निर्भीक व्यक्तियों की बातें शायद उनका मन भी फेर देंगी।

"चलिये, आपका झंडा आज नहीं लेते। बस वे पुस्तकें और सूची ही ले जाऊंगा। आप में से किसी को मेरे साथ चलना होगा।" जल्दी से नृसिंहलाल ने कहा।

"ठीक। इसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? चलिये।" कहकर जनार्दन चल पड़े। नृसिंहलाल भी साथ चले।

बीच के कमरे में सभी युवक बातों में लगे थे। तीन-चार युवक बरामदे में रंजन

के आसपास खड़े थे। रंजन खिलखिलाकर हंस रही थी किंतु जनार्दन को आते देख हंसी धीमी हो गयी।

"क्या बात है रंजन ? इतना क्यों हंस रही है ?" जनार्दन ने पूछा तो यह कहते हुए कि ये अरुण और विमोचन एक कविता को लेकर इतना लड़े, इतना लड़े कि बड़ी मुश्किल से रोका, रंजन फिर हंस पड़ी।

"अरुण। तुम अपने संगठन के मंत्री हो। तुम्हें नृसिंह भाई के साथ जाना है। वहां जो पूछा जाय, उत्तर दे दोगे।" जनार्दन ने अरुण से कहा तो नृसिंहलाल बोले :

"हां, आप मेरी कार में ही चलिये।"

"अच्छा" कहकर अरुण जाने को प्रस्तुत हो गया। जनार्दन ने अरुण को एक बार फिर आज लिये गये प्रण की याद दिलायी।

"जगह हो तो मैं भी चलूं। मुझे सुशीला बहन के घर जाना है।" रंजन ने कहा तो इतने मुक्त भाव से अनजान पुलिस की कार में जाने की इच्छा करने वाली उस उच्छृंखल युवती की धृष्टता को नृसिंहलाल देखते रह गये।

उन्हें चुप देख रंजन ने समझा कि उसे कार में जाने की अनुमति मिल गयी है। पुस्तकें और नामों की सूची लेकर तीनों चल दिये।

जनार्दन की दृष्टि स्थिर हो गयी थी। वे खुली आंखों भी जैसे सामने का कुछ नहीं देख रहे थे। जो कुछ वे देख रहे थे, अपनी अंतर्दृष्टि द्वारा और उस दृश्य के चारों ओर थे काले-काले बादल। स्वराज्य और अहिंसा के तेजस्वी सपने बेचैन युवक और उनके साथ ही सुकुमारी युवतियां। सूर्य के तेज की तो कोई सीमा ही नहीं है। पर यदि कोई घना बादल उस सारे तेज को हर ले तो ?

भयंकर प्रयोग। पर कौन-सा प्रयोग भयंकर नहीं होता ? इतिहास को लें या विज्ञान को। सिर काटकर हथेली पर रखे बिना कोई भी प्रयोग संभव ही नहीं है।

3. पिता का वात्सल्य

हे पिता ! तुमने मुझे कितना प्यार
कितना सुख दिया है।
भला वह आधार
कभी भुलाया जा सकता है ?

—दलपतराम

नृसिंहलाल ने कार में सबसे पहले रंजन को बिठाया। पास ही अरुण को बैठाकर स्वयं वैठ गये। नृसिंहलाल काफी हृष्टपुष्ट थे। रंजन भी दुबली नहीं थी, उस पर उसे फैलकर वैठने की आदत थी। रंजन से कहीं छू न जाय इसी संकोच में डूबे अरुण ने सोचा, काश रेलगाड़ी की तरह कारों में भी महिलाओं के लिए अलग सीटें होतीं। इस युग में जब स्त्री-पुरुष के बीच खाइयां पटती जा रही हैं, अरुण का संकोच कुछ रूढ़ ही माना जा सकता है।

"अरुण जी ! सुना है, मजिस्ट्रेट आपके मित्र हैं।"

रंजन ओर अरुण का परिचय अधिक पुराना नहीं था। छह आठ माह पूर्व एक लंबे सरकारी मुकदमे का निर्णय हुआ था। उसमें पच्चीस युवकों को सजा हुई थी और दस युवक छूट गये थे। सभी पर राजद्रोह के षड्यंत्र में सम्मिलित होने का आरोप था। उसमें से किसी ने भी इस आरोप को अस्वीकार नहीं किया था। अत: कागजात व पुलिस अधिकारियों के बयानों के आधार पर न्यायाधीश को निर्णय देना पड़ा था। अभियुक्तों को न्यायाधीश ने बचाव करने के लिए काफी समझाया। किंतु किसी ने भी हठपूर्वक अपना बचाव नहीं किया। परेशान न्याया-धीश ने न्याय के लिए काफी प्रयत्न किया था और अंत में पुलिस की इच्छा के विरुद्ध दस अभियुक्तों को मुक्त कर दिया, पच्चीस को थोड़ी बहुत सजा दे दी।

उक्त अभियुक्तों में अरुण भी था। अरुण के पिता किसी उच्च सरकारी पद पर थे। अरुण अपने छात्र जीवन में काफी सफल रहा था, अतः उनकी इच्छा थी कि वह कोई सरकारी नौकरी कर ले। अपने प्रभाव से वे अरुण को अच्छी नौकरी दिलवा सकते थे किंतु अरुण ने सरकारी नौकरी के लिए साफ-साफ मना कर दिया।

पढ़-लिख कर भटकते हुए दो-तीन वर्षों में अरुण भयानक राजद्रोह के षड्यंत्र में सम्मिलित हो गया। पिता ने हजारों रुपये खर्च कर दिये। उसके पीछे भटकने और चिंता करने में उन्होंने अपना खून-पसीना एक कर दिया। अभियुक्तों ने वकीलों से सलाह लेने और बचाव के लिए प्रयत्न करने से बिलकुल ही मना कर दिया था। फिर भी अरुण के पिता ने वकीलों से अच्छी तरह सलाह ली। अरुण के विरुद्ध पुलिस कोई प्रमाण नहीं पा सकी और वह छूट गया।

पिता की बड़ी इच्छा थी कि अरुण किसी बड़े काम में लग जाय। सरकारी नौकरी मिलने की अब कोई आशा नहीं रही थी फिर भी काफी दौड़-धूप के बाद सहकारी विभाग की अर्द्ध-सरकारी नौकरी उन्होंने अरुण के लिए निश्चित करवा दी। इस विभाग में कोई नये यूरोपियन उच्चाधिकारी हाल ही में आये थे। अरुण के पिता ने उनके मातहत काम करके अनुकंपा अर्जित की थी। उन्होंने अपने अफसर के सामने अरुण को किसी काम पर लगा देने की अपनी तीव्र इच्छा व्यक्त की। अफसर की भी मान्यता थी कि इस प्रकार के दृढ़ निश्चयी क्रांतिकारी और संवेदनशील युवक सहकारी विभाग में अच्छा काम कर सकते हैं। अतः उन्होंने अरुण को भेंट के लिए बुलाया।

अरुण उन अफसर के पास गया। उन्होंने अरुण के साथ आत्मीयतापूर्वक बात की। उसे खादी के वस्त्र पहने देख वे कृपापूर्वक मुस्कराये।

"आप मेरे विभाग में काम करेंगे ?" अफसर ने पूछा।

"जी, मैं किसी भी विभाग में नौकरी करने को तैयार हूं।" अरुण ने उत्तर दिया।

एक राजद्रोही के रूप में प्रसिद्ध युवक को इस प्रकार सरलता से नौकरी के लिए हां करते देख अफसर ने क्षण भर को ध्यान से अरुण की ओर देखा ? अरुण की आंखों के अंगारों की लालिमा को उसने प्रकट होकर लोप होते देखा।

"आपके पिता आपके इस निर्णय को सुनकर खुश होंगे। आप में देश सेवा की लगन है। मेरे विभाग में आपको लोकहित के कार्य करने का पूरा अवसर मिलेगा।" साहब ने कहा।

"मुझसे जो हो पायेगा, मैं करूंगा।"

"वेतन तो आपको आरंभ में सौ रुपया ही मिलेगा छह माह बाद मैं डेढ़ सौ करवा दूंगा। यह भी आपके पिता के कारण ही संभव है, अन्यथा आपके पिछले कामों को देखते हुए तो आपको इस विभाग में रखा भी नहीं जा सकता था।"

"देखिये साहब, मैं तो निर्दोष सिद्ध हो चुका हूं, फिर वेतन का मुझे कोई मोह नहीं है। मेरी आवश्यकता के हिसाब से तो इससे आधी राशि भी पर्याप्त होगी।"

"नहीं, आपकी योग्यता इससे भी अधिक के लिए है। आपने तो अर्थ-शास्त्र में एम. ए. किया है न?"

"जी।"

"और विद्यापीठ ने आपको पदक भी दिया है?"

"जी हां। और यदि आपको आपत्ति न हो तो मैं आपसे अपने भविष्य के विषय में भी कुछ पूछना चाहूंगा।"

"बहुत अच्छी तरह काम करो तो पंद्रह-बीस वर्षों में आपको चार पांच सौ तक आराम से मिलने लग जायेंगे।"

"ओ हो। और कुछ?" साहब की आंखों में सीधे झांकते हुए अरुण ने पूछा।

"आपको रायबहादुर की उपाधि मिल सकती है··· जैसे भी संयोग हों··· ···।"

"लेकिन साहब, मैं बहुत ही बढ़िया काम कर दिखाऊं तो अंत में मुझे आपकी कुर्सी मिलेगी या नहीं?"

अधिकारी साहब कुछ चौंके। उन्हें लगा कि यह शांत लड़का तो कुछ अधिक ही बोल रहा है। बोले :

"यह तो सनद-प्राप्त शाही पसंद के लोगों के लिए सुरक्षित स्थान है।"

"यानी मैं विभाग का मुख्य अधिकारी तो नहीं ही बन सकता। क्यों?"

"कभी नहीं।" अधिकारी ने स्पष्ट उत्तर दिया।

"तो फिर मुझसे यह नौकरी भी नहीं हो पायेगी। मैं वायसराय न बन पाऊं,

गवर्नर भी न बन पाऊं, यह सब तो माना। पर मैं किसी विभाग का उच्चाधि-कारी भी न बन पाऊं, यह कौन-सा न्याय है ?"

साहब को गुस्सा आ गया। उन्होंने कठोरतापूर्वक अपने मन की बात कह दी :

"आज आपको विभाग का उच्चाधिकारी बना दिया जाय, कल आप गवर्नरी मांगेंगे और परसों वायसराय की कुर्सी पर नजर डालेंगे।"

"इससे आपका क्या जाता है ? हम क्या मात्र कारकूनी मौर सहायकी के लिए ही पैदा हुए हैं ?" अरुण ने उत्तर दिया।

"मेरे कमरे से इसी क्षण बाहर चले जाइये।" अधिकारी ने आज्ञा दी और बात खत्म कर दी।

अरुण धीरे-से हंसा। बोला :

"और यदि मैं आपसे कहूं कि आप मेरा देश छोड़कर इसी क्षण चले जाइये। तो ?"

साहब ने गुस्से से मेज पर मुक्का मारा किंतु तब तक अरुण कमरे के द्वार तक पहुंच चुका था।

अरुण के पिता अंग्रेजों के विशेष प्रशंसक थे। अंग्रेज बड़े नियमित और निष्पक्ष होते हैं—यह उनकी मान्यता थी। वे बात-बात में अंग्रेजों की कार्य कुशलता और व्यवस्था के गीत गाते थकते नहीं थे। अरुण का मत एकदम विपरीत था। अर्थ-शास्त्र के गहन अध्ययन ने उसे बताया था कि अंग्रेज स्वार्थी हैं। इतिहास ने उसे बताया था कि अंग्रेज कोई संतों का समाज नहीं है। भारत पर हुए अनेक आक्र-मणों की तरह यह भी एक आक्रमण था जिसके फलस्वरूप वे आज भारतवर्ष पर अधिकार किये बैठे हैं।

और अपनी इस धारणा पर उसे इतना विश्वास था कि वह अंग्रेजों के सत्कृत्यों में भी उनकी कुटिलता ही देखता था। अन्य आक्रमणकारी तो हिंदुस्तानी बनकर ही हिंदुस्तान पर राज्य करते थे किंतु ये अंग्रेज ? ये तो भारतवासियों को दूसरे सिरे पर रखकर गौर वर्ष की ओर किये बैठे हैं। भारत के हित में किये गये या हो रहे उनके प्रयत्नों में अरुण को मात्र उनका दंभ ही दिखाई देता था। भारतीयों को राजकीय क्षेत्रों में प्रवेशादि देने के अंग्रेजों के कदम को भी वह मात्र इनका

वर्ण-गर्व ही कहता था। उसके मन में धीरे-धीरे इस शासक वर्ग के प्रति जैसे वैर भाव प्रस्फुटित होता गया। उनके मातहत कार्य करने में उसे गुलामी का आभास होने लगा। जब तक उच्च पदों के लिए भारतीयों की योग्यता को स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक उसे नौकरी का विचार तक असंभव लगने लगा था।

तभी बंगभंग के विरोधी क्रांतिकारी संगठन के विचार ने उसका ध्यान आकर्षित किया। और अरुण क्रांति को ही अपना ध्येय मानने लगा। गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग की वह हंसी उड़ाता था। चर्खा कातने में उसकी कोई रुचि नहीं थी। यूरोपीय देशों में जिस क्रांति की विजय होती आ रही थी वही क्रांति उसे भारत के लिए भी उचित लगने लगी थी। भारत में यह क्रांति किस प्रकार फलीभूत हो, इसी उधेड़बुन में जब वह उलझा था तो उसे अपने समान ही दर्शन वाले कई युवक मिल गये और एक गुप्त संगठन का सूत्रपात हो गया। इस संगठन की प्रवृत्तियों के विषय में किसी को कोई जानकारी नहीं थी। उन्होंने बम बनाये थे या रेल की पटरियां उखाड़ी थी, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं मिला था। फिर भी क्रांतिकारी पुस्तकें विदेश से आती हुई डाक में पकड़ी गयी थी और उसी आधार पर पूरे संगठन पर राजद्रोह का आरोप लगा दिया गया था। और बचाव न करने के आग्रह के कारण कुछ पर आरोप प्रमाणित भी हो गया था।

अरुण छूट गया था। उसने अपने लिए पिता द्वारा किये गये नौकरी के प्रयत्न को व्यर्थ कर दिया था। उसके पिता को बेहद क्रोध आया। उन्होंने उसे काफी झिड़का था।

"अरुण। तू कौन-से पचड़े ले बैठा है ? इस सबसे क्या तेरी इज्जत बढ़ रही है ?" पिता ने कहा।

"मैं कहां इज्जत बढ़ाने के लिए कुछ कह रहा हूं ?" अरुण ने उत्तर दिया।

"और क्या ? चार दिवालिये अखबारों ने थोड़ी सी बड़ाई क्या कर दी कि भाई साहब फूल गये। कभी सोचा है कि मैं नहीं रहूंगा तो तेरा क्या होगा ?"

अरुण ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने पिता की इच्छा के विरुद्ध व्यवहार किया था, पर स्वप्न में भी उसने पिता के सामने बोलने की बात नहीं सोची थी। पिता के वात्सल्य का उसे पूरा ध्यान था। पिता के वात्सल्य में कुछ पागलपन भी

था। अरुण की हर छोटी-बड़ी मांग वे स्वीकारते थे और कई बार तो लाड़ में भरकर वे उन मांगों से भी बढ़कर पुत्र को देते रहते थे। पुत्र ने भी अब तक इस प्यार का अपेक्षित प्रतिदान ही दिया था। उसने सदैव पिता को सम्मान दिया था। पढ़ाई में वह हमेशा अग्रणी रहा। पुत्र कोई अच्छी नौकरी करेगा, रुपया लायेगा और नाम करेगा, ऐसा स्वप्न देखने वाले पिता को अरुण की नौकरी के लिए आनाकानी से दुःख हुआ और जब वे सोचते रहे थे कि धीरे-धीरे ठीक हो जायेगा तभी उन्होंने देखा कि उनका पुत्र राजद्रोह के आरोप में पकड़ा गया है। वे इस धक्के से जैसे एकदम बुढ़ा गये। जैसे-तैसे आरोप से मुक्त पुत्र के लिए उन्होंने नौकरी की व्यवस्था की तो पुत्र ने उस कृपालु अंग्रेज अधिकारी का ही अपमान कर डाला। जीवन में पहली बार वे पुत्र को डांट रहे थे।

अरुण के जवाब न देने पर वे समझ नहीं सके कि अब पुत्र को किस बात पर डांटे। काफी सोच-विचार कर उन्होंने एक अंतिम प्रहार निश्चित कर रखा था। उसे विवश होकर ही प्रयोग में लेना था। पर पुत्र को कभी भी कुछ न कहने के अभ्यस्त पिता को जब पुत्र की ओर से कोई भी उत्तर नहीं मिला तो परेशान से उन्होंने एकदम उसी अंतिम प्रहार का प्रयोग कर डाला।

"देख अरुण, मैं तुझे आखिरी बात कह रहा हूं। अगर तू अपनी हरकतों से बाज नहीं आया तो मैं तुझे एक पाई भी कभी देने वाला नहीं हूं।"

"वह मैं कहां मांग रहा हूं?" अरुण ने नम्रता के बावजूद दृढ़तापूर्वक कहा।

वत्सल पिता को लगा कि व्यर्थ ही वे स्वयं अंतिम सिरे पर जा बैठे हैं। एकदम ही वह बात नहीं कहनी चाहिए थी। चार दिन और समझाने के बाद भी तो वह सब कहा जा सकता था? ऐसी कौन सी जल्दी थी? व्यर्थ ही बेटे का जी दुखा दिया। वे एकदम दुखी हो उठे। आगे वे कुछ भी नहीं बोल पाये। अब क्या करें, क्या कहें, कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। वे उठकर दूसरे कमरे में चले गये।

4. कृष्णकांत

गोरा आया,
क्या-क्या लाया ?

अरुण बैठा सोचता रहा। नौकर ने आकर उसके हाथ में एक विजिटिंग कार्ड रखा, तब तक वह कई बातें सोच गया था। उसके सोच का एक ही केंद्र था, पिता को प्रसन्न रखकर देश-सेवा कैसे की जाय ?

कार्ड देखते ही वह बोल उठा :

"अरे अंदर बुला ला। जल्दी।"

और वह आगंतुक की प्रतीक्षा में द्वार की ओर देखता रहा। दो-तीन मिनट में द्वार से एक व्यक्ति और वाक्य ने साथ-साथ प्रवेश किया :

"हेलो ओल्ड बांय। कांग्रेच्युलेशन।"

इस वाक्य को उच्चारने वाला व्यक्ति बहुत ही स्वच्छ अंग्रेजी वेशभूषा में था। विलायत में रह रहे शौकीन अंग्रेज युवकों को भी शायद उस त्रुटि-रहित पोशाक की शैली से कुछ सीखने को मिल सकता था। अंग्रेजी पोशाक व्यक्ति को काफी स्फूर्तिमय बना देती है। साथ ही बेहद स्वस्थ भी लगती है। तेजी से अंदर आकर उस व्यक्ति ने अरुण का हाथ पकड़कर हिला दिया। फिर पास ही पड़ी कुर्सी पर निस्संकोच आराम से बैठकर सींग जैसी सिगार पीनी शुरू कर दी।

आगंतुक ने इसी बीच अपने पीछे आये एक साधारण-सी वेशभूषा वाले सज्जन को एक अन्य कुर्सी पर बैठने का इशारा किया। उन सज्जन ने मात्र एक धोती पहन और एक धोती ओढ़ रखी थी।

"कृष्णकांत ! तुम्हें भी कार्ड भेजने की आवश्यकता थी ?" अरुण ने कहा।

"फिर भी, फिर भी, यह पद्धति अपनाने लायक तो है ही। किसी के घर में

बिना सूचना दिये घुसना वाकई जंगलीपन है और इसे दूर करना ही चाहिए।" मुंह में सिगार ठूंसे ही बोलने की निपुणता कृष्णकांत ने प्राप्त कर ली थी। वे आवश्यकतानुसार अंग्रेजी व गुजराती बोल रहे थे। कृष्णकांत अरुण के बहनोई थे। उनके सिद्धांत में हर्ज वाली कोई बात थी भी नहीं, अत: अरुण के बिना कार्ड दिये घर में प्रवेश करने के विषय में अधिक विवाद नहीं किया और पूछा :

"मुझे किस बात के लिए मुबारकबाद दे रहे हो ?"

"क्यों ? तुम इतने बड़े आरोप से निर्दोष बरी होकर आ गये हो, यह क्या कम खुशी की बात है ?" कृष्णकांत ने कहा।

"तुम्हारा पत्र मिला था।"

"पत्र काफी नहीं होता। मुझे स्वयं आना चाहिए था। फैसले के दिन ही मैं कोर्ट में आने को था पर मेरी मिल में झंझट उठ खड़ा हुआ इसलिए आ नहीं सका।"

"बहन आयी थी।"

"हम दोनों ही साथ आने वाले थे। खैर, मैं इनसे तुम्हारा परिचय करवा दूं। इनका नाम है जनार्दन। ये शहर के गांधीजी हैं।" कृष्णकांत ने हंसकर कहा।

"मैं तो उन महात्मा की चरण-रज हूं। दुनिया भर में कोई दूसरा गांधी है ही नहीं।" जनार्दन ने कहा।

अरुण ने जनार्दन का नाम सुन रखा था। उसे उनकी गतिविधियों के विषय में थोड़ी बहुत जानकारी थी। किंतु वह अहिंसा को कायरों का दर्शन और चर्खे को अशक्त वृद्धाओं का चिह्न मानता था। अत: उसने गांधीजी के इस अनुयायी की प्रवृत्तियों की ओर ध्यान नहीं दिया था। जनार्दन को सामने देखकर अरुण की जिज्ञासा कुछ बढ़ी। उनके शरीर पर कायरता का कोई चिह्न नहीं था। चेहरे पर कमजोरी की छाप नहीं थी। उनका स्वच्छ मुख और निरोग देह देखकर अरुण को लगा कि वह जो अब तक गांधीजी के अनुयायीयों के साथ कायरता, कमजोरी, भुखमरी और उदासी को जोड़ता रहा था। वह उनकी निरी भूल थी। अरुण ने जनार्दन को नमस्कार किया और कृष्णकांत से कहा :

"इनका नाम तो सुना था। पर आज सामने देखकर बहुत प्रसन्नता हुई है। अब मेरा भी परिचय दे दो।"

"आपका परिचय कृष्णकांत भाई ने पहले ही दे दिया था। वैसे नाम से तो मैं आपको मुकदमे के समय से ही जानता हूं। बंबई से लौटते हुए कृष्णकांत आपसे मिलने यहां थे। मैं भी साथ था। मिलने की इच्छा हो आयी।" जनार्दन ने बताया।

"बहुत अच्छा किया। यह मुझ पर आपका उपकार है। पर आप दोनों साथ कैसे हो गये?" अरुण ने पूछा।

"हम एक दूसरे के शत्रु-मित्र हैं।" हंसकर कृष्णकांत ने कहा।

"मैं तो किसी की भी दुश्मनी में विश्वास नहीं करता। मिल के मजदूरों और कृष्णकांत के बीच बोनस की दर को लेकर झगड़ा बढ़ा। उसी के लिए मुझे बीच में रखा गया। समाधान की शर्तें कृष्णकांत किसी अच्छे वकील से तय करवाना चाहते थे सो मुझे साथ लेते गये।" जनार्दन ने बताया।

अरुण ने समाचार पत्रों में मजदूरों के विवाद के विषय में पढ़ा था। पूंजीवाद का वह स्वयं पक्का दुश्मन था। समाधान की शर्तों को लेकर काफी विवाद चला, मिल मालिकों की स्वार्थपरता के संकेत भी मिले, उनके भले पक्षों को लेकर भी विवेचना हुई। फिर उस विवाद को रोकने की दृष्टि से कृष्णकांत ने पूछा :

"ह्वेअर इज ओल्ड मैन?"

अरुण समझ गया कि कृष्णकांत ने उसके पिता के विषय में ही यह बात पूछी है। अंग्रेजी भाषा के अभ्यासवस और जीर्णशीर्ण आर्य-संस्कृति में अंग्रेजियत की चकाचौंध भरने की इच्छा से युवकों की वाणी में निश्चिंतता का फक्कड़पन, असम्मान की चपलता की छाया और तिरस्कार रहित व्यंग्यादि का समावेश इधर काफी होने लगा है। वाक्यपटुता, स्मार्टनेस के रूप में इस प्रथा का का सम्मान धीरे धीरे बढ़ता जा रहा है। कृष्णकांत अंग्रेजीयत के पूरे पक्ष धर थे। एक गुजराती व्यक्ति बोलने और चालढाल में जितती पटुता प्राप्त कर ली थी।

"घर ही में हैं। अभी कहला देता हूं।" अरुण ने कहा।

"तुम्हें मेरे साथ चलना है। सुरभि ने विशेष रूप से कहलाया है। एक दो हफ्ते साथ रहेंगे। कृष्णकांत ने अरुण की बहन सुरभि के आग्रह को जोड़कर अपने आग्रह का वजन बढ़ा दिया।

बहन से मिलने की इच्छा अरुण को भी थी। लेकिन पुराने रिवाजों का खंडन करनेवाले इस युग में भी बहन के घर जाकर रहने में भाई को कुछ संकोच होता

है। फिर कृष्णकांत का रहन-सहन कुछ अलग ढंग का था कि अरुण को उनके साथ रहना अच्छा नहीं लगता था।

"अभी कैसे चल सकता हूं ?" अरुण ने अनिच्छा दर्शायी।

"यह सब नहीं चलेगा। आज ही चलना है।"

"मेरा भी आग्रह है। आपसे परिचय बढ़ाने में मुझे लाभ है।" जनार्दन बोले।

तभी अरुण के पिता वहां पहुंचे थे। कृष्णकांत ने उन्हें कुछ इस प्रकार प्रणाम किया जैसे प्रणाम करना न आता हो। उनसे जनार्दन का परिचय करवाया। दोनों ने ही अरुण को साथ भेजने के लिए आग्रह किया। पिता अरुण का जी दुखाने की कचोट अभी भूले नहीं थे। अतः उन्होंने उसे अपनी इच्छानुसार करने को कहा अंततः बहन से मिलने के मोह और जनार्दन की सर्व-विदित गतिविधियों को निकट से जानने की इच्छा के कारण अरुण जाने को तैयार हो गया।

"दैट्स ए गुड बाय स्पोर्ट।" कहते हुए खड़े होकर कृष्णकांत ने अरुण की पीठ थपथपायी। कुछ घंटे वहां बिताकर तीनों चल दिये। बीच ही में अरुण के पिता ने कृष्णकांत को एकांत में ले जाकर अरुण को देशसेवा की धुन से मुक्त करने के प्रयत्न का आग्रह किया।

और कृष्णकांत ने आश्वासन दिया : "कुछ दिन मेरे साथ रहेगा तो बिलकुल ठिकाने आ जायेगा। इसे अबतक ढंग की सोसायटी नहीं मिली है। उसे देखेगा तो देशसेवा का सारा हंबग भूल जायेगा।"

5. प्रथम परिचय

चोली घाघरी और पटलियों का घेर
लटों और महीन साड़ी की सुनहरी छटा
पूरा अंग एक अनोखी बगिया
साड़ी में ढक रही अपने रूप की बेल

—न्हानालाल

बड़े व्यापारिक नगरों में कई रेलवे स्टेशन होते हैं। रेलवे ने कृष्णकांत की मिल के क्षेत्र में एक स्टेशन बनाया था और अब वहां आगमन बढ़ जाने के कारण उसे स्थायी करके उसका विस्तार कर दिया गया था। बहुत लोग मुख्य स्टेशन का ही उपयोग करते थे।

जनार्दन के साथ होने के कारण कृष्णकांत ने अरुण से उसके पिता की इच्छा अनुसार गाड़ी में कोई सलाह नहीं दी। गाड़ी स्टेशन पर रुकी। कृष्णकांत ने जेब से रेशमी रुमाल निकालकर हिलाया। प्लेटफार्म से एक सजी-धजी युवती ने अपना रुमाल हिलाकर उत्तर दिया। और गाड़ी के रुकते ही डिब्बे में चढ़कर उस ने कृष्णकांत के गाल पर चुंबन अंकित कर दिया।

अरुण आंखें फाड़े देखता रह गया। वह तो इस प्रेमाभिनय को मात्र फिल्मायी गयी अप्सराओं की कहानियों और लोकगाथाओं की पूंजी मानता रहा था। उसके लिए तो अब यह भी शंका का विषय था कि एकांत में भी इन चुंबनों का आदान-प्रदान होता होगा या नहीं। इस तरह खुल्लमखुल्ला इस क्रिया को देखकर वह जैसा बौरा गया। जनार्दन अरुण की परेशानी भांप कर मुस्कराये।

"देखो, रंजन, यह है सुरभि का भैया।" कृष्णकांत ने रंजन को अरुण का परिचय दिया। अरुण ने कृष्णकांत की छोटी बहन रंजन का नाम सुना था। शायद देखा

भी था कभी उसे। परिचिताओं की नामावली बढ़ाने में कोई रुचि नहीं थी। फिर इस समय रंजन को इस अजीब वेश में देखकर वह बिलकुल भी नहीं पहचान सका था।

"अरे, ये अरुण बाबू हैं ? मैं तो पहचानती भी नहीं।" सिर को हल्कासा झटका देकर और शरीर को एक नया लोच देते हुए रंजन ने अरुण की ओर अपना हाथ बढ़ा दिया। पुलिस के लाठी प्रहार से अचेत किसी स्वयं सेवक की तरह, अचेत अरुण ने यंत्रवत् अपना हाथ बढ़ा दिया।

"मजे में तो हैं न ? भाभी रोज आपको याद करती रहती है।" अवाक् अरुण को रंजन ने फिर बुलवाने की चेष्टा की।

जैसे तैसे धीरे से अरुण ने 'हां' तो कहा किंतु जीभ उसकी अब भी तालू से चिपकी हुई थी।

"सुरभि क्यों नहीं आयी !" कृष्णकांत ने पूछा। पत्नी को नाम से न पुकारने की प्रथा समाप्त हो चली है और कृष्णकांत ने तो जिस तेजी से पुरानी प्रथा को समाप्त किया है, उसी प्रकार सर्वत्र किया जाने लगे तो शायद हिंदुत्व को शील-मर्यादा का प्रकरण एक दशक में ही प्रचीन रिवाजों को व्रत-कथा या किंवदंति बनकर रह जायेगा।

"उनकी तबियत ठीक नहीं है। फिर उन्हें घूमने का भी कोई शौक नहीं।" रंजन ने उत्तर दिया। इसी बीच रंजन ने जनार्दन को भी बड़ी अदा के साथ नमस्कार किया। अभी हमारे समाज में ऐसे कोई नियम नहीं गढ़े गये हैं कि किसके साथ हाथ मिलाया जाय और किसे नमस्कार किया जाय। जिसका भी अवसरानुकूल प्रयोग हो, वही उचित है।

गाड़ी से उतर और स्टेशन से बाहर निकलकर चारों प्राणी कार के पास पहुंचे। रंजन झपटकर कार की अगली सीट पर जा बैठी और अरुण को भी अपने पास बुलाया :

"आप इधर आ जाइये अरुण बाबू। भैया और जनार्दन जी पीछे बैठ जायेंगे।" रंजन ने कहा।

रंजन की अदा से चकित अरुण ने तीनों की ओर व्याकुल दृष्टि से देखा और फिर अगली सीट पर रंजन के पास जा बैठा। क्षण भर को उसने सोचा भी कि

ड्राइवर कहां बैठेगा किंतु शीघ्र ही यह शंका निर्मूल हो गयी।

"मैं तो अपने आश्रम तक पैदल ही चला जाऊंगा।" जनार्दन ने कहा।

"नहीं नहीं, गाड़ी है, फिर पैदल क्यों जायेंगे ?" कृष्णकांत बोले।

"मुझे एक ओर जाना है और आप लोगों दूसरी ओर। व्यर्थ परेशानी होगी।"

"पांच मिनट इधर या उधर। मैं अभी आपको पहुंचाए देती हूं।" रंजन ने कहा। अब अरुण समझ गया कि कार रंजन ही चलायेगी।

जनार्दन और कृष्णकांत के बैठने पर रंजन ने कार चालूकर दी। किसमें कार में बैठने की लियाकत है, किसमें नहीं, यह कार में बैठते ही समझ में आ जाता है। मिट्टी के लौंदे जैसे ढीले, कार के प्रत्येक धक्के के साथ उछल जाने वाले, द्वार या सीट पकड़ कर बैठने वाले, घबराये हुए प्राणी को देखते ही निश्चित रूप से मान लीजिये कि वह पहली ही बार कार में बैठा है। आवश्यकता से अधिक चंचलता दर्शाने वाले, चेहरे पर सहज प्रसन्नता की परत वाले और दूसरों के साथ सिकुड़कर बैठने वाले व्यक्ति को देखें तो निश्चित रूप से मानें कि वह पराई कार में बैठा है। सहज मुखमुद्रा और व्यवहार देखते ही समझ में आ जाता है कि यही मोटर कार का मालिक है।

अरुण को ऐसी गाड़ियों से अपरिचित तो नहीं कहा जा सकता था किंतु वह रंजन जैसी तेज-तर्रार युवतियों से तो अपरिचित था ही। रंजन की ओर देखे बिना ही उसने उसकी एक कल्पना-मूर्ति गढ़ ली। उसने उसकी वेश-भूषा को ध्यान से देखा। वह अंग्रेजी वेश में तो नहीं ही थी, तो उसके कपड़े अंग्रेजी वेश-भूषा का भान क्यों करा रहे थे ? हाथ अधिक नंगे थे। क्या इसलिए ? क्या पता ? उसका वेश बंगालियों की तरह भी नहीं था फिर भी उसके कपड़ों के ढीले-पन में बंगालीपन की छाया थी। दक्षिणीयों जैसे भी उसके कपड़े नहीं थे किंतु कुछ अंगों पर उनका कसाव वैसा भ्रम भी दे रहा था। उसमें पारसीपन तो न था पर जानबूझ कर रखे गये अव्यवस्थित अंचल से ऐसा भ्रम होता था। आखिर उसने ऐसा क्या पहन रखा था ? क्या रंजन गुजराती ढंग में सभी प्रांतों के वेश की छटा ले आयी थी।

कार अचानक रुकी। सामने एक छोटा-सा मैदान था। पास ही छोटा मकान जनार्दन वहीं उतर गये। सभी ने उन्हें नमस्कार किया। उन्होंने अरुण से पूछा :

"आप कब मिल सकेंगे?"

"मुझे तो यहां कोई काम नहीं है। आपका आश्रम देखने के लोभ के कारण ही तो मैं आया हूं।"

"तो कल प्रतीक्षा करूं?"

"जी कल जरूर आऊंगा।"

"मैं कार में अपने साथ ले आऊंगी।" रंजन ने कहा

जनार्दन को उतारकर रंजन ने कार को वापस मोड़ा और पूरी तेजी से छोड़ दिया।

अरुण फिर रंजन के कल्पना-चित्र में व्यस्त हो गया। जैसा अजीब वेश, वैसा ही उसका दिखाव-बनाव भी है। कोई गुजराती वृद्धा उसे कार चलाते देख मानेगी कि रंजन भी एक गुजराती ही है? उसकी यह बेबाकी, यह मुक्त व्यवहार, यह अदा-बेचारी वृद्धा समझ पायेगी? कहीं दुनिया भर की क्रांति की प्रतिमा है तो फिर क्रांति कितनी मोहक होगी? क्यों नहीं भारत में क्रांति की भावना पनप पाती?

"आपको कार चलाने का शौक है या नहीं?" अरुण की ओर देखे बिना ही रंजन ने पूछा। अरुण की विचार श्रृंखला टूटी। प्रश्न उसी से पूछा गया है या नहीं, यह जानने को उसने रंजन की ओर देखा। और तभी उत्तर न मिलने पर चलती हुई गाड़ी से ध्यान हटाकर रंजन ने भी अरुण की ओर क्षण भर के लिए देखा।

"मुझ से कहा?" उलझकर अरुण ने प्रश्न किया

"हां" हंसकर रंजन ने कहा तो अरुण को उस हंसी में भी कुछ नयी मिठास दिखाई दी। उस हां के बाद रंजन ने फिर अपना ध्यान सामने रास्ते की ओर कर लिया। अरुण को उस मधुर हास्य की रेखा दिखाई दी जैसे अभी कोई तारा टूटा हो और वह अपने पीछे प्रकाश की एक रेखा खींचता चला गया हो।

"मुझे चलाना नहीं आता।" उसने उत्तर दिया।

"मैं चार दिन में सिखा दूंगी।" रंजन ने अरुण की ओर देखें बिना ही कहा।

इस प्रकार की तेज-तर्रार युवती के साथ पहली बार बात करने में संकोच भी होता है तो उत्साह भी कम नहीं होता। अरुण की इच्छा हुई, कि रंजन से बात करे। किंतु बातचीत के योग्य कोई विषय ही समझ में नहीं आया। जीवन में पहली बार उसे लगा कि हर जगह देशसेवा की बात नहीं की जा सकती है। क्रांति

के दर्शन की भी जीवन में सीमाएं है और अरुण के पास इन दो विषयों के अतिरिक्त बातचीत का कोई तीसरा विषय नहीं था।

कुछ देर बाद रंजन ही फिर बोली "आपको तो जेल जीवन का भी अनुभव है। है न?" इस बार रंजन ने अरुण की ओर देखा फिर भी अरुण को विश्वास हो गया कि प्रश्न उसी से पूछा गया है। अपने प्रिय विषय पर बोलने का अवसर पा कर उसे कल्पनातीत प्रसन्नता हुई। जल्दी से बोला :

"हां"

पर वह फिर उलझ गया कि इससे आगे वह क्या कहे। लगा, आज तो वह नहीं ही बोल पायेगा। सामने से परिचितों की गाड़ियां निकलती तो वे रंजन की ओर रूमाल फहराते या टोपियां उठाते। रंजन सभी की ओर मीठी मुस्कान के टुकड़े फेंकती जा रही थी। अरुण को होश आया : कहीं उसकी ओर फेंकी गयी मुस्कान भी प्याऊ में पानी पिलाने वाले की तरह इधर-उधर फेंके जा रहे मुस्कान के अन्य टुकड़ों में से एक तो नहीं है ?

"केवल दिन रहे ?" कुछ देर बाद रंजन ने पूछा।

"केस चलने तक। यही कोई वर्ष भर।" अरुण ने कहा।

और तभी कार ने एक बंगले की विशाल चार दिवारी में प्रवेश किया। अरुण समझ गया कि बहन का घर आ गया है। सीढ़ियों के पास गाड़ी रुकी। तीनों उतरे।

"चलिये, आपको भाभी के पास ले चलूं।" कहकर रंजन अरुण को साथ लेकर आगे बढ़ी। दोनों एक कमरे में प्रविष्ट हुए। एक सोफे पर लेटी युवती ने धीरे से उनकी ओर देखा और एकाएक जैसे उसमें प्राण आ गये हों। वह उठी और उसके सामने आ गयी।

"अरे भैया! तुम कैसे ?" सुरभि ने अतिशय भाव से पूछा।

"तुझसे मिलने और कैसे ? पर तू ऐसी कैसी हो रही है ?" अरुण ने पूछा।

"कुछ नहीं भैया। बस यूं ही।" मानो किसी गहरी पीड़ा को छिपाने का प्रयत्न करते हुए सुरभि ने उत्तर दिया।

"क्यों अरुण ? रास्ते में इस रंजन ने तुम्हारा दिमाग चाट डाला न ?" पीछे से आकर कृष्णकांत ने पूछा।

सुरभि पीछे हटी और वापस सोफे पर जा बैठी।

6. परिस्थितियों के जंतु

भगवान ने दिन तो उजियाले बना दिये
किंतु रातें अंधेरी क्यों बना दीं ?
अरी ओ बिजली ?

—न्हानालाल

स्टेशन से लौटने पर रंजन को मुंह धोकर बाल तो संवारने ही थे। सड़कें चाहे एस्फाल्ट की ही क्यों न बनी हों और उन पर पैदल चलें या कार में, धूल उड़े बिना रह ही नहीं सकती, रंजन की इस मान्यता का खंडन कोई नहीं कर सकता था। पैसे वालों को सफाई वहुत पसंद है क्योंकि इच्छानुसार सफाई रखने की उनको सहूलियत होती है। वड़ों की ओर से पूरा समर्थन और प्रोत्साहन पाकर रंजन को सफाई की आदत पड़ गयी थी कि घर बैठे भी हर दो घंटे में हाथ मुंह धोये बिना उसका काम नहीं चलता था। अत: वह उठी।

"अभी आती हूं भाभी।" कहकर वहां से चली गयी।

सुरभि के निकट ही एक कुर्सी पर बैठकर कृष्णकांत ने उसके हाथ पर अपना हाथ रखा। यों उसकी मुद्रा नवज देखने की ही थीं किंतु सुरभि के चेहरे पर क्षोभ दिखाई दिया।

"क्यों तबियत ठीक नहीं करनी है ?" कृष्णकांत ने सुरभि से पूछा।

"मुझे क्या हुआ है ?" सुरभि ने दूसरी ओर देखते हुए जवाब दिया।

"देख तेरा मन बहलाने के लिये तेरे भाई को लिवाकर लाया हूं। अब अगर सप्ताह भर में तेरा वजन नहीं बढ़ा तो···।" कहते हुए कृष्णकांत ने जेब से माचिस की सुंदर डिबिया निकाल कर बुझती हुई सिगार को फिर से जलाया। प्रत्येक काम में हाथ की सफाई का अपना महत्व है। फर-फर घूमते बिजली के पंखे के नीचे

बैठे कृष्णकांत ने दियासलाई की लौ को बचाकर अपना सीगार जला लिया।

"तो क्या ?" सुरभि ने पूछा।

"तो फिर देख लेना।" हंसकर कृष्णकांत ने कहा।

रात घिर आयी थी और बल्ब से शीतल नीला प्रकाश फैल रहा था। अरुण अब तक सहज नहीं हो पाया था।

"अरुण, खाना जल्दी खाओगे या मेरे साथ ? आज मैंने अपने कुछ मित्रों को खाने पर बुलाया है।" कृष्णकांत ने कहा। इस युग में पूरी दुनिया के साथ अतिथियों को भी कुछ स्वतंत्रता मिली है। अतिथेय का ऐसा कोई आग्रह नहीं रहता कि अतिथि उसी की तरह उसी के साथ खाना खाये।

"भैया मेरे साथ खायेंगे।" सुरभि ने कहा।

"प्लीज युवरसेल्फ। तुम्हें जैसा अच्छा लगे ?" कह कर कृष्णकांत उठे। "मैं जरा खाने की व्यवस्था देखकर वापस आता हूं," कहकर सुरभि के सामने सहज हंसकर कृष्णकांत कमरे से बाहर गये। सिगार का हल्का धुंआ और तीखी मधुर गंध उनके पीछे रह गये।

भाई बहन कुछ देर तो एक दूसरे को टुकुर टुकुर देखते रहे। फिर एकाएक सोफे के हत्थे पर सिर रखकर सुरभि सुबक-सुबक कर रोने लगी।

इस युग में भी भाई-बहन के प्यार जैसा निर्दोष संबंध और कोई नहीं है। भाई बहन के संबंध में ही बच्चों की सी निश्छल हंसी, मैत्री जैसा आकर्षण, वियोगी दंपत्ति की सी विह्वलता और माता पिता के वात्सल्य जैसी स्वार्थरहित ममता संभव है।

रोती हुई बहन के सिर पर हाथ रखकर अरुण बोला : "मेरी बहना"

मानव भाषा का पवित्रतम शब्द। यह संबोधन सुनकर रोती हुई बहिन ने सिर उठाया और आंसू भरी आंखों से भाई को देखा।

"क्या बात है ? बता न ऐसे क्यों रो रही है ?" अरुण ने स्नेह से पूछा।

सुरभि ने पल्लू से आंसू पोंछ डाले और हल्के से मुस्कराकर बोली : "कुछ नहीं भैया ! वैसे ही ! पता नहीं तुम्हें देखकर मन भर आया। तुम्हारे आने से बड़ा अच्छा लग रहा है।"

सुरभि उत्साहपूर्वक बातें करने लगी किंतु अरुण को लगातार यह बात खट-

कती रही कि अवश्य ही कुछ है जिससे उसकी बहिन दुखी है। भाई-बहिन में दो ही वर्षों का अंतर था। साथ खेलकर बड़े हुए भाई-बहिनों में एक दूसरे को समझने की जो गहराई होती है वह अन्य संबंधों में शायद ही पायी जाती है। सुरभि को लगा कि भाई ने उसके मन के दुख को भांप लिया है। उसके मन को वह पीड़ा अधिक परेशान न करे, इस प्रयत्न में सुरभि जाने कहां-कहां की बातें करने लगी। और बातें करते-करते दोनों इतने हंसे मानो बचपन फिर लौट आया हो।

फिर भी अरुण बहन के उन आंसुओं को नहीं ही भूल पाया। सुरभि के घर में अपार वैभव था। कृष्णकांत सम्रांत वर्ग के व्यक्ति थे। उनके बाबा के ही समय से उनके यहां वैभव का साम्राज्य था। उनके पिता ने उसे संभाला और बढ़ाया था। कृष्णकांत भी उस ऐश्वर्य में पलकर बढ़े और अपने व्यवसाय के साथ-साथ साहित्य, कला, समाज सुधार, राजनीति आदि में रुचि लेते रहे। वे यूरोप, अमरीका की यात्रा कर चुके थे। उनकी कई बड़े यूरोपियन अधिकारियों से मैत्री थी।

जाति-भेद को न स्वीकारने वाले यूरोपियन जब भारत में आते हैं तो वे अपनी एक अलग जाति खड़ी कर लेते हैं। शायद यह इस अभागे देश की मिट्टी का ही प्रभाव हो। वे अपने समाज में देशी लोगों को जरा भी सम्मिलित नहीं करते। ऐसे में यूरोपियन क्लब के एक मात्र भारतीय सदस्य होने के नाते कृष्णकांत का उस समाज में पर्याप्त सम्मान था।

उनके पिता की मान्यता थी कि भारतवासी यूरोप वालों की तरह शिक्षण की कला नहीं जानते। बचपन से ही उन्होंने अपने बच्चों के लिए अंग्रेज आया और अंग्रेज शिक्षक मित्रों की व्यवस्था की थी। इससे उनकी अपनी प्रतिष्ठा तो बढ़ी ही, बच्चों को भी अतिरिक्त सफाई की लत पड़ गयी। पहनावे को काफी महत्व दिया जाने लगा था और अंग्रेजी भाषा की वाक्पटुता भी उन्होंने अपना ली थी। चार-पांच छह-सात साल के छोटे बच्चों की भाषा यों ही मीठी होती है, फिर उस उम्र में यदि ग्रेजुएटों को भी घबरा देने वाली फर्राटेदार अंग्रेजी बोलने लगें तो मिठास हजार गुना बढ़ जाती है। बापा और बा जैसे गंवई संबोधनों की जगह जब पिता अपने बच्चों के मुंह से डैडी, पपा, ममा, मा (गुजराती मां नहीं, अंग्रेजी के मामा का संक्षिप्त रूप) सुनते हैं तो इतने प्यारे लगते हैं कि खुशी से फूले नहीं

समाते। जब वे कृष्णकांत और रंजन के मुंह से 'डांस लिटिल बेबी' या 'होम, स्वीट होम' जैसी कविताएं शुद्ध उच्चारणों सहित सुनते थे तो उन्हें लगता था कि अंग्रेजी पढ़ाने पर खर्च हुआ पैसा वसूल हो गया है। और जब वे हर दस या पंद्रह मिनिट बाद बच्चों को गुडमार्निंग आदि से शुरू कर अंग्रेजों की तरह बातें करते तो उन्हें लगता कि उनकी सात पीढ़ियां तर गयी हैं।

इस प्रकार के वातावरण में बढ़े, कृष्णकांत और रंजन यदि सभी का ध्यान आकर्षित करते थे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। तीन पीढ़ियों की संपन्नता ने कृष्णकांत को काफी उदार बना दिया था। लोग उनकी उदारता से लाभ उठाकर उन्हें फिजूलखर्च की उपाधि देकर उनकी उदारता का मूल्य चुकाया करते थे। धन प्राप्ति प्राय: ही यंत्र की तरह नियमित और सरल हो जाया करती है। कृष्णकांत को धनोपार्जन करने के लिए उतनी ही मेहनत करनी पड़ती थी जितनी हमें सूर्योदय के लिए करनी पड़ती है। पितामह और पिता ने एकबार जो चक्रचला दिया था, वह घूमता जा रहा था। कृष्णकांत को क्षण के लिए उसे देख लेना पड़ता था। मित्रों आदि के बीच बिताने के लिए उनके पास बहुत समय था।

उन्हें क्लेश और कलह जरा भी पसंद नहीं थे। बस जीवन सुख शांति से बीतता जाय, इतना ही वे चाहते थे। सुरभि के साथ विवाह हुआ। दोनों के ही पिताओं ने सोचा था कि इससे अधिक अच्छा भाग्य किसका हो सकता है। अरुण भी यही सोचता था कि सुरभि का जीवन बड़े सुख में है। अपने घर के विषय में बात करते हुए सुरभि हमेशा खुश नजर आती थी। अरुण ने अपने लिए दुर्गम पथ चुन लिया था किंतु अपनी लाडली बहन की सुखशांति की बात सोचकर वह संतुष्ट था। आज उसी बहन को इस प्रकार रोते देख उसके हृदय को दुख हुआ। बहन उस प्रसंग को भुलाना चाहती थी पर वह भूल नहीं सका।

तभी नौकर ने आकर नम्रता से कहा :

"साहब बोतलें मंगा रहे हैं।"

"भाग यहां से। आया है बड़ा बोतलों वाला?" सुरभि ने यकायक आपा खोकर नौकर को झिड़क दिया। नौकर काफी वेतन पाने वाला रसोइया था। उससे तभी काम लिया जाता था, जब अंग्रेजी ढंग की कोई पार्टी होती थी। डांटफटकार खाने वाले नौकरों से उसका दर्जा अलग था। वह मुंह चढ़ाकर चला गया।

"तू इतनी चिढ़चिढ़ी कैसे हो गयी है ? उसे बोतल क्यों नहीं दी ?" अरुण ने पूछा। उसके लिए सुरभि का यह स्वभाव नयी बात नहीं थी।

"भैया ? इन्हें बोतलों की लत भी लग गयी है।" सुरभि के स्वर में दर्द था।

"किसे ?" अरुण ने आश्चर्य से पूछा।

"अब तुम समझ लो न।"

"कृष्णकांत को ?"

सुरभि चुप हो रही। अरुण भी चुप हो गया। वह स्वयं निर्व्यसनी था। उसकी मान्यता थी कि इस गरीब देश में और देश में ही क्या, इस दुनिया में भी तो अधिकांश लोग गरीब ही हैं यों गरीब भी व्यसनों में कम लिप्त नहीं होते। व्यसन के लिये कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए। किन्तु फिर भी वे दया के पात्र हैं। गरीब विवश होकर ही कोई पाप करता है जब कि कोई अमीर जानबूझ कर। वह अमीर और गरीब के दोषों के बीच हमेशा काफी फर्क देखता। गरीब का दोष दया का पात्र है जबकि अमीर का दोष धिक्कार का।

अरुण के क्रांतिवाद में तलवार की धार जैसा नियमन था। किंतु उस नियमन में धर्मभीरूता नहीं थी। पाप-पुण्य की व्याख्या तो समयानुसार बदलती रहती है। ईश्वर की नापसंदगी पाप है, ऐसा नहीं। पाप वह है जो इस सृष्टि के अधिकांश मनुष्यों के लिए दुखदायक हो। गांधीवाद के प्रति उसकी अरुचि का मुख्य कारण थे पराक्रमहीन दैव्य और धर्मभीरुता। वह इतना मानकर ही चुप था कि मद्यनिषेध मानव समाज के लिए उपकारक है। शराब पीने वाला उसकी दृष्टि में पापी नहीं था गलत अवश्य था। मनुष्य अपनी वृत्तियों को कहां तक तृप्त कर पाता है, इसी प्रश्न में उलझा वह बहन की ओर देखता रहा।

हंसते हुए धीमे धीमे कृष्णकांत कमरे में आये। सुरभि ने मुंह फेर लिया। कृष्णकांत यदि वाकई अच्छे व्यक्ति न होते तो अपनी पत्नी द्वारा किये गये उस प्रकट तिरस्कार के बाद वह क्या करते, यह हिंदू समाज के लिए अनजाना नहीं है। किंतु कृष्णकांत ने चेहरे पर किसी प्रकार का परिवर्तन लाये बिना पूछा :

"सुरभि, वह बोतलें तूने रखी हैं ?"

"तुमसे किसने कहा ?"

"बटलर ने।"

"हां मैंने ही रखी हैं। क्या बात है ?"

"जरा निकाल दे न। डिनर में चाहिए।"

"मैं एक भी बोतल नहीं दूंगी। यह तुमने रोज-रोज क्या लगा रखा है ?"

"डोंट बी सिली। कमिश्नर और कलक्टर डिनर पर आ रहे हैं। तू बोतलें नहीं देगी तो कैसे चलेगा ?"

"कोई भी क्यों न आये। ऐसा क्या है कि शराब के बिना चलही नहीं सकता?"

'हा-हा-हा' कृष्णकांत जोर से अंग्रेजी ढंग से हंसे। हंसने के भी कई तरीके होते हैं। यह कोई भूल नहीं सकता।

"देखो तो अरुण। यह सुरभि बोतल में भरी हर चीज को शराब मानती है। अगर तुम कहोगे तो मानेगी कि वह शराब नहीं लिकर्स हैं ? एज गुड एज शर्बत। हां एकदम शर्बत की तरह।" अच्छे से अच्छे आधुनिक ढंग के उच्चारण के कारण किसी शब्द के अर्थ में अंतर कैसे हो जाता है। यह बात अरुण की समझ में नहीं आयी।

सुरा कहो, शराब कहो, आखिर अर्थ तो वही है। हां, नशे का परिणाम कम-अधिक हो सकता है और अरुण को मालूम था कि कुछ हल्के नशे वाले मद्य सभ्य यूरोपीय समाज में निषिद्ध नहीं थे।

अब जो भी हो, अरुण कोई मद्य मीमांसक तो था नहीं। उसने तो इतना ही सोचा कि सुरभि की जिद् उचित नहीं है और कृष्णकांत के पास चोरी छिपे रात रात भर खुली रहनेवाली किसी भी अंग्रेजी शराब की दुकान से मंगाने के लिए पैसे, नौकर, वाहन की भी कमी नहीं थी।

"निकाल दे न।" अरुण ने कहा।

जिस बात में उसकी इतनी अरुचि थी, वही करने को भाई का आग्रह सुरभि को अच्छा नही लगा। चेहरे पर स्पष्ट ही अनिच्छा दिखाती धीरे से कुछ झुककर वह उठी और आलमारी के पास जाने लगी। कृष्णकांत को सुरभि की आंखें सूनी लगीं। पत्नी की आंखों में सदैव प्यार लहराते देखने के अभिलाषी कृष्णकांत बोले :

"नहीं नहीं। तुझे अच्छा न लगे तो रहने दे। प्लीज युवरसेल्फ। (बस तुम खुश रहो)।" इतना कह कर वह कमरे से चले गये।

बहन और बहनोई के बीच वैषम्य का कारण कौन है, यही सोचते अरुण का

ध्यान एक भीनी सुगंध ने खींचा। कपड़ों की सादगी के उपरांत भी उन्हें पहनने का ढंग कुछ ऐसा था कि किसी की भी दृष्टि एकबारगी वहां गड़कर रह जाय। रंजन जल्दी से अरुण के पास पहुंचकर बोली :

"चलिये अरुण जी। आपका परिचय एक बड़े विद्वान से करा दूं?"

"ये कपड़े क्यों पहने हैं? डिनर में नहीं जाना?" सुरभि ने रंजन से पूछा।

"नहीं रे! मैं तो तुम्हारे साथ खाऊंगी। मुझे यह धमाचौकड़ी पसंद नहीं है।"

रंजन को धमाचौकड़ी अच्छी न लगाना भी एक अजीब बात थी। सवेरे जागने से लेकर रात में सोने तक और शायद उसके बाद नींद में भी जो धमाचौकड़ी के विना रह ही न पाती हो, उसकी यह बात कहीं किसी और धमाचौकड़ी की भूमिका तो नहीं हैं, अरुण सोचने लगा। पैसे वालों की खाली-खाली जिंदगी इन डिनर पार्टियों जैसी धमाचौकड़ियों से भरी होनी चाहिए।

"क्यों चल रहे हो न?"

"साहित्य में मेरी कोई विशेष समझ नहीं है।"

"कोई बात नहीं। उसकी कोई खास जरूरत भी नहीं है।"

"कौन आया है?" सुरभि ने पूछा।

"विमोचन।"

"वह तो डिनर के लिए आये होंगे।"

"हां, लेकिन मुझसे मिलने कुछ जल्दी आ गये हैं।" रंजन ने कहा और एक अबूझ मुस्कान फेंक दी।

"तो किसी और को क्यों बुला रही हो?" सुरभि ने भी मुस्कराते हुए पूछा।

"अब वह सब तुम नहीं समझोगी भाभी! चलिये अरुण बाबू।"

अरुण रंजन के पीछे चल दिया। कुछ रुककर रंजन अरुण की बगल में चलने लगी। अपनी प्रगतिशीलता के बावजूद भी अरुण सकुचा गया। उसने अपने आप से ही पूछा :

'इतना सट-सट कर चलने की भी कोई आवश्यकता है?'

7. विद्वान

भाषा का क्या है ?
रण में जीतने वाला ही शूर होता है ?

—अखौ

रंजन का कमरा उसी की तरह साफ-सुथरा, जगमगाता और शानदार था। आसमानी रंग के बल्ब की रोशनी में वहां का वातावरण जैसे अपार्थिव हो उठा था। रंगमंच पर किसी अलौकिक दृश्य को देखकर रसिक दर्शक जिस प्रकार वाह-वाह कर उठता है, रंजन के कमरे की प्रकाश-व्यवस्था देखने वाले का मन भी उसी प्रकार वाह-वाह करने को हो जाता था। अरुण जैसा शुष्क-हृदय व्यक्ति भी एकबारगी वहां पहुंचकर चौंक उठा।

पैर पर पैर रखे, कुर्सी की पीठ पर अपनी पीठ का सारा भार डालकर कुर्सी के हत्थे पर रखे हाथ की तर्जनी को कनपटी पर टिकाये, विचारों में डूबे बैठे थे विमोचन। रंजन ने परिचय करवाया :

"विमोचन। कवि कहूं या साहित्यकार ?" रंजन ने विमोचन से ही पूछा।

"जो इच्छा हो।" ध्यानस्थ विमोचन जैसे जाग गये। निराभिमानी साहित्यकार को कोई कवि कहे या साहित्यकार, उन्हें इस बात की कोई चिंता नहीं होती।

अरुण ने विमोचन को नमस्कार किया तो उन्होंने भी प्रति-नमस्कार द्वारा उसे ग्रहण किया।

'आपने नाम तो सुना ही होगा' रंजन ने अरुण से पूछा तो विमोचन कुछ ऐसे विश्वास से मुस्कराये कि ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि किसी ने उनका नाम न सुना हो।

साहित्यकारों की बढ़ती संख्या के कारण उनके नाम याद रख पाना कुछ दुष्कर

ही हो गया है। और नये से नये लेखक का नाम न जानने वाले को अपने समय से पिछड़ा ही कहा-माना जा सकता है। अरुण को याद आया कि उसने विमोचन का नाम सुना अवश्य है। कहां और किस प्रसंग में, यह ठीक से याद नहीं आ रहा था। किसी बैंक से गबन करने वाले क्लर्क के रूप में, जेल से भागे कैदी के रूप में, किसी सुंदरी की नाक काटने वाले प्रेमी या किसी पत्र-पत्रिका की किसी कहानी के नायक के रूप में उसने विमोचन का नाम सुना था––अरुण तय नहीं कर पा रहा था। इतना तय था कि किसी फसाद का केंद्र-बिंदु ही रहा होगा वह नाम। यों रंजन इतना बता ही चुकी थी कि वह कवि या लेखक है अतः इसने कहा : "हां, विमोचन नाम मेरा सुना हुआ है।"

विमोचन एक बार फिर अपने नाम की विजय पर मुस्कराये।

अब रंजन ने विमोचन से पूछा : "और ये हैं श्री अरुण। आपने भी इनका नाम सुना ही होगा।"

"इनके आने से पहले आपने इनके विषय में बताया था अतः उसी आधार पर जानता हूं।"

"उससे पहले नहीं ?"

"नहीं। राजनीतिक बातों में मेरी कोई रुचि नहीं है।" अधिकांश साहित्यकारों की परिधि काफी सीमित होती है। साहित्य के अलावा अन्य अपवित्र विषयों का स्पर्श होते ही वे अपनी स्मृति को कछुवे के अंगों की तरह सिकोड़ लेते हैं।

अरुण विमोचन की ओर टुकुर-टुकुर देखता रह गया। रंजन को लगा कि वह कुछ कहते-कहते रुक गया है।

आराम से बैठे लेखक विमोचन जरा सीधे होकर बैठ गये। वे दुबले होने के कारण लंबे लगते थे या लंबे होने के कारण दुबले, सो तो उन्हें नापने पर ही ठीक से कहा जा सकता था। लेखकों में भी सभी प्रकार के जीव होते हैं। लंबे, ठिगने, मोटे, दुबले। उनकी मुखछटा भी काव्य की तरह वीर, रौद्र, हास्य, करुण आदि विविध रसों के दर्शन करवा दिया करती है। इसी प्रकार कभी-कभी लेखकों-कवियों का सम्मेलन अच्छे खासे गुलदस्ते जैसा सुंदर बन जाता है।

खैर, इस सारे वैविध्य के बीच उसमें कोई लेखकीय तत्व समान रूप से विद्यमान रहता है। लेखक गोरा हो या काला, लंबा हो या ठिगना, जागता हो या

सोता, हंसता हो या रोता लेखकीय गरिमा का ओज उसके चेहरे पर छाया रहता है। उसी के कारण रात के अंधेरे में उन्हें देखकर कोई भी कह सकता है कि यह लेखक है।

"पर आजकल तो राजनीतिक चर्चाएं ही अधिक महत्वपूर्ण हो गयी हैं।" रंजन ने बात आगे बढायी।

"ऐसा आप किस आधार पर कहते हैं ?" अरुण से अब चुप नहीं रहा गया।

"इसमें विवाद के लिए अवकाश ही नहीं है। यह तो स्वयंसिद्ध सत्य है।"

"यह मैं नहीं मानता।"

"शेक्सपीयर का नाम जीवित है। एलिजाबेथ और उसके राज्य-प्रसंगों को रट-कर भी हम भूल जाते हैं। बताइये साहित्य का जीवन लंबा है या राजनीति का ?"

"आपके साहित्य के आलोचक भी साहित्य को समय का खिलौना ही बताते हैं। एलिजाबेथ का युग न होता तो शेक्सपीयर भी न हुआ होता। अब इन चर्चाओं का तो कोई अंत नहीं है। समय महापुरुषों का सृजन करता है या महापुरुष ही समय की रचना करते हैं ? इस विवाद का अंतिम उत्तर कौन दे पाया है या कौन दे सकेगा।"

"इसी चर्चा में तो राजनीति का महत्व चिरंजीवी हो उठता है।"

"राजनीति–चिरंजीवी ? चिरंजीवी यदि कुछ है तो मात्र साक्षर की अक्षर देह। शेष सभी कुछ क्षणिक है।"

"मैं तो न साक्षर को जानता हूं न अक्षर को। चिरंजीवी यदि कुछ भी है तो वह है प्रजा की लश्कर देह। और लश्कर यानी कि राज्य यानी कि राजनीति।"

इस साक्षरी युद्ध का कोई अंत नहीं। इस युद्ध के योद्धाओं को पहले जगत के सुख-दुख की चिंता कर लेनी चाहिए। शायद रंजन को लगा कि कहीं इस युद्ध का दावानल विश्वभर में न फैले जाय इसलिए उसने प्रसंग बदलने के लिए विमोचन से पूछा :

"आपने अपनी नयी कविता पुस्तक किसे समर्पित की है ?"

"तुम्हें ही।"

"मैंने तो मना किया था।" कुछ तेज होकर रंजन ने कहा।

"इसीलिए तो मैंने मानसिक समर्पण किया है।"

रंजन हंसी "आप लोगों को यह मानसिक पगडंडी खूब मिल गयी है।"

"हम मानस-व्यापार में ही तो जीते हैं।" कवि ने उत्तर देकर रंजन के मुस्कराते चेहरे की ओर देखा।

मेज पर रखी एक सुंदर जिल्द वाली छोटी-सी पुस्तक विमोचन ने रंजन की ओर बढ़ायी तो अरुण ने पूछ लिया : "कौनसी कविता है ?" उसने सोचा कि अब इस साक्षर से हुई प्रथम भेंट को मीठापन देना है।

"पुष्प के प्राण।" विमोचन ने जैसे अपने हर रोम की जिह्वा से उत्तर दिया।

"फिर वह प्राण रहे या चले गये ?" अरुण पूछे बिना रह नहीं सका।

रंजन खिलखिलाकर हंस पड़ी। विमोचन अपने काव्य के विषय में इस प्रकार की अगंभीर बातें सुनने के अभ्यस्त नहीं थे। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे वीर रस से भी अनभिज्ञ थे। उन्होंने अपनी भृकुटि चढ़ाकर स्पष्ट कर दिया कि अब उनके और अरुण के बीच संधि की आशा व्यर्थ है।

दोनों की नोक-झोंक देखकर रंजन उसी तरह खुश हो रही थी जैसे कोई राजकुमारी दो हाथियों का दंगल देखकर होती है। उसने 'पुष्प के प्राण' खोलकर अरुण को जैसे आज्ञा दी

"सुनो। मैं इसमें से एक कविता पढ़ती हूं।"

कविताएं अब गाने के लिए नहीं, पढ़ने के लिए ही होती हैं। स्कूलों में कविता के शिक्षण के साथ यह परिवर्तन आया है। और कवि न्हानालाल ने 'गुंजन' के प्रकाशन के साथ इस कविता गायन को मृतप्राय: ही बना दिया है।

रंजन ने पढ़ना आरंभ किया[1]

'सुमन कहुं या कुसुम कहुं ?
परिमल गृह के पुष्प कहुं
ओ फूल
शां मूल
अय गुल
दिल झुल
जो पुकारे दर्दी बुलबुल।'

---

1. मूल गुजराती का लिप्यंतरण ।

यह मधुर गुलगुलाट और बुलबुलाट शायद आगे बढ़ती किंतु तभी द्वार पर खट-खट हुई और एक व्यक्ति ने आकर विमोचन से कहा :

"साहब आपको बुला रहे हैं।"

"अच्छी बात है रंजन। सवेरे मिलूंगा।"

"सुबह तो मैं अरुण बाबू के साथ बाहर जा रही हूं।"

"कहां ?"

"जनार्दन के आश्रम में। पर शाम को मैं घर ही रहूंगी और आज ही रात मैं तुम्हारी कविताएं पढ़ डालूंगी।"

"ठीक। शाम को आऊंगा तुम्हारी प्रतिक्रिया जानने ?" कहकर अरुण की ओर देखे बिना ही विमोचन कमरे से बाहर चला गया।

8. सामीप्य

योगी के मन में यह कौन-सा कांटा खटकने लगा है ?
इस राग को त्याग देने पर मन में रह क्या गया है ?
क्या बुद्धि पर हृदय का अधिकार होने लगा है ?
क्या पाषाण में कोई अंकुर उग आया है ?

——कलापी

सुबह उठकर चारों ने एक साथ नाश्ता किया। एकदम अंग्रेजी ढंग की चाय के साथ बिस्किट, टोस्ट, केक——सभी कुछ होना चाहिए। सब अपनी इच्छानुसार बैठकर चाय पीने को स्वतंत्र नहीं हैं। सफेद मेजपोश से ढकी मेज के इर्द-गिर्द बिना हत्थे वाली कुर्सियों पर टांगे नीचे किये शांति से बैठना पड़ता है। सामने की मेज को आराम का साधन मानकर भूल से भी उस पर कोहनी नहीं रखी जा सकती।

इस मेज पर चाय के कप अंदर से भरे-भराये नहीं आते——ट्रे में रखे टी सैट में चाय का पानी व दूध चीनी अलग-अलग रहते हैं। अपनी रुचि के अनुसार हर व्यक्ति दूध चीनी मिला सकता है। अन्य नियमों का ध्यान भी आवश्यक है जैसे प्लेट में चाय की बूंद भी न गिरे, कप को पांचों अंगुलियों से नहीं पकड़ा जाय, आदि। पचीस घर आगे तक चाय सुड़कने की आवाज करने वालों को चाय पीने का अधिकार नहीं है। चाय पीते समय कप-प्लेट व चम्मच की खनक के अलावा कोई आवाज नहीं होनी चाहिए। हां, छोटी-छोटी मनोरंजक बातों का क्रम आदि से अंत तक चलते रहना आवश्यक है। पुरुषों को यथासंभव कोट पैंट पहनना चाहिए। अपने घर में हो तो गाउन या नाइट सूट आदि में चल सकता है। यों अब देशी पोशाक भी स्वदेशभिमान के नाते चलने लगी है।

रंजन चाहे जब दिलचस्प बातें कर सकती थी। समय की मांग है कि अधिक से

अधिक बातों को जाना और कहा जाय। अतः रंजन ने खूब बातें की। कृष्णकांत में भी यह योग्यता थी। अपने खुले व्यवहार के कारण समझ में आ जाता है कि अमुक व्यक्ति काफी घूमा-फिरा है।

बातों ही बातों में रंजन ने पूछा :

"भैया, अंग्रेजों के संबंध में अरुण जी के विचार बदल सकते हैं या नहीं ?"

"शायद नहीं ! मेरा ख्याल था कि अरुण यदि यूरोप आदि घूम आये या फिर यहीं यूरोपीय समाज के बीच रहे तो इसके विचार बदल सकते हैं और इसीलिए मैं इसे यहां लाया भी था। किंतु अब मुझे संदेह होने लगा।"

"यानी अरुण बाबू ठीक हैं और आप गलत। नहीं ?"

"हो सकता है।"

अरुण को यहां इस प्रकार की बातों की आशा नहीं थी। कृष्णकांत उसके क्रांतिकारी विचारों से परिचित थे और स्वयं वे पूंजीवादी थे। उसे आश्चर्य हुआ कि क्यों कृष्णकांत उसके विचारों को मान्यता दे रहे हैं ? पिछली रात ही उन्होंने अंग्रेज अधिकारी को भोज दिया था। चाय पर हाथ रोककर अरुण सोच में डूब गया।

"आप तो कुछ ले ही नहीं रहे हैं।" रंजन ने अरुण की विचार तंद्रा तोड़ी। अरुण ने एक बिस्किट उठा लिया।

"हां ··· आप तो चाय के विरुद्ध होंगे न ?"

गांधी जी ने देशभक्ति के आदर्श में इतना परिवर्तन कर दिया है कि देशभक्त में हर कोई संपूर्णता की ही अपेक्षा करता है। बारह-पंद्रह वर्ष पूर्व विदेशी वस्त्र पहनकर स्वदेशी के लाभ समझाना संभव था। साहबी कपड़े पहनकर अंग्रेजों को निर्दयतापूर्वक कोड़े मारने वाला कहा जा सकता था। रेलगाड़ी में विशेष सैलून लगवाकर यात्रा करने वाले देश सेवक, वकील और लखपति मिल-मालिकों को भारत के गरीब खेतिहरों का करुण वर्णन करने का पूरा हक था। पर अब वह समय नहीं रहा। देशभक्त कहलाने वाले को तलवार की धार पर चलना पड़ता है। सफेद टोपी पहनने वाले का चाय पीना भी लोगों को अजीब लगता है। बीड़ी पीने पर उनके प्रति लोगों के मन में अश्रद्धा हो आती है ! बहुधा लोग मुंह पर ही सुना देते हैं 'वाह साहब। सफेद टोपी पहनकर भी चाय-बीड़ी नहीं छूटती ?'

उस महापुरुष की विराट परछाई संपूर्ण देश पर पड़ रही है। देशोन्नति के किसी भी प्रश्न पर बोलने वाला चाहे हिंदुत्व का पक्षपाती हो या अंग्रेजों का विरोधी——उसे गांधी जी का अनुयायी समझ लिया जाता है। पहले के नेता बेचारे कहीं कोने में जा पड़े हैं और प्रजा द्वारा स्वीकृत सभी नेता गांधीजी के अनुयायी बन गये हैं। नवजीवन की प्रति हाथ में लिये घूमता खादीधारी ग्रामीण या सभाओं को कंपाने वाला शहरी स्नातक, सभी गांधी की ही व्यापक मूर्ति प्रतिस्थापित करते हैं।

अरुण को उस महापुरुष की ऐसी व्यापकता स्वीकार्य नहीं।

इतना वह अवश्य मानता है कि गांधीजी एक समर्थ पुरुष और त्यागी लोकनायक हैं किंतु उनकी अहिंसा और संयम की अतिशयता में उसे धार्मिकता के ही पुनरावतार का आभास होता है। वह देशभक्त था किंतु गांधीवादी नहीं। और चाहता भी था कि उसे इसी रूप में समझा, माना जाय। उसकी अपनी मान्यता थी कि वह गांधीयुग से भी आगे है——साम्यवादी है और वह कहा करता था कि गांधीजी को अभी साम्यवादी दर्शन की पूरी समझ ही नहीं है।

रंजन की बात सुनकर बोला : "आपने यह कैसे मान लिया कि मैं चाय का विरोधी हूं ?"

"इसलिए कि कई देशभक्त चाय पीते हैं और चाय का विरोध करते हैं।"

"मैं तो सुखशांति का पक्षधर हूं, गांधीवादी नहीं।"

"फिर आपने कोई अच्छी नौकरी क्यों नहीं स्वीकार की ?"

"इसलिए कि जब तक अपना शासन नहीं हो जाता, हमें पूरा सुख नहीं मिल सकता।"

"गांधीजी भी तो यही कहते हैं।"

"मेरा और उनका मार्ग अलग है। वे मात्र मरने में विश्वास रखते हैं जबकि मैं मारकर मरने में।" उसे लगा कि गांधी जी से मतभेद दर्शाने में उसने मिथ्याभिमान दर्शाया है। वे समग्र विश्व का ध्यान आकर्षित करने वाले महापुरुष हैं और वह कुछ दिन की वाहवाही लूटकर भुला दिया जाने वाला युवक मात्र। जब तक हिंसात्मक क्रांति की जीत नहीं होती, किसी की भी समानता गांधीजी के साथ अशक्य है।

किंतु यही अशक्य परिस्थिति उसे हमेशा साहस और प्रेरणा देती रहती थी। उसे इतना विश्वास था कि कभी विजय मिली तो अहिंसा को नहीं हिंसा को ही मिलेगी।

उसका वाक्य सुनकर कृष्णकांत उसकी ओर देखकर कुछ हंसे और बोले : "यह तो कोई बात है।"

सुरभि इन सारी चर्चाओं में कभी कोई रुचि नहीं लेती। अच्छी से अच्छी बात भी उसे उत्साहित नहीं कर पाती थी। उसके लिए जैसे दुनिया का सारा आनंद समाप्त हो गया था। आज उसे आश्चर्य हुआ कि मात्र यूरोपियनों का प्रशंसक कृष्णकांत उसके भाई का पक्ष कैसे ले रहा था।

चाय के बाद रंजन ने अरुण को याद दिलाया कि जनार्दन के यहां जाने का समय हो गया है। अरुण तैयार ही था इसलिए यह कतई जरूरी नहीं था कि हर काम के लिए अलग-अलग कपड़े हों। गांधीयुग में और कई बातों के साथ-साथ वेशभूषा के नियमों में भी सहजता आयी है। सफेद धोती-कुर्ता और टोपी हर व्यक्ति और हर अवसर के अनुकूल सिद्ध हो चुके हैं।

अरुण यद्यपि गांधीजी के अहिंसावाद का विरोधी था तथापि गांधीवाद के अन्य ग्राह्य अंशों को स्वीकारने को वह हर समय तैयार रहता था। खादी के प्रति उसमें कोई आग्रह नहीं था और न ही तकली, चर्खे के प्रति श्रद्धा। फिर भी पराधीन गरीब देश के लिए गांधीजी ने जिस प्रकार के कपड़ों का सुझाव दिया था वह अरुण को ठीक लगा था, और वह भी खादी पहनने लगा था।

उसे चलने से पूर्व मात्र टोपी ही पहननी थी। वैसे कई बार वह टोपी भी नहीं पहनता था। लेकिन रंजन के लिए चाय के कपड़े पहनकर बाहर निकलना संभव नहीं था। कार निकालने का आदेश देकर वह कपड़े बदलने चली गयी।

कपड़े बदल वह बाहर निकली तो अरुण उसकी ओर देखता ही रह गया। पिछले दिन जैसी झिलमिलाहट आज उसे नजर नहीं आयी। आज वह सफेद कपड़े पहने थी और इन कपड़ों में पिछले दिन की अपेक्षा कहीं अधिक खिल रही थी।

यह शोभा किस की है ? कपड़ों की या तन की ? अरुण ने सोचा और पहली बार उसने रंजन की ओर ध्यान से देखा।

'देखिये, स्वदेशी मिल के कपड़े तो मैं अकसर पहनती हूं, पर आपकी यह खादी मुझसे नहीं पहनी जाती। चुभती है।" रंजन समझ गयी थी कि अरुण को उसका सादा वेश देखकर आश्चर्य हुआ है। उत्सवों में जरी और कीमखाब, मंच पर रंगीन रेशम और भाषण के समय सफेद मलमल धारण करने वाली ललनाएं वर्तमान युग का जीवंत चित्र हैं।

"मुझे भी खादी के प्रति कोई आग्रह नहीं है। स्वदेशी वस्त्र हो यही काफी है।"

दोनों कार में बैठे। अरुण कार के एक कोने में जा बैठा। आज उसे पहली बार लगा कि एकांत में नारी भय भी उपजा सकती है। उसने तीन चार बार बोलने का असफल प्रयत्न किया। लगा, कहीं कुछ मूर्खता न हो जाय।

रंजन भी शांत ही थी। चेहरे पर शालीन मुस्कान थी। सुबह का समय था इसलिए अधिक परिचित नहीं मिले। फिर उसका चेहरा था ही हंसमुख। अरुण को लगा, इसके चेहरे पर हंसी आकाश के तारों की तरह जगमगाती रहती है।

सामने से एक यूरोपियन जोड़ा आ रहा था। रंजन ने उनके सामने रूमाल हिलाया। उन दोनों ने अनदेखा कर दिया। ड्राइवर ने कार धीमी करके दंपति के पास रोक दी।

रंजन ने उन्हें पुकारा : "गुड मार्निंग।"

पुरुष अनजान-सा इधर उधर देखता रहा और महिला ने नकली मुस्कान के साथ गर्दन हिला दी। और आगे बढ़ गये।

"मंकी ब्रांड।" रंजन धीरे से बड़बड़ायी।

"कौन थे ?"

"यहां के कलक्टर और उनकी मेम साहब।"

"वे लोग रुके क्यों नहीं ? कल तो कलक्टर तुम्हारे यहां खाने पर आये थे।"

"कल भैया से इनकी कुछ बोलचाल हो गयी थी इसलिए अपमान करके बदला ले रहे हैं।"

"किस बात पर ?"

"आप को लेकर।"

"मुझे लेकर ? मैं तो सम्मिलित ही नहीं था।"

"फिर भी आपकी चर्चा चल गयी थी।"

"कैसे ?"

"बात ही बात में भैया ने कह दिया कि सरकार का एक शकदार तो उनके ही घर में है। उन्होंने पूछताछ की। फिर बोले, ऐसे आदमी को तुरंत घर से निकाल दो। भैया के मना करने पर नाराज हो गये। कौन परवाह करता है इनकी ?"

अरुण चिंता में डूब गया। मैं अपने ही एक आत्मीय को परेशानी में नहीं डाल रहा हूं ?

अपराधी के लिए तो कैद में भी जगह है। लेकिन शकदार ··· उसे तो राज्य में भी खड़े रहने को स्थान नहीं। और शक किस बात का ? देशभक्ति का ?

क्या अपेक्षणीय है ? देशद्रोह या राजद्रोह ?

9. अहिंसा

ऐसा कौनसा दैवी तेज होगा जो
पूरे विश्व के अंधकार को, और
ऐसा कौनसा ब्रह्मतेज होगा जो हर
हृदय के अंधकार को लीलेगा ?

—न्हानालाल

कार रुकते ही अरुण की विचार-शृंखला टूटी।

"आश्रम आ गया।" रंजन ने कहा।

आश्रम की कोई भव्य इमारत नहीं थी। एक पंक्ति में छोटी-छोटी झोपड़ियां, उनके पास के मकान का बरामदा कुछ बड़ा था। उसके अंदर एक बड़ा कमरा था। दो एक छोटी-छोटी कोठरियों और चपटी-सी काटेज भी आश्रम के अहाते में थी। पिछली ओर छोटा-सा मैदान था। कहीं कहीं फूलों के पौधे और नीम के पेड़।

अरुण और रंजन बरामदे में गये। मात्र एक धोती पहने, कंबल पर बैठे जनार्दन दोनों को आते देख उठ खड़े हुए।

"आइये, आइये। आप ही की प्रतीक्षा कर रहा था।" हाथ की पुस्तक एक मेज पर रख, आगे बढ़कर जनार्दन बोले।

नमस्कार करके रंजन ने पूछा, "कुछ देर हो गयी। है न ?"

"कोई बात नहीं। मैं तो कभी से सोच रहा था कि अब तक बिजली क्यों नहीं चमकी।"

अरुण ने रंजन की ओर देखा। रंजन ने हंसकर उसकी शंका का समाधान किया: "जनार्दन जी मुझे बिजली कहते हैं।"

अरुण को यह उपनाम बहुत ठीक लगा। वह भी जैसे सहमति पूर्वक मुस्करा दिया और मेज पर रखी पुस्तक की ओर इंगित कर पूछा :

"आप क्या पढ़ रहे थे ?"

"पुष्प के प्राण ?"

"विमोचन की पुस्तक आपके पास कैसे ?"

"अभी-अभी दे गया है।"

"विमोचन यहीं है क्या ?"

"हां। अपने संग्रामगीत समझा रहा है सबको।"

औरों के मुख से अपने गीत सुनकर किस कवि को खुशी नहीं होती ? ऐसा कवि बिरला ही होगा जिसे यह लोभ न हो कि लोग उसकी कविता को सस्वर पढ़ें।

"आपको कैसी लगी यह पुस्तक ?" रंजन ने जनार्दन से पूछा।

किसी भी पुस्तक को खराब कहने का समय अब नहीं रहा। कोई उस पुस्तक को खराब कह दे तो भी लेखक के लिए अंतर नहीं पड़ता। इसलिए जनार्दन बोले :

"पुस्तक अच्छी है।".

"कोई कमी नहीं ?"

"यह तो साहित्यकार ही बता सकते हैं।"

जनार्दन कुछ हिचके, विमोचन की पुस्तक में कमियां बताने पर कहीं रंजन तो बुरा नहीं मान जायेगी। वे उनमें से नहीं थे कि सामने वाले व्यक्ति को कोई बात शूल की तरह चुभे तो चुभे पर हम तो खरी कहने वाले हैं—के अंदाज में अप्रिय सत्य भी कह दें।

हिचकिचाते हुए बोले : "एक प्रकार से तो पुस्तक काफी आशाजनक है। बस जरा डिफ्यूज वबोर्ज मेरा मतलब शब्दालु और ग्रिप में भी जरा मन को बांधने को कमी ··· लगती है।"

"आज की लगभग सभी कविताओं जैसी नहीं ?" अरुण ने संपूर्ण वर्तमान कविता पर टिप्पणी की।

"लो वह विमोचन आ गया। तुम दोनों पुस्तक की बात करो, मैं अरुण को आश्रम दिखा लाता हूं।" वे अरुण को साथ ले पास के कमरे में चले गये। विमोचन

के साथ अन्य आश्रमवासी युवक भी आ रहे थे। आश्रम के सात्विक वातावरण में रहकर भी वे कोमलांगियों को देखकर आंखें बंद नहीं कर लेते। सृष्टि के अंत तक स्त्री-पुरुष रहेंगे और उनका आकर्षण भी रहेगा ही। आश्रम निवास का सयंम उन्हें कुछ ऊंचा, कुछ सूक्ष्म और कुछ अपार्थिव भी बनायेगा अवश्य, लेकिन आंखों का सारा जादुई अंजन पुंछ जाने का भय निर्मूल है।

आश्रम के अलग-अलग भाग दिखाते हुए जनार्दन बोले, "अब तुम्हारी क्या करने की इच्छा है अरुण ?"

अरुण ने चौंक कर जनार्दन की ओर देखा। वह स्वयं भी अपने भविष्य की रूप-रेखा के संबंध में ही सोच रहा था।

"अभी तो कुछ भी तय नहीं। पर शायद बनारस या कलकत्ता जाऊंगा।"

"वहां जाकर क्या करोगे ?"

"कई मित्र है वहां।"

"यानी गुजरात तुम्हें अपात्र लगता है ? तुम्हें डर है कि गुजरात में बम नहीं बनाये जा सकते ?" जनार्दन की आंखें इस समय जैसे अरुण के अंतर के कोने-कोने को देख रही थीं।

"गुजरात में गांधी जी के रहते कुछ संभव नहीं।" अरुण बोल तो गया किंतु उसे लगा कि जनार्दन जैसे अहिंसक के सामने गुजरात की अहिंसक शक्ति के विषय में बोलना उचित नहीं। बात का रुख पलटने की दृष्टि से उसने कहा :

"लेकिन आपने यह कैसे समझ लिया कि मैं बम बनाऊंगा ?"

"तुम्हारी उम्र में मैं भी ऐसे ही सपने देखा करता था।"

"मैं सपने नहीं देखता।"

"सपनों को सच बनाने की कोशिश करते हो। क्यों ?"

अरुण ने कोई उत्तर नहीं दिया। जनार्दन ने उसे आश्रम का छोटा-सा पुस्तकालय भी दिखाया। इतिहास, राजनीति और कई सामाजिक ग्रंथ।

"पूरे अध्ययन के बिना में किसी को बोलने या लिखने नहीं देता।"

"यह तो अच्छी बात है।"

एक नकशा दिखाकर जनार्दन बोले :

"देखो यह विश्वयुद्ध से पहले की पृथ्वी है और यह बाद की। कितना परिवर्तन।"

"यह परिवर्तन अहिंसा से तो नहीं हुआ था न ?" व्यंग्यपूर्वक अरुण ने पूछा।

जनार्दन हंसे, "अहिंसा द्वारा हुए परिवर्तन देखने हैं ? उन्हें देखने के बाद तू अहिंसा का भक्त बन जायेगा।"

"अपनी संतुष्टि के बिना नहीं।"

"हां संतुष्टि तो पहली शर्त है। तू तो मेरे ख्याल से आध्यात्मिकता की बजाय भौतिकता में ही विश्वास करता होगा।"

"आध्यात्मिकता का कोई उपयोग होगा, पर मुझे नजर नहीं आता। आत्मा एक है, अजर अमर है--ये सब मुझे व्यर्थ लगता है। ये बातें हमें कमजोर बनाती हैं।"

"तब उसे छोड़। मैं तुझे कुछ चित्र दिखाता हूं।" एक मोटे से एलबम का चित्र सामने कर जनार्दन बोले, "देख यह क्या है ?" हंसकर अरुण ने कहा : "आदिम-मानव। बंदरों की वांशिकता की बात यहां समझ में आती है।"

"यह क्या कर रहा है ?"

"अहिंसा तो नहीं सिखा रहा है। पत्थर का भाला लिये किसी राक्षसी प्रकार के पशु के पीछे दौड़ रहा है। और उसके पीछे एक और भयानक पशु झपट रहा है।"

"हिंसा का मूल पाठ नहीं है ? दूसरा चित्र देख। क्या है ?"

"किसी जामवंती के पास आपका आदि मानव बैठा है।"

"इन बेचारे असुंदर मनुष्य को देखकर हम भले ही हंसे। इन्हें तो एक दूसरा असुंदर नहीं लगता न ?"

"नहीं जी। ये तो किसी रोमांटिक उपन्यास के नायक-नायिका लगते हैं।"

"आज के प्रगतिशील युवक-युवती भी दस हजार वर्ष के विकसित मानव को शायद जाववान और जाबवंती सरीखे लग सकते हैं, क्यों ? खैर, यहां कोई हथियार नजर आता है ?"

"वह दूर फेंक दिया गया है। खाना तैयार पड़ा है और प्रेमी युगल एक दूसरे को खिलाने को आतुर प्रतीत होते हैं।"

"यह है सृष्टि की पहली अहिंसा। पुरुष और स्त्री एक दूसरे के सामने हथियार फेंक देते हैं। अहिंसा का पालन न किया जाता तो…"पृष्ठ पलटते समय जनार्दन

ने वाक्य पूरा किया; "यह तीसरा चित्र संभव था ?"

अब अरुण को चित्रों में रस आने लगा था : "यह तो आदि मानव का परिवार है ।"

"हिंसा तो नहीं है न ? भाले तलवारों से बांध-काटकर तो बच्चे नहीं पलते न ?"

"वैसा होने पर बच्चे बढ़ेंगे कैसे ?"

"यानी यह अहिंसा का दूसरा कदम । आगे बढ़े । फिर यह आ गयी हिंसा । ये दो समूह हैं न ?" अगला चित्र निकालकर जनार्दन ने दिखाया । दोनों समूह एक दूसरे को कुचल रहे थे । कोई मर चुका था कोई अंतिम श्वास ले रहा था, कोई नीचे गिरा जा रहा था और शेष प्राणी खूंखार युद्ध में लगे थे ।

"यह भी अहिंसा ही है क्या ?" अरुण ने पूछा :

"हां, अहिंसा का ही मार्ग है। तुमने तो समाज-शास्त्र का अध्ययन किया है न ? बताओ दोनों पक्ष क्यों लड़ रहे होंगे ?"

"यह नीचे ही तो लिखा है : भोजन और स्त्री की प्राप्ति के लिए ।"

"एक परिवार के पालन में अहिंसा नहीं थी । दो परिवारों के इकट्ठा होते ही टकराहट हो गयी । खैर, ये हिंसा की ओर प्रवृत्त हुए । और फिर इस हिंसा का समाधान कैसे हुआ—बताऊं !" कहकर जनार्दन ने नया पृष्ठ खोला । बहुत से लोग बैठे थे । कई स्त्रियां इधर-उधर घूम रही थीं और छोटे बच्चे जंगली खेल-खेलते हुए अपने जंगली माता-पिता का ध्यान आकर्षित कर रहे थे ।

"दो समूहों के युद्ध के परिणामस्वरूप दो समूह इकट्ठे हो गये हैं। एक समूह की पुत्रियां दूसरे समूह में जाकर मां बन गयी थीं । ऐसे में दोनों समूह एक नहीं होते तो क्या करते ? इस प्रकार एक बड़े मानव समूह की सृष्टि हुई । अहिंसा का तीसरा चरण ।"

पूरे एलबम में इसी प्रकार अहिंसा को अनुलक्षित कर मानव सृष्टि के विकास को चित्रांकित किया गया था । मानव विकास के इतिहास को अच्छी तरह देखा जाय तो सहज ही पता चल जाता है कि विकास के किसी महाप्रवाह की लहरों के साथ-साथ मानव जाति हिलोरें खाती आगे बढ़ती रही है । कुटुंब, कबीले, गोत्र, जाति और अंततः प्रजया या राष्ट्र की बढ़ती हुई सीमाओं को स्वीकारते हुए संस्कारवान होने के साथ-साथ भौतिक और मानसिक साधनों से अधिकाधिक संपन्न होकर

मानव जाति संगठित होती जा रही है। मनुष्य ने कुटुंब संगठित किया और वहां से हिंसा को परे कर दिया। फिर कबीले की रचना की और वहां से भी हिंसा को निष्कासित किया। फिर धीरे-धीरे गोत्र और जाति की घाटियां पार करते हुए पूरे समुदाय से हिंसा को बहिष्कृत किया। इसके बाद राष्ट्र की रचना के साथ-साथ प्रजा को हिंसा से मुक्त कर दिया। एक ही परिवार के कुटुंबी अपने झगड़ों के निवारण के लिए हिंसा का आश्रय नहीं लेते। हिंसा का आश्रय लेनेवाला अपने परिवार का अपराधी होता है। एक ही राष्ट्र की प्रजा आपसी विवाद के लिए तलवारें नहीं टकराती। यदि कोई भूले से तलवार उठाता भी है तो वह पूरे राष्ट्र का, सारी प्रजा का द्रोही होता है। आज के मानव ने हिंसा को राष्ट्र की सीमा के बाहर ठेल दिया है।

जनार्दन चित्रों द्वारा ऐसा ही कुछ सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे। चित्र आकर्षक थे और उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का दर्शन भी अरुण को पसंद आया, पर इतने भर से ही उसकी अहिंसा के प्रति अश्रद्धा में कोई कमी नहीं आयी थी। बीच-बीच में उसे अहिंसा की हंसी उड़ाने की इच्छा हो आती थी : "हिंसा को राष्ट्र की सीमा से निष्कासित करने पर दुनिया में हिंसा समाप्त हो गयी। क्यों ? आप उन चार वर्षों को भूल गये––उन्नीस सौ चौदह से उन्नीस सौ अठारह तक ?" अरुण ने कटाक्षपूर्वक कहा।

"विद्यार्थीकाल में लोगों के मुंह से या गुजराती समाचार पत्रों द्वारा जब उस युद्ध की बातें तुम तक पहुंचती थीं, तब मैं उस जर्मन युद्ध के बीच ही घूम रहा था। यह बात में कैसे भूल सकता हूं ?"

"यानी अहिंसा के पुजारी आप भी उस हिंसक मारकाट में भागीदार थे ?"

"ऐसा होने पर भी क्या बुरा हुआ ? उस युद्ध में हिंसा के पोषक अधिकांश तत्व जलकर राख हो चुके हैं।"

"मैं समझा नहीं।"

"आगे के ये चित्र देखो। जर्मन युद्धका क्या परिणाम इसमें नजर आ रहा है?"

"एशिया के जार जर्मनी के केसर और तुर्किस्तान के सुल्तान अदृश्य हो गये।"

"फिर भी तुम नहीं समझे ? हिंसा की पोषक, व्यक्तिगत राजसत्ता समाप्त हो गयी। राजा ही राजा हो राज्य का अंतिम अधिपति नहीं है, यह संभावना

अंततः सिद्ध होकर रही। छत्रपति के नाटक का वह अंतिम अंक था।"

"पर उससे क्या ? अहिंसा फिर भी कहां आयी ?"

"अगला चित्र निकालकर जनार्दन ने कहा :

"देखो, अहिंसा यहां आयी।"

"यह तो संयुक्त राष्ट्रसंघ का चित्र है।"

"यानी राष्ट्र धर्म का मिथ्यात्व। हिंसा के संपूर्ण साधन संजोकर रखने वाले राष्ट्रों से पूछो जाकर कि उन्हें हिंसा ने क्या दे दिया ?"

"विजेता राष्ट्र को विजय और क्या ?"

"नहीं। यदि सचमुच ही सभी को विजय मिल पाती तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की कल्पना ही न होती। अब जाकर सभी की समझ में आया है कि जब दो व्यक्तियों का विवाद पंच फैसले द्वारा सुलझ सकता है तो राष्ट्रों के विवाद समाप्त करने को तलवारें टकराने की क्या आवश्यता है ? अब राष्ट्रों का मिथ्याभिमान ढह गया है। सब राष्ट्र मिलकर राष्ट्रीय सीमाओं को लांघ कर मानव और मानव राष्ट्र बनाने के प्रयत्न में हैं और इसी मंथन में हम हिंसा को इस दुनिया से भी निकाल बाहर करेंगे। आज नहीं, सौ साल बाद सही।"

जनार्दन की आंखें चमक रही थीं। किसी महान दार्शनिक या कि पागलपन की सीमा तक संसार की व्यवस्था तोड़ कर आगे बढ़ने वाले मानव की आंखों में ही वह चमक देखी जा सकती है। दो हजार वर्ष पूर्व पागल बुद्ध ने भी बांग दी थी कि अहिंसा ही परम धर्म है। भारतवर्ष, चीन, जापान और मध्य एशिया ने इस पुकार को सुना था। और आज पागल गांधी ने पुकारा है : अहिंसा परम धर्म है। इसका तो धर्म में ही उपयोग है न ? गांधी कहते हैं, मात्र धर्म में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक भाग में राज-प्रकरण तक में उसका उपयोग है। और क्यों नहीं ? धर्म, यानी मात्र कर्म कांड नहीं––धर्म यानी संपूर्ण जीवन।

ये दोनों ही भेषधारी क्या पागल होंगे ? संसार को विचलित करने की सामर्थ्य किस में होती है ? उत्तर इसी विश्व के इतिहास से मिलता है : पागलपन : उन्माद यानी प्रगति––बहता पानी। चातुर्य यानी स्थैर्य––गति का अभाव––घिरा हुआ पानी। सभ्य राष्ट्रोंने समझ लिया है कि हिंसा मिथ्या है। और जब हिंसा मिथ्या है तो क्यों नहीं हिंसा रहित साधनों द्वारा राष्ट्रों के बीच पुल बांधे जायें। और जाने

अनजाने राष्ट्रों ने अहिंसा की विजय-पताका राष्ट्रसंघ पर फहरा दी। आवाज उठी : राज्यों के झगड़े हिंसा के बिना ही सुलझाये जायें। विकास संस्कृति का एक नया चरण।

अरुण ने जनार्दन की आंखों की चमक देखी। ऐसी चमक किसी कायर की आंखों में संभव नहीं। निश्चिय ही जनार्दन हंसकर उड़ा देने योग्य पात्र नहीं थे।

"ये चित्र किसने तैयार किये ?" अरुण अपनी जिज्ञासा रोक नहीं पाया।

"रंजन और पुष्पा ने मिलकर ?"

रंजन को तो अरुण जान गया था लेकिन यह पुष्पा कौन है ? पूछने का मन हुआ। नाम से ही नामों की विवेचना भी हो पाती तो कितना अच्छा रहता। पर यह संभव नहीं। और अपरिचित नाम का परिचय संभव नहीं––विशेष रूप से स्त्री-वाचक नामों का। अंततः अरुण पुष्पा के विषय में पूछना टाल गया।

"चित्र बहुत बढ़िया हैं। पर अभी अहिंसा मेरे गले नहीं उतरी। आपने स्वतंत्र राष्ट्रों की बात की। किंतु दूसरों की गुलाम प्रजा को अहिंसा क्या देगी ?"

"अभी कुछ देखना बाकी है क्या ?" पीछे से रंजन की आवाज आयी।

"आश्रमवाले परिचय करना चाह रहे हैं। सबसे मिल तो लो ?" कहते हुए रंजन कमरे में आ गयी। एलबम बंद कर जनार्दन बोले :

"बनारस जाने से पूर्व तुम यहां एक महीना रहो तो कैसा रहे, अरुण ?"

"बनारस कैसे जारहे हो ?" रंजन ने पूछा।

"इसे संन्यासी बनना है।"

रंजन कुछ बोली नहीं। क्षण भर के लिए उसने अरुण को ध्यान से देखा।

10. स्थितियों की करवट

तुझ तक उड़ आने का प्रयत्न करता हूं किंतु सोचते ही मेरे पंख शिथिल होकर झड़ जाते हैं। जब तू मुझे होश में लाने का यत्न करती है तो होश में आते ही मेरा यह हृदय तेरे रुदन से टूक-टूक होने लगता है।

—कपाली

"बनारस जा रहे हो ?"

"इच्छा तो है, पर अभी तय नहीं।"

"हमारे साथ काश्मीर चलो तो ?"

"काश्मीर देखने का मन तो है।"

"तो बनारस बाद में जाना।"

जनार्दन के आश्रम से लौटते हुए कार में रंजन ओर अरुण बात कर रहे थे।

सारे दिन सोचने के बाद उसने अभी बनारस जाना स्थगित कर दिया। उसके साथी अभी बिखरे हुए थे। संगठन बिखर चुका था। बनारस और कलकत्ता पर वैसे ही पुलिस की कड़ी दृष्टि थी। उसकी अपनी सभी गतिविधियों पर भी पुलिस का ध्यान रहता था। ऐसे में यदि इन जगहों में जाकर रहा तो निश्चित ही पुलिस उसके कामों में हस्तक्षेप करेगी। यानी वह कुछ समय कहीं शांति से बैठकर देश के वातावरण को समझबूझ कर क्रांति की कोई प्रभावपूर्ण योजना तैयार कर सके तो कैसा ?

यहां जनार्दन की संस्था कार्यरत है ही। उसके पास साधन भी हैं। उत्साही कार्यकर्त्ता भी हैं। इस संस्था का ही लाभ उठाया जाय तो ? नीरस, पौरुषरहित अहिंसा की जगह हिंसात्मक विप्लव इस युग को अधिक आकर्षित कर सकता है।

यदि जनार्दन के प्रभाव को कम करके कार्यकर्त्ताओं को अपने मार्ग पर चलाया जा सके तो ? क्यों नहीं इस अवसर का लाभ उठाया जाय ?

कोई भी तर्क अंततः उसे जनार्दन की संस्था से जुड़कर वहीं रहने के निश्चिय से हटा नहीं सका। शाम को कृष्णकांत ने उसे अपने साथ क्लब में चलने के लिए कहा लेकिन अरुण ने मना कर दिया। विशेष पोशाक में ही यूरोपियनों के क्लब में जाने का नियम पालन करना उसके लिए संभव नहीं था। उसके वजाय घर में रह कर सुरभि के साथ बातें करना अधिक अच्छा था।

इंगलैंड के सिले और फ़ांस के इस्तरी किये कपड़े पहनकर कृष्णकांत क्लब गये। वे कुछ देर से ही जाते थे। समय होता तो कुछ देर टेनिस खेलकर बिलि-यर्ड खेलने में जुट जाते थे। जब भी वह क्लब जाते, उनके आसपास मित्रों की भीड़ लग जाती। बड़े क्लबों में ड्रिंक्स बिना चलता ही नहीं। उदारतावश कृष्णकांत प्रायः सबके ड्रिंक्स का व्यय स्वयं वहन करते। उदार व्यक्ति को मूर्ख माना जाता है। अतिरिक्त उदारता की कई हानियां हैं। ऐसे व्यक्ति को फिजूलखर्च कहकर उसका अधिक-से-अधिक लाभ उठाते हैं और पीठ पीछे मूर्खकहने में भी नहीं चूकते। प्रश्न यही है कि फिजूलखर्ची और कंजूसी में से कौन सा अवगुण अधिक खराब है ?

क्या कहा जा सकता है ? जिसे जैसा अच्छा लगे। हां विकास की दृष्टि से कुछ अंतर पड़ सकता है। कंजूसी विकास के लिए अधिक अनुकूल है या उदारता— इसका निर्णय भी कोई मानवशास्त्री ही दे सकता है। दुनिया फिजूलखर्च की तरफ ही बढ़ती है, कंजूस की तरफ नहीं।

आज क्लब में जाने पर कृष्णकांत के आसपास यूरोपियन मित्रों का जमाव नहीं हुआ। कई तो अपने खेल और बातों में इस तरह लगे रहे जैसे उन्हें पहचानते ही न हों। दो-चार ने उनकी ओर देखा भी तो ऐसे, जैसे विशेष परिचय न हो। बिलयर्ड में उनके साथी ने अपना नाम वापस ले लिया और शेष दो ने खेलने से ही इंकार कर दिया।

कृष्णकांत को लगा कि उन्हें अपमानित किया जा रहा है। यों वे अपनी सर-लता, उदारता और बुरा न मानने की आदत के कारण प्रसिद्ध थे। उनका शायद ही कभी किसी से विवाद या झगड़ा हुआ हो। बातचीत में कटुता का अंश आते ही वह बात बंद कर देते। कभी किसी का दिल न दुखाने की अपनी प्रकृति के

कारण उनकी सभी से मैत्री थी। किंतु सप्रयोजन किये गये इस अपमान को वह सह नहीं सके। उन्हें लगा कि क्लब से एकमात्र भारतीय सदस्य को निकाल बाहर करने का विदेशियों द्वारा षड्यंत्र रचा जा रहा है। वे इस प्रकार उनका मौन तिरस्कार करके शायद उन्हें ध्यान दिलाना चाहते हैं कि उनकी शासकीय क्षेत्र में कोई स्थिति नहीं है। अंग्रेजों को सभ्यतापूर्वक बिना बोले ही अपमान करना खूब आता है।

उन्हें क्रोध हो आया। अंग्रेजों के निकट संपर्क में रहने के कारण कृष्णकांत को एक लाभ हुआ था। उनके लिए यूरोपियन देवता या पूज्य नहीं थे। न ही वे ऐसे प्रेमी थे जो सदैव किसी पर कृपा करने ही को पैदा होते हैं। उन्होंने सपने में भी कभी नहीं सोचा था कि यूरोपियन उनकी अपेक्षा किसी भी रूप में श्रेष्ठ हैं। इस समय उनका यह व्यवहार देखकर आगबबूला हो उठे। वह सेक्रेटरी के पास जा कर औरों को सुनाते हुए जोर से बोले : "व्हाट द हैल डू यू मीन बाई ट्रीटिंग इन दिस एबोमिनेबल वे? व्हाट्स द आइडिया?"[1]

सेक्रेटरी ने उत्तर में कंधे उचका, हथेली सामने कर अंगुलियां फैला दीं। यानी सारा दोष सामने वाले का ही था, और किसी का नहीं। और यह बात उसे पता होनी चाहिए। यूरोपियनों का आचार व्यवहार जानने वाले भारतीयों के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी।

बात आगे बढ़ने पर कृष्णकांत को पता चला कि शासन के संदेहास्यपद व्यक्ति को अपने घर में रखने के कारण क्लब के सदस्य उनसे रुष्ट थे और उसी रोष को आज इस प्रकार प्रकट किया जा रहा था।

कृष्णकांत ने जल्दी से एक कागज पर संस्था की सदस्यता से त्याग पत्र लिख दिया। सेक्रेटरी ने उन्हें शांति से विचारकर ही कोई कदम उठाने की सलाह दी किंतु कृष्णकांत ने त्यागपत्र को मेज पर पटका और किसी से भी कुछ बोले बिना या किसी की ओर देखे बिना बाहर निकल गये। सभी की दृष्टि उन पर पड़ी किंतु उन्हें किसी की ओर देखने का समय नहीं था।

क्लब के सजीले नौकरों द्वारा किये गये सलाम की ओर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया। बाहर अपनी कार में बैठकर जोर से दरवाजा बंद किया और तेजी से

1. इस अजीब व्यवहार का मतलब क्या है? आप चाहते क्या हैं?

कार बढ़ा दी।

सामान्यतः जिसे क्रोध नहीं आता, उसका क्रोध गहरा अधिक होता है। घर पहुंचते ही उन्होंने सहज उत्फुल्ल बनने की कोशिश की, किंतु वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। घर पहुंचकर वह सबसे पहले सुरभि के पास जाते थे। बीमारी से जूझती-सी सुरभि को जैसे जीवन में कोई रस ही नहीं रह गया था। पति के प्रति उसका सारा व्यवहार यंत्रवत रह गया था।

किंतु आज कृष्णकांत के कदम कुछ और तरह पड़ रहे थे। सुरभि ने जरा ध्यान से उनकी ओर देखा। उनके सुंदर चेहरे पर कोई रूखी परछाई दिखाई दी। सुरभि की निष्प्राण-सी आंखों में प्राण स्पंदित हो उठे। रोज की तरह आज भी। कृष्णकांत सुरभि के पास आकर बैठे और नित्य की तरह उसके हाथ पर हाथ रख कर पूछा, "कैसी तबीयत है ?"

सुरभि उन्हें देखती रही। क्लब से लौटने पर कृष्णकांत के मुंह से कोई तीखी मीठी गंध आती थी। सुरभि उस गंध से ऊब चुकी थी। आज वह अवांछित गंध कहां चली गयी ? सुरभि के जीवन की खाली स्लेट पर कोई प्रश्न उभरा और उस प्रश्न का उत्तर वह कृष्णकांत की आंखों में खोजने लगी।

कृष्णकांत के लिए भी यह नया अनुभव था। विवाह के आरंभिक उन्माद के थमते ही जो नीरसता आ गयी थी, उसमें जैसे आज फिर कोई ज्वार आया था। उन्होंने फिर पूछा :

"बोलती क्यों नहीं ? ऐसे क्या देखे जा रही हो ?"

"मैं तो ठीक हूं पर तुम कैसे हो ?"

"मुझे क्या हुआ ?"

"कुछ तो जरूर हुआ है ?"

"तुझे भूत भविष्य का भी पता रहता है शायद। हैं ? अरुण कहां है ? "

"अभी तो यहीं थे। रंजन बहन अपने नये चित्र दिखाने ले गयी हैं !"

"रंजन को भी कोई मिलना चाहिए। अरुण का दिमाग चाट जायेगी। इतना होश नहीं कि इसे मेहमान को आराम भी देना चाहिए।"

बातूनी स्त्री-पुरुष आपस में क्या-क्या बातें करते होंगे ?

कृष्णकांत ने सुरभि के सिर पर हाथ फेरा। इस प्रकार बहुत दिनों बाद दोनों

को ही कुछ नयापन लगा। कोई अनोखा अनुभव।

तेजी से अंदर आती रंजन भी इस दृश्य से संकुचित हो क्षण भर को ठिठक गयी। वापस लौट जाना चाहिए या ··· वह सोच भी न पायी थी कि कृष्णकांत ने पूछा :

"रंजन ! अरुण कहां है? "

"वह आरहे हैं। आज आज उनसे मिल लो।" कहते हुए वह अंदर की ओर बढ़ी। तभी अरुण आ गया।

"आज के ही दिन क्यों ?" कृष्णकांत ने पूछा।

"कल से आश्रम जा रहे हैं।"

"किसने कहा ?"

"इन्हीं से पूछो।"

"क्यों अरुण ? यह रंजन क्या कह रही है ?"

"हम सब के लिए यही ठीक रहेगा कि मैं आश्रम में रहूं।"

"नानसेंस।"

"इनका ख्याल है भैया, कि इनके कारण तुम्हारी परेशानियां बढ़ रही हैं।"

"यानी यह मेरी परेशानियों को मुझसे भी अधिक समझता है। क्यों ?"

"इन्हें लेकर कलक्टर साहब से तुम्हारी खटपट हुई थी न ?"

"साहब।" कलेक्टर के साथ जुड़े इस सम्मानसूचक शब्द को कृष्णकांत ने तिरस्कारपूर्वक दोहराया। "इससे किसने कहा।"

"मैंने।" रंजन ने सच बात बता दी।

"तुझसे बोले बिना रहा ही नहीं जाता। मैंने कहा था तुझसे कि किसी से यह बात मत कहना ? पर चुप रह जाय तो तुझे रंजन कौन कहे ?" बहन को भाई की फटकार में छिपे प्यार को अरुण समझ रहा था। सुरभि उसे जितनी प्यारी थी, कृष्णकांत को रंजन उससे कम प्यारी नहीं थी।

"क्या करूं बात निकल गयी। सुबह तुम्हारे कलक्टर ने मेरा अपमान किया। अरुण साथ थे। तो मुझसे रहा नहीं गया।"

कृष्णकांत के पूछने पर रंजन ने पूरी घटना बता दी। अब तो कृष्णकांत को बुरी तरह गुस्सा आ गया। उनके साथ तो ठीक, लेकिन उनकी बहन के साथ

भी वे सलीके का व्यवहार नहीं रख पाये।

"मैंने भी क्लब से अपना नाम वापस ले लिया है।"

अरुण का निश्चय दृढ़तर होता गया। उसके कारण उसके बहनोई का यूरोपीय समाज में अपमान हो, बहिष्कार किया जाय, यह उसे अनुचित लगा।

"इन्हीं सब कारणों से ये आश्रम में रहेंगे।" रंजन ने बताया।

"केयर ए हैंग।[1] किसी के कहने से इस तरह भागने का कारण ?"

"पर भैया इन्होंने तो भागने का पक्का निश्चिय कर लिया है। एक नहीं तो दूसरा कारण भी इन्होंने खोज रखा है।"

"वह क्या ?"

"बहन के घर भाई को नहीं रहना चाहिए।"

"यू ओल्ड इडियट।[2] सोशलिज्म की बात करते हैं और अब भी पुरानी लीक पीटते हैं।" हंसते हुए कृष्णकांत ने अरुण से कहा।

"सोशलिज्म में भी भाई बहन तो रहेंगे ही। मानव जाति के इस पवित्रतम संबंध के साथ कई कोमल भावनाएं जुड़ी हैं। बड़े-से-बड़े राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन भी इस भावना को बदल नहीं सकते।"

बहन के घर भाई नहीं रह सकता। पिता का पूरा उत्तराधिकार अकेले भाई को सौंप कर जाने वाली बहन के ऋण को भाई जीवन पर्यंत कैसे भुला सकता है। अपनाअधिकार छोड़कर बहन भाई से वंश परंपरा का अधिकार प्राप्त कर लेती है। वह भाई के लिए पूज्य, पवित्र और वंदनीय होती है। मात्र बहन ही नहीं, बहन के बच्चे भी। उनका कुछ भी नहीं लेना चाहिए। फिर बहन के घर भाई कैसे रह सकता है ?

कृष्णकांत अरुण को साथ ले हंसते-हंसते कपड़े बदलने चले गये। वे अरुण को समझाना चाहते थे कि वह इन रूढ़ियों के पीछे पागल न बने।

रंजन भी उठ खड़ी हुई। जाते-जाते सुरभि का हाथ पकड़ कर वह हंसी। "क्यों रंजन बहन। हंस क्यों रही हो ?"

"खूब। तुम तो लगता है खूब लव करती तो।"

"यों ही झूठ नहीं बोलते। मैं तो कुछ भी नहीं जानती।"

1. गोली मारो। 2. बुद्धू कहीं के।

"मैं आयी तब क्या कर रहे थे। कोई सिर पर हाथ फेरे तो इतना अच्छा लगता होगा, क्यों ?"

"हटो यहां से। शैतान कहीं की।"

रंजन हंसते हुए भाग गयी। और सुरभि सोचने लगी : 'यह क्या हो गया ? कितने दिन बाद मेरे हृदय में धड़कन जागी है ? क्यों ?'

11. आश्रम व्यवस्था की उलझनें

पापमय लालचों से न लुभायें
मोह और स्नेह के भेद को समझें
काम और रसानंद के अंतर को जानें

—न्हानालाल

कृष्णकांत के अतिशय आग्रह के बाद भी अरुण आश्रम में रहने चला गया। चम-चमाते महलों और बंगलों के एकरस जीवन की अपेक्षा आश्रम की झोंपड़ियों का जीवन उसे अधिक स्वतंत्र लगा।

धीरे-धीरे अरुण आश्रम के कामों में डूब गया। आश्रम के पुस्तकालय पर तो जैसे उसने अधिकार ही जमा लिया। बहुत ही जल्दी उसने वहां की सारी पुस्तकें पढ़ डालीं। कई महत्वपूर्ण पुस्तकों के नोट भी तैयार किये। संसार के अधिकांश लेखक और विचारक अब तक अहिंसा को अच्छी तरह आत्मसात् नहीं कर पाये हैं। उनके लेखन को पढ़कर वह हिंसा की ओर ही खिंचता था। मात्र गांधीजी के लेखों और जनार्दन के साथ वाद-विवाद में ही उसे अहिंसा के संबंध में विचार करने का अवसर मिलता था।

युवक तेजी से सपने बुनते हैं और उन सपनों को जीवन में जल्दी ही उतार सकते हैं। यदि उन्हें बीच-बीच में समझदारी, व्यवहार, सावधानी, सुरक्षात्मकता आदि बातों से चौंकाया डराया न जाय तो वे अवश्य ही बहुत शीघ्र एक नयी सृष्टि का सृजन भी कर डालें। परंतु एक दशक जितना संक्षिप्त समय उन्हें समझ-दार, व्यवहार कुशल और सावधान बना देता है और वे स्वयं अपने सपनों को नोंच कर फेंक देते हैं। कल का क्रांतिकारी आज शांतिवादी बन जाता है। तिलक के एक-एक शब्द पर झूम उठने वाले युवक दस-पांच वर्षों में गांधी से भी घबराने

लगते हैं। युवकों को सृष्टि रचना का अवसर देने में क्या हर्ज है ? युवकों से भूलें तो होंगी ही। वृद्धों ने ही कहां कम भूलें की हैं ? फिर युवकों की भूलें संसार को आगे ही बढ़ायेंगी। वृद्धों की भूलों की तरह वे संसार की गति अविरुद्ध नहीं करेंगी।

आज भारतीय युवकों का स्वप्न है भारत की स्वतंत्रता। इस स्वप्न विकास का इतिहास चालीस वर्षों से अधिक लंबा नहीं है। छोटे बड़े अन्यायों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करने के आरंभ से लेकर पूर्ण स्वतंत्रता की मांग तक के चित्र किसी से अपरिचित नहीं हैं। शासनाधिकारियों ने भी इस अधिकार को स्वीकार किया है। लेकिन यह कहकर कि अभी भारतवासियों में स्वतंत्रता भोगने की योग्यता नहीं आयी है, वे भारतवर्ष को स्वतंत्रता का अधिकार नहीं दे रहे।

अब दोनों ओर के मतभेद को समाप्त करने के तीन मार्ग दिखाई देते हैं : नैतिक लड़ाई, हिंसात्मक लड़ाई, और अहिंसात्मक लड़ाई। लड़ाई तीनों ही हैं। नैतिक लड़ाई वृद्धों के हिस्से में आयी थी, किंतु उनके हाथों में देश की लगाम चली गयी। युवक, यानी स्वभाव से युवक हिंसा का आश्रय लेते हैं किंतु अहिंसा का विश्ववंद्य अवतार हिंसा का बहिष्कार चाहता है। वह प्रेम युद्ध की घोषणा करता है—कोई द्वेष नहीं, और कोई वैर नहीं।

वे देशभक्त सैनिकों से पूछते हैं :

"मरना आता है ?"

जो सैनिक उत्तर देते हैं, 'नहीं, मारना आता है। मारते हुए मर जायें तो आपत्ति नहीं।' उनसे गांधी कहते हैं, 'तो पहले मरना सीखो, फिर मेरे साथ आओ। मारनेवाले से मुझे कोई काम नहीं।'

भारतीय युवक परेशान है, घबरा रहा है। महात्मा का यह दर्शन राजनीति के दर्शन से एकदम अलग है। कभी किसी देश को अहिंसा से स्वतंत्र होते देखा—सुना है ?

महात्मा कहते हैं :

'नहीं सुना तो क्या हुआ ? दुनिया अब सुनेगी।'

वे एक महान तपस्या से क्रम की बात करते है 'हजारों वर्षों की पराधीनता के माप के नाश के लिए बंदूक तलवार पर्याप्त नहीं हैं। उपयोगी नहीं हैं उन पापों के

समूल नाश के लिए अहिंसा, अस्तेय और अक्रोध की संचाग्नि आवश्यक है। अग्नि में हमें दूसरों की नहीं, अपनी आहुति देनी है। जितनी जल्दी ये पाप जलेंगे, भारत वर्ष भी उतनी ही जल्दी स्वतंत्र होगा। आत्मा की मुक्ति का यह प्रयोग स्वदेश-मुक्ति के लिए उपयोगी क्यों नहीं हो सकता?'

और ये महात्मा धूनी रमाये बैठे हैं। डरते, सहमते, सकुचाते अनुयायी उनके आसपास जुट गये हैं। उन्हें कुछ-कुछ लगता है कि इस प्रकार पाप भस्म होकर विशुद्धि के अनुपात में जीवन कभी स्वतंत्र हो सकता है।

किंतु अग्नि में होम हो जाना मरने से भी कहीं कठिन है। महात्मा का यज्ञकुंड देखकर दूसरे भी हताशा प्रकटने लगे हैं। आत्मशुद्धि के इस यज्ञ में स्वयं आहुति देने की अपेक्षा कोई अग्नि प्रकटकर उसमें विरोधियों की आहुति देना कहीं अधिक सरल है।

जनार्दन का आश्रम हिंसा और अहिंसा के बीच झूलने लगा। उन्हें स्वयं अहिंसा के प्रति श्रद्धा थी। उन्होंने हिंसा के दर्शन का सांगोपांग अध्ययन किया था। उनकी मान्यता थी कि पशुबल द्वारा निर्णीत प्रश्नों के निर्णय असत्य और क्षणजीवी हैं। हिंसा के दर्शन के अनुसार तो शक्तिशाली ही सच्चा है। यदि इसी सिद्धांत को ठीक माना जाय तो पहलवान, डाकू और खूनी लुटेरे ही सत्य के सूत्रधार माने जायेंगे किंतु जब से यह स्वीकारा जाने लगा है कि श्रेष्ठता पशुबल से नहीं नापी जा सकती, राष्ट्रों के लिए भी पशुबल अवांछित सिद्ध हो चुका है।

जनार्दन इस ओर विशेष सतर्क रहते थे कि आश्रमवासियों का जीवन अतिशय सादा हो। गांव-गांव में स्वतंत्रता की लौ लगाने की दृष्टि से उन्होंने अपने साथियों को गांवों में भेजा था। किंतु अपने कार्यकर्ताओं को उनकी कड़ी हिदायत थी कि अपने काम के बीच में वे यह ध्यान रखें कि अनियंत्रित न हों और गोरों का तिरस्कार न करें। अंग्रेजी शासनकाल में भारतवासियों की उत्कृष्ट बुद्धि भी कुंठित हो जाती थी। उनकी आशाएं-अपेक्षाएं अपूर्ण ही रह जातीं, और विदेशियों द्वारा लूट-खसोट चलती ही रहती थी। इस संबंध में जनार्दन के पत्र में कड़ी आलोचना प्रकाशित होती थीं। साथ ही छूआछूत हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता, विवाह और मृत्यु संबंधी अतिरिक्त व्यय, नारी परतंत्रता आदि हिंदू समाज की बुराइयों को लेकर हिंदुओं को भी खरीखोटी सुनायी जाती थी। उनके पत्र में कभी व्यक्तिगत

टीका नहीं की जाती थी। जो कहा जाता था, संस्था, शासन रीति-रिवाज आदि को लेकर ही।

अरुण ने जनार्दन का काफी भार हल्का किया। उसके लेख काफी स्तरीय होते थे। और व्याख्यान प्रभावशाली। उसकी योजनाएं भी काफी उपयोगी सिद्ध होती थीं। जनार्दन धीरे-धीरे आश्रम व्यवस्था अरुण को सौंपते गये। हां, उनका इस ओर पूरा ध्यान रहता था कि हिंसा और द्वेष न बढ़ें। कभी अरुण की तरफ से जाने-अनजाने इस दिशा में कुछ होता तो वे उसे हर हालत में रोक देते। अब तक भी अरुण की अहिंसा के प्रति श्रद्धा नहीं जागी थी। तो भी जनार्दन के व्यवहार के कारण वह अपनी हिंसक क्रांति पर लगाम लगाये हुए था। उसके लेखों, व्याख्यानों और विचारों में अहिंसा की संपूर्ण निर्मलता अब तक नहीं आयी थी। अरुण जैसी स्थिति औरों की भी थी। कभी-कभी संस्था और सिद्धांत का विरोध करते करते व्यक्ति और उसके कार्य के प्रति तिरस्कार प्रकट हो ही जाता था। पूंजीवाद और तानाशाही का विरोध करते-करते पूंजीपतियों और तानाशाहों को, शासन-व्यवस्था का विरोध करते हुए शासकों को राक्षस के रूप में चित्रित कर दिया जाता था। अहिंसा की शिक्षा देते हुए भी कुछ ऐसी स्थिति बनी रहती कि हिंसा जाग्रत रहे।

पाप और पुण्य के बीच निश्चित सीमा-रेखा खींचना कठिन है। एक अबला के सतीत्व को बचाने के लिए खड्गबहादुर ने खून किया—वह पाप था कि पुण्य? एक मंदिर में प्रवेश करते हुए शूद्र का एक हिंदू ने लाठी मारकर सिर फोड़ दिया—यह पुण्य है कि पाप? जाने किस क्षण हिंसा अहिंसा में परिवर्तित हो उठती है और अहिंसा घोर हिंसा में—यह समझना कठिन ही है। जनार्दन ने आश्रम की अहिंसा में हिंसा के कई दाग लगे देखे। कुछ अंशों तक अरुण उसका कारण था। जनार्दन को दुःख होता है। वे अरुण को समझाते, डांटते, डराते। फिर भी अरुण में कर्तव्य भावना और देशभक्ति की भावना इतनी प्रखर थी कि अंततः जनार्दन उससे प्रसन्न और प्रभावित हुए बिना न रहे और शीघ्र ही वह सबकी अनुमति से आश्रम का मंत्री चुन लिया गया।

अरुण के आने के बाद आश्रम का शांत वातावरण कुछ तीव्र बन उठा। पहले की अपेक्षा वहां के कार्यों में नये प्रकार की जाग्रति आने लगी। पुष्पा और रंजन

के साथ मिलकर ही जो कार्य अब तक होता था, अरुण के आने पर वह काफी बढ़ गया। धीरे-धीरे आश्रम में एक महिला विभाग भी खोला गया। रंजन के नेतृत्व में कई स्त्रियां भी देश सेवा के क्षेत्र में कुछ काम करने लगीं।

दुनिया की मान्यता है कि स्त्री व पुरुष के साथ रहने पर खतरा उत्पन्न होने लगता है। इस मान्यता का आधार कुछ पुराने अनुभव हैं, अस्तु इस मान्यता को एकदम झुठलाया तो नहीं जा सकता किंतु इसी कारण अब स्त्री-पुरुषों को साथ काम करने से रोकना भी न तो उचित है और न संभव ही। मनुष्य की सहज दुर्बलता के उपरांत भी नारी पुरुष के संयुक्त प्रयत्नों से सृष्टि का कल्याण इतना संभव है कि उसमें भय होने के बाद भी इस प्रयोग का आदर ही करना चाहिए। अवश्य ही इस प्रयोग के कारण लोग हंसी उड़ायेंगे, बदनामी करेंगे, कानाफूसी करेंगे, शायद खुलकर विरोध भी करें। फिर भी कदम अब रुकने वाले नहीं हैं। यदि कभी यह अफवाह भी फैले कि प्रभात फेरी के समय एक युवक और एक युवती प्रेम-चेष्टा करते पकड़े गये हैं तो भी प्रभातफेरी का महत्व कम कर देने की आवश्यकता नहीं।

अरुण और विमोचन का झगड़ा कुछ बढ़ गया था। विमोचन को रंजन का अरुण के साथ घूमना-फिरना जरा भी पसंद नही था। वह रंजन को प्यार करता था और चंचल रंजन ने भी विमोचन से परिचय इतना बढ़ा लिया था कि लोग दोनों को वर्तमान नहीं तो, भावी दंपति मानने ही लगे थे। प्यार बड़ा अनुदार और कंजूस होता है। जिसे प्यार किया जाता है, उसे कंजूस के धन की तरह सहेज कर रखने की इच्छा रहती है। रंजन को चिढ़ाने में मजा आता था। उसे विमोचन के अपने प्रति प्यार का पता था। सुंदर युवतियों को चाहने वालों की कमी नहीं, किंतु वह चंचल, उच्छृंखल-सी लड़की मात्र विद्वता को ही प्रेम की पुष्टि के लिए पर्याप्त मानती थी या नहीं, कैसे कहा जा सकता ?

अरुण उसकी भाभी का भाई था। शायद उसे यह भी ध्यान आया कि उसे रंजन ने पहले भी देखा है। उस पर चले मुकदमे के कारण अरुण के प्रति उसमें सम्मान और सहानुभूति की भावना उत्पन्न हुई थी। बाधा रहित सरल, सुखमय जीवन बिताने वालों को कष्टों के प्रति कुछ कौतूहल भी होता है। इसी कारण मिलते ही रंजन की अरुण से परिचय बढ़ाने की इच्छा हो आयी। यह उसके लिए

कोई कठिन काम नहीं था। विमोचन की ईर्ष्या के कारण उसे चिढ़ाने के लिए उसने अरुण के साथ अपनी घनिष्ठता को और भी प्रदर्शित किया। वर्तमान पत्र-पत्रिकाएं विमोचन के लेखादि प्रकाशित करने को उत्सुक रहते थे। उसने एक उदीयमान कवि के रूप में भी ख्याति अर्जित की थी। देखने में भी वह अनाकर्षक नहीं था। हां, छोटी उम्र से ही साहित्य के साथ जुड़े रहने के कारण उसमें लेखकीय अभिमान कुछ अधिक था। यह अभिमान उसकी आंखों में, बातों में, हर व्यवहार में स्पष्ट दिखाई दे जाता था। किसी ने कभी उसका विरोध नहीं किया था। अतः यह सब उसके स्वभाव का एक अंग बन गया था।

आरंभ से ही अरुण उसे पसंद नहीं आया था। रंजन से घनिष्ठता बढ़ने पर तो वह विमोचन का अक्षम्य अपराधी बन गया। धीरे-धीरे उसने अरुण के कार्यों में और लेखों के विरुद्ध पत्रों में लिखना शुरू कर दिया। इस प्रकार के लेखन में उसका तर्क था कि जनार्दन द्वारा आरंभे गये इस शुभ कार्य में अरुण जैसे विप्लववादी के प्रवेश के कारण बाधाएं आ रही हैं। इस प्रकार वह जनार्दन से अपने संबंध बनाये रखकर अरुण को वहां से उखाड़ने का प्रयत्न कर रहा था। स्वाभाविक ही था कि आघात पर प्रत्याघात किया जाता। अरुण विमोचन की आलोचना का कड़ा जवाब देता। एक बार जब मान्यता दृढ़ हो गयी कि अंग्रेजी शासन गलत है तो पांव में कांटा चुभने की घटना भी उस गलत शासन के परिणाम के रूप में मानी जाने लगी। एक बार जब यह माना जाने लगा कि असहयोगी मात्र सस्ती प्रशंसा ही खोजते हैं तो अहिंसा के लिए सीने पर गोली खाकर मरने वालों के लिए भी यही कहा जाने लगा कि अमुक तो मरते समय भी तालियों की गड़गड़ाहट ही सुनते हैं। आलोचना करना सरल है। आलोचना का उत्तर देना भी उतना ही सरल है और साथ ही आनंददायक भी।

जनार्दन के प्रयत्नों के बावजूद आलोचना-प्रत्यालोचना की कटुता बढ़ती गयी। परिणाम स्वरूप हिंसावृत्ति भी जागने लगी। विमोचन दांत किटकिटाकर मन ही मन कहता : देखना तेरे पुर्जे ढीले न किये तो··· उधर अरुण कसमसाता : बड़बोले! किसी दिन तुझे भी देखूंगा··· जनार्दन ने इन सारी स्थितियों को देखा और निश्चय किया कि इस सबको फिर ठीक करना होगा। फिर से अहिंसा को अपने आश्रम की आत्मा में प्रतिष्ठापित करना होगा। और उसके लिए आवश्यक है कि

आश्रमवासियों को अहिंसा की शपथ दिलायी जाय। ऐसा करने में बड़े से बड़ा मूल्य चुकाना पड़े तो भी अहिंसा के लिए उसे सहन करना होगा।

उन्होंने इस कार्य के लिए एक दिन तय कर लिया। अरुण ने शपथ लेने में आनाकानी की। जनार्दन को खेद हुआ। उन्होंने फिर से अरुण को समझाया किंतु अरुण ने स्पष्ट रूप से मना कर दिया। अरुण को खोकर भी अहिंसा के स्थापन की आवश्यकता जनार्दन को महसूस हुई। अरुण भी इस विचार से खिन्न हुआ कि अब जनार्दन जैसे सुहृद और विशुद्धमना व्यक्ति का सान्निध्य छोड़ना होगा।

इधर जब अरुण के पिता को उसके आश्रमवास का पता चला तो उन्होंने उसे मनीआर्डर द्वारा रुपये भिजवाये। साथ ही उन्होंने उसके व्यवहार के कारण अफ-सोस भी जाहिर किया। पुत्र ने मनीआर्डर लौटाते हुए अत्यंत नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि पिता ने आवश्यकता से अधिक उसका ध्यान रखा है। लेकिन अभी उसे पैसों की आवश्यकता नहीं है। वह समय मिलने पर स्वयं पिता की सेवा में उप-स्थित होगा।

आश्रम छोड़ने के लिए पैसों की समस्या भी सामने थी। उसके पास तो एक कानी कौड़ी भी नहीं थी। क्षणभर को वह चिंतित हुआ। फिर सोचा : फकीर को पैसों की क्या आवश्यकता ? और फिर उसने उन सारी कठिनाइयों को सहने का निश्चय कर लिया जो अहिंसा की शपथ न लेने पर उपस्थित होनेवाली थीं।

अंततः शपथ ग्रहण का दिन आ गया। अरुण के सामने आश्रमवासियों और जनार्दन का स्नेह छोड़कर जाने का क्षण साक्षात् हो उठा। एक बार अहिंसा को अपनाकर भी देखा जाय तो ? अपने इस विचार पर अरुण हंसा। उसे लगा, वह कमजोर पड़ने लगा है। पर क्या हिंसा देश को मुक्ति दिला ही सकेगी ? जनार्दन के साथ वाद-विवाद में वह हिंसा की मर्यादा भी समझ चुका था।

जब रंजन ने अरुण से शपथ के निर्णय के विषय में जानना चाहा तो उसने कहा :

"जो होगा, देखा जायेगा। कल जो ठीक लगेगा, करूंगा।"

"यदि एकाध वर्ष के लिए यह शपथ ले लो तो ? आज ही तो खून-खराबी करके भारत स्वतंत्र होने वाला नहीं है ना ?" रंजन ने सलाह दी।

"रात में सोचकर देखूंगा।"

12. धन्ना भगत

देव गये डूंगर और पीर गये मक्का
अंग्रेज के राज में अछूत मारे धक्का।

——लोकोक्ति

अंततः जनार्दन ने ध्वजारोहण के साथ अहिंसा की शपथ लेने का कार्यक्रम बनाया और सभी आश्रमवासियों से अहिंसा का व्रत लेने का आग्रह किया। जनार्दन को यह आशंका थी ही कि अरुण यह शपथ नहीं लेगा और आश्रम छोड़ देगा। फिर भी, अरुण ध्वजवंदन में उपस्थित हुआ और अहिंसापूर्ण युद्ध में सम्मिलित होने संबंधी गानों में उसने साथ दिया। शपथ लेने की अपनी बारी के समय वह हिचकिचाया। वह शपथ ले ? न ले ? यदि ले भी ले तो हमेशा के लिए उस पर दृढ़ रहने जैसी श्रद्धा अभी उसके मन में नहीं थी। जनार्दन ने उसे प्रोत्साहित किया था किंतु वह अपनी सीमाओं को समझ रहा था। एकमात्र स्वर उसके कानों में उस क्षण फिर से गूंजा।

"एकाध वर्ष के लिए यह शपथ ले लो तो ?"

कल रात ही रंजन ने उससे इस संबंध में बात की थी। अरुण आगे बढ़ा, ध्वज को प्रणाम करके सबको आश्चर्य में डालते हुए प्रतिज्ञा की :

"इस ध्वजा के समक्ष में प्रतिज्ञा करता हूं कि एक वर्ष तक अहिंसा का पूर्णतः पालन करूंगा।"

रंजन सवेरे आश्रम आ गयी थी। महिलाओं को यह प्रतिज्ञा नहीं करनी थी। फिर भी यह उत्सुकता तो थी ही कि कौन यह प्रतिज्ञा कर रहा है, कौन नहीं। आश्रम पहुंचकर भी वह अरुण की ओर से निश्चिंत न होने के कारण ध्वजा के सामने नहीं गयी और अंदर बैठ कर कुछ लिखने लगी। उसके कुछ लिखने से पूर्व

ही पुलिस अधिकारी नृसिंहलाल वहां पहुंच गये थे।

किसी भी हलचल के प्रति आरंभ में विरोधियों का व्यवहार सहज ही रहता है। नृसिंहलाल ने भी अधिक उखाड़-पछाड़ नहीं की। मात्र तीन चार पुस्तकें और सदस्यों के नामों की सूची ही उन्होंने अपने साथ ली।

मंत्री होने के नाते अरुण और अपनी ही इच्छा से रंजन नृसिंहलाल के साथ चले गये थे और जनार्दन आश्चर्यपूर्वक अरुण के विषय में सोच रहे थे। उन्हें आभास हो गया कि अवश्य ही रंजन के कारण ही अरुण ने प्रतिज्ञा ली है। कहीं रंजन के पास रहने के मोहवश ही तो उसने यह प्रतिज्ञा नहीं ली है? एक युवक और युवती का यह आकर्षण इस कार्य को कोई अनजानी, अनपेक्षित दिशा तो नहीं दे देगा? तब? परंतु युवक और युवती–पुरुष और नारी ही तो सृष्टि का आधार हैं। इन्हीं के लिए और इन्हीं के कारण दुनिया में सब कुछ होता है। पुरुष और नारी के बिना क्या कोई गति संभव है?

कार में कोई कुछ नहीं बोला। रंजन और अरुण को नृसिंहलाल जानते थे। वे सोच रहे थे : एक सम्मानित अधिकारीका पुत्र अरुण और एक सुखी संपन्न, सुसंस्कृत भाई की बहन रंजन ··· वे दोनों क्यों इस कष्टप्रद मार्ग पर बढ़ रहे हैं? क्यों उनका अपना ही पुत्र इस ओर आकर्षित हुआ है? क्या वह यौवन की मूर्खता नहीं है? क्या कोई भी वयस्क, अनुभवी व्यक्ति इस प्रकार की सपनों जैसी बातों में विश्वास करके उनसे जुड़ेगा? भारत की प्रजा को ऐसा कौन-सा बड़ा दुख है कि सरकार का इस प्रकार विरोध किया जाय? लोग सुखी हैं, खाते हैं, पीते हैं, अपने काम धंधे करते हैं। सरकार पुलिस की सहायता से प्रजा की रक्षा करती है। रेलगाड़ियां चलाकर आने जाने की सुविधा प्रदान करती है। न किसी विदेशी के आक्रमण का भय है न विशेष चोरी लूटमार का। जिसके भाग्य में जितना लिखा है, शांति से मिल ही जाता है। वे स्वयं भी कार्यवाहक अधिकारी के रूप में डिप्टी सुपरिंटेंडेंट ऑव पुलिस के पद पर कार्य कर रहे हैं। शीघ्र ही उनकी उस स्थान पर नियुक्ति हो जायेगी। कार तो रख ही लेंगे। अंग्रेजी शासन में आखिर ऐसे कौन से दु:ख हैं कि लोगों को इस प्रकार विद्रोह करना पड़ता है? और उन्हें इस सबका कारण यौवन के उन्माद के अतिरिक्त कुछ भी नजर नहीं आया।

"वह लोग खड़े हैं न। जरा वहां कार रुकवा दीजिये।" नृसिंहलाल की तंद्रा रंजन के इन शब्दों से टूटी।

"अरे इतनी भीड़ कैसे ?" एक बड़े से मकान के पास दो-तीन सौ आदमियों की भीड़ जमा थी। भीड़ अब भी बढ़ती जा रही थी। वहीं कुछ आगे बड़ा मैदान था।

"इतनी भीड़ में से अंदर कैसे जाओगी ? मैं चलूं ?" अरुण ने पूछा।

सुशीला का घर आ गया था। उसी के घर के एक ओर भीड़ जमा थी। किसी को पता नहीं था कि भीड़ क्यों एकत्र है। पुलिस अधिकारी के रूप में नृसिंहलाल ने भी नीचे उतरना चाहा। तीनों व्यक्ति भीड़ के निकट पहुंचे। भीड़ के दूसरे छोर पर दो तीन सिपाही शांतिपूर्वक लोगों को बिखर जाने के लिए कह रहे थे। पुलिस अकसर ही भीड़ के कारण को दूर करने के बजाय भीड़ को अलग करने का प्रयत्न करती है।

"क्या बात है ?"

"मदारी का खेल होगा।"

"इतने लोग ?"

उस व्यक्ति ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसे स्वयं भी वस्तुस्थिति का पता नहीं था। अंतत: अरुण अंदर घुस गया।

नृसिंहलाल धीरे-धीरे रास्ता बनाते हुए रंजन को लेकर अंदर बढ़ते रहे। उनके इकट्ठा होने का कारण पूछा। कोई भी उत्तर दिये बिना वे व्यक्ति एक ओर खिसक गये। भीड़ में बहुतों को पता नहीं था कि वे वहां क्यों एकत्र हुए हैं।

"चोर, चोर।"

"पकड़ो, पकड़ो।"

"मारो, मारो।"

कुछ दादाओं ने भीड़ में घुसकर चिल्लाना शुरू किया। कौन है चोर ? किसे पकड़कर ? क्यों मारना है ? इन प्रश्नों के उत्तर देने को वे विवश नहीं थे। कारण हो या न हो, बहुतों को मारपीट करने की इच्छा सहज ही हो जाती है।

"किसे मारना है ?" नृसिंहलाल ने उन लोगों में से एक को जोरों से पकड़ कर पूछा। लगा, वह व्यक्ति नृसिंहलाल को पहचानता था। गुंडों और दादाओं का पुलिस से परिचय होता है। उस व्यक्ति ने सलाम करके कहा :

"साहब । कोई ठग लगता है ।"

"नहीं, किसी की जेब काटी है। जेबकतरा है।" एक अन्य प्रेक्षक ने गुंडे की बात का संशोधन किया । प्रेक्षक को यह वर्गीकरण प्रिय लगा था कि ठग और जेबकतरा दो भिन्न व्यक्तित्व हैं ।

अब वे तीनों दादा लोगों को धक्के देकर साहब के लिए जगह करने लगे । काफी शोर था। हर व्यक्ति कुछ-न-कुछ बोल रहा था। कोई हंसता कोई पुकारता, कोई धक्के मारकर आगे बढ़ता, कोई धक्के मारकर बाहर निकलने का प्रयत्न कर रहा था । नृसिंहलाल और रंजन को भीड़ में प्रवेश करते देख सामने की ओर के सिपाही एकदम सावधान हो गये । वे जोर से बोलने लगे :

"चलिये मेहरबान । बढ़ते रहिये ।"

मेहरबानों से की गयी इस प्रार्थना के साथ उन्होंने लोगों को जोर के धक्के मारकर बाहर निकालना शुरू कर दिया । यों अधिकांश भीड़ भी इस व्यवहार के लायक थी । लोग जोर से धक्के खाकर दूसरी ओर जमा हो जाते । उन्हें पता नहीं था कि वहां भीड़ लगाने का कोई कारण भी है या नहीं और है तो क्या है ?

'एक अछूत को मारा है ।' एक व्यक्ति ने यह नयी सूचना नृसिंहलाल को दी ।

भीड़ का का कारण पहले एक मदारी था। फिर चोर हो गया, चोर से ठग, ठग से जेबकतरा । यह सब भी कुछ हद तक समझ में आने वाला क्रम था । पर जेबकतरे में से अछूत कैसे निकल आया, वह समझना टेढ़ी खीर था ।

नृसिंहलाल अंततः भीड़ के बीच में पहुंच गये । अरुण एक चौदह-पंद्रह वर्ष के लड़के को पकड़े खड़ा था । उस लड़के को मारने बढ़ रहे दो व्यक्तियों को उसने रोक रखा था और उनसे विवाद कर रहा था । चेहरे से स्पष्ट ही लग रहा था कि उसने जबरन अपने क्रोध को रोक रखा है । लड़का भी क्रोध से उबलते रोते कुछ बोलता जा रहा था । उससे अच्छी तरह बोला नहीं जा रहा था । वह पास ही बैठे एक बूढ़े की ओर बारबार इशारा कर रहा था ।

दादाओं और सिपाहियों ने मिलकर साहब के आस-पास जगह खाली कर दी । लड़के को मारने के लिए बढ़ रहे दोनों व्यक्तियों के मुंह से नृसिंहलाल ने भाषा का प्रचंड रूप सुना । शरीर में शक्ति और भाषा में गाली ···। जीवन में गालियों का महत्व भुलाने योग्य नहीं ।

"साला अछूत ! हरामखोर छूता है और सामने बोलता है। इसकी चमड़ी उधेड़ डालेंगे हम।" नृसिंहलाल ने इन उद्गारों का मूल कारण समझने की इच्छा से आदेश दिया, "हटाओ। सबको यहां से हटाओ।"

दोनों सिपाहियों और तीनों दादाओं ने मिलकर लोगों को धकेला।

दादाओं का धक्कामुक्की का शौक पूरा हुआ। उन्होंने कइयों के चप्पल मारी कइयों को घूंसे मारे, कईयों को कुहनियां ही मारीं। लोगों ने जब यह स्थिति देखी तो वहां से हटने में ही खैर समझी। देखते-देखते इन पांच व्यक्तियों ने तीन सौ लोगों की भीड़ को तितर-बितर कर दिया।

अरुण ने भीड़ में पहुंचकर कोई पूछताछ नहीं की थी। वह तो सीधा ही घटना के केंद्रस्थल पर पहुंच गया था। दो व्यक्ति एक लड़के को धड़ाधड़ घूंसे और थप्पड़ मार रहे थे। छोटा-सा लड़का मार सहन न करने पर सामना करने लगा था। उसने बिना कुछ सोचे समझे मारने वाले का हाथ पकड़कर जोर से काट लिया, काटे का दर्द असह्य होने पर एक व्यक्ति शोर मचाने लगा। दूसरा उस लड़के को और भी बुरी तरह मारने लगा। तभी अरुण यहां पहुंचा और उसने जैसे तैसे दोनों को अलग किया। उसका मन हुआ कि इतने से बच्चे को इस निर्दयता से मारने वाले राक्षसों का सिर फोड़ दे। यदि उसे आज ही की गयी प्रतिज्ञा याद न हो आती तो अवश्य ही वह अपने मन की कर डालता। पर प्रतीज्ञा ने उसके मन पर अंकुश लगा दिया। बच्चे को छुड़ा कर उसने अपने संरक्षण में ले लिया। क्रोध आया कि उन्होंने उस पर हल्ला बोल दिया। अरुण उन्हें रोके रहा। यह सही है कि बिना क्रोध के मारने की शक्ति नहीं आती। किंतु उसे पहला अनुभव हुआ कि क्रोध के बिना मार खायी जा सकती है। वह चाहता तो दोनों व्यक्तियों को मार कर चटनी बना सकता था। किंतु आज उसने अपनी शक्ति का उपयोग नहीं किया। उसने बस लड़के को पकड़े रखा और उस लड़के को मार से बचाता रहा। इस प्रयत्न में उसे भी कई घूंसे पड़ गये। अक्रोध के अपने निश्चय के कारण उसे ये प्रहार एकदम तुच्छ और हास्यप्रद लगे। उसकी स्थिरता टली नहीं। उसे शांत, निर्विकार खड़े देख सामने वाले व्यक्ति भी रुके और अब हाथों के प्रहार की जगह गालियों ने ले ली। अरुण का यह पहला अनुभव था अक्रोध-अहिंसा का।

तभी नृसिंहलाल और रंजन की दृष्टि अरुण पर पड़ी। उन गाली बकने वालों

की बात ठीक से सुनने के लिए नृसिंहलाल ने पहले तो भीड़ को तितर बितर करवाया और फिर डपट कर पूछा :

"क्यों बे बदमाश। गालियां क्यों बक रहा है ? पी रखी है क्या ?"

नृसिंहलाल की वर्दी के रोब से दोनों व्यक्ति दबे। एक ने उत्तर दिया :

"अरे साहब। हम तो ब्राह्मण हैं।" उसने शराब पीने की तोहमत को अपने ब्राह्मणत्व से धोना चाहा। यों ब्राह्मणों की इच्छा हो या न हो, लोगों की इच्छा यही रहती है कि ब्राह्मण निर्व्यसनी ही रहें।

"ब्राह्मण है तो मांगकर खा।" पुलिस की वाणी में अपशब्दों का अखूट भंडार होता है। नृसिंहलाल जैसे भले उच्चाधिकारी भी चाहे जब उस भंडार का मुक्त-भाव से प्रयोग कर सकते हैं। उन्होंने ब्राह्मण को उसका कर्तव्य याद दिलाया। उनकी मधुर वाणी आगे बढ़ी :

"यों मवाली की तरह रास्ते के बीच मारपीट क्यों करता है ?"

"पर साहब। यह अछूत हमें छूता क्यों है ?" मारपीट के लिए जैसे अछूत का स्पर्श अनिवार्य हो, ब्राह्मण ने दलील दी।

"ठीक है, घर जाकर नहा ले। इस तरह रास्ते में हुल्लड़ क्यों मचाता है ? वरना तुझको जेल में बंद करना पड़ेगा।"

जेल का डर बहुत बड़ा होता है। उसके भय से मुक्त होने के लिए उसका अभ्यस्त होना पड़ता है। ब्राह्मण ने घबराकर कहा :

"साहब ! हमारी कोई गलती नहीं हैं। पहले तो इसने हमें छुआ। कहने लगे तो काट लिया। यह क्या छोटी बात है ?"

"कहां है वह अछूत ?" आरोपी और फरयादी को निष्पक्ष भाव से एक-सी गालियां देने के अभ्यस्त पुलिस अधिकारी ने अब उस अछूत की खबर लेने का निश्चय किया। ब्राह्मणों ने अरुण के संरक्षण में हिचकियां भरते बालक की ओर संकेत किया। नृसिंहलाल सोच में पड़ गये। लड़के के कपड़े बहुत साफ नहीं थे किंतु उसमें अंत्यज वर्ग जैसा कुछ नजर नहीं आ रहा था। यों अछूतों में भी अति सुंदर स्त्री, पुरुष व बच्चे किसने नहीं देखें होंगे ? यह सही है कि स्वच्छता का अभाव, रहन-सहन का तरीका, जातिगत संस्कार और हीनता-बोध उनका परिचय स्वयंमेव ही दे देते हैं। फिर भी इस वर्ग में सुडौल तराशी हुई-सी मुखा-

कृतियां भी नजर आ ही जाती हैं।

"क्यों रे, क्या बात है ?" रोते हुए बच्चे से नृसिंहलाल ने पूछा।

गुस्से और रुदन के कारण बच्चा ठीक से बोल नहीं पाया :

"मेरे बाबा को…धक्का…दिया…मुझे मारा…मैंने जानकर…थोड़े ही छुआ था ?"

"हरामखोर झूठ बोलता है ? तूने जानबूझकर मुझे छुआ था। कहा तो काट लिया। देखिये साहब।" उस आदमी ने अपना हाथ दिखाया।

"कहां है तेरा बाबा ?"

"यह रहा बाबा। बच्चे से भूल हुई हो तो उसकी जगह मैं इनके पैरों पड़ता हूं। बच्चा है, क्या समझे ?" जमीन पर लाठी पकड़े बैठे एक वृद्ध ने कहा।

नृसिंहलाल की दृष्टि उधर गयी। वृद्ध अंधा था।

"अरे, यह तो धन्ना भगत है। तेरे लगी तो नहीं ना ?" वृद्ध को पहचान कर नृसिंहलाल ने पूछा।

"कुछ नहीं बापा। लगी होगी तो ठीक हो जायेगी। पर मेरे इस बच्चे को बुरी तरह धुन डाला। छोटे लोग हैं बापा। मार खाने को ही बने हैं। कोई बात नहीं।" धन्ना भगत बोल गया। अपनी चोट से कहीं अधिक उसे अपने बच्चे की मार साल रही थी।

"तुझे शिकायत करनी है ?" नृसिंहलाल ने पूछा।

"नहीं साहब, नहीं। हम गरीबों की क्या शिकायत? ये भाई जैसा ठीक समझें। दो हाथ खा लिये। भगवान सबका भला करें। मुझे काहे की शिकायत।"

"चलो भागो यहां से। बेचारे सूरदास को परेशान करते शर्म नहीं आती ?" नृसिंहलाल ने उन अछूतों के स्पर्श से अपवित्र हुए ब्राह्मणों को फटकारा।

"चलो हटो।" एक सिपाही ने जोर से कहा।

"भागो।" एक दादा ने सिपाही की सहायता की। कभी किसी मारपीट में जायें तो शायद डिप्टी साहब कुछ मेहरबानी कर दें। अस्तु खुशामद के लिए वे साहब की हर बात हाथों हाथ लेने को तैयार थे।

दोनों ब्राह्मण चले गये।

अरुण उस वृद्ध की बात सुनकर आश्चर्य-चकित सा खड़ा रहा। स्वयं को मारने

वाले इस शूद्र में ब्राह्मणत्व अधिक है या स्पर्शमात्र से अपवित्र होकर एक अंधे और उसके बच्चे को मारने वाले उन ब्राह्मणों में ?

"बेटा चुप हो जा। अब जरा अच्छी तरह संभालना। अपने स्पर्श से जिन्हें छूत लगती हो, उन्हें छूने का क्या काम ? ये अपने रस्ते, हम अपने रस्ते। ले, लकड़ी पकड़।" धन्ना भगत ने लकड़ी का एक छोर बच्चे को पकड़ाया। इसी प्रकार बच्चा उसे ले जाता था।

"लड़के। तेरा नाम क्या है ?" रंजन ने पूछा।

"किशन।"

"ले ये थोड़े से पैसे रख।" रंजन ने उसे पांच का नोट देना चाहा। लड़के ने हाथ न बढ़ाकर अपने बाबा की लकड़ी संभाली। उसने रंजन को उत्तर दिया :

"नहीं। हम मांगने वाले नहीं हैं।"

अस्पृश्य कही जानेवाली जाति में भी इतना आत्मगौरव ? ऐसे अस्पृश्यों का स्पर्श क्यों न किया जाय ?

धन्ना भगत को लिये हुए किशन आगे बढ़ा।

"भगवान ! मेरे प्रभु। सभी का भला करना नाथ।" धन्ना भगत बोलता जा रहा था। उसके मन से सारा क्लेश, शोक उड़ गया था। अपने बालक को मारने वाले ब्राह्मण के प्रति क्षण भर को उसके मन में कटुता आयी थी। उसी के निवारणार्थ उसने स्वयं को संबोधन करते हुए चलते-चलते गाना आरंभ किया :

वैष्णव नहीं हुआ तू रे, हरिजन नहीं हुआ रे तू
किस गुमान में घूम रहा है ··· ··· ···
हरिजन देख न तू खुश होवे, न भाये तुझे हरिगुण गान
चाम दाम का मोह न छोड़े क्रोध से तेरे नैन हैं लाल
तेरे संग से कोई वैष्णव होवे, तो तू सच्चा वैष्णव रे।
तेरे संग का रंग ना लागे, तब तक तो तू कच्चा रे।
पर दुख से तू दुखी न होवे, पर निंदा से नहीं डरे
विट्ठल से तुझे प्रेम नहीं पर, मैं, मैं करता रहता रे।

रंजन को सुशीला के घर पहुंचाने तक अरुण धन्ना भगत का भजन सुनता रहा। नृसिंहलाल और अरुण कार में बैठकर वहां से आगे बढ़े। अरुण धन्ना भगत द्वारा

की गयी वैष्णव व्याख्या पर विचार कर रहा था।

बीच ही में नृसिंहलाल बोले :

"ये अछूत भी बहुत फैलने लगे हैं। इन्हें औरों को छूने की क्या जरूरत ?"

छुआछूत की भावना हमारे मन में इतनी गहरी घर कर गयी है कि इसे अवास्तविक मानने पर भी हमें अछूतों को छूने में संकोच होता है। नौकरी के कारण नृसिंहलाल छुआछूत को इतना नहीं मानते थे। फिर भी उन्हें यह गलत लगता था कि अछूत किसी को छूएं और अपने को औरों के समान समझें।

अरुण हल्के से मुस्कराकर रह गया। उसके कानों में तो ये पंक्तियां गूंज रही थीं :

'तुझ संग कोई वैष्णव थाये, तो तु वैष्णव साचो।
तारा संगनो रंग न लागे, त्यां लगी तुं काचो ॥'

आचार के अणु-अणु में पवित्रता की स्थापना की बात करने वाले ब्राह्मण और वैष्णव समूचे आचार-विचार को ही एक अभेद्य दीवार बना डालते हैं। क्या यह उचित है। जहां संग का रंग लगाने की आवश्यकता है, वहां देह को देह से खींचकर अलग फेंका जाता है। वहां कभी रंग लग सकता है ? दिन में सौ बार नहाकर पवित्रता ओढ़ने वाले ब्राह्मण और मारने वाले का भी भला चाहने वाले धन्ना भगत में से कौन बड़ा वैष्णव है ?

13. प्रवाह का प्रथम घर्षण

संध्या समय पृथ्वी का पट चीरकर
जिस प्रकार अंधकार का सागर उमड़ आता है
वैसे ही सरोवर के तट तोड़-तोड़ कर
जल की उत्ताल तरंगें उछालें मारती हैं।

—न्हानालाल

सुशीला के घर पहुंचकर रंजन ने देखा कि सुशीला रो रही थी। पुष्पा उसके पास बैठी थी। रंजन को आते देख सुशीला आंसू पोंछने लगी। इस प्रयत्न में उसके माथे का चंदन भी मिट गया। वह चौकी पर काश्मीरी कढ़ाई का ऊनी आसन विछाये बैठी थी। पास में दो-तीन पुस्तकें और पूजा का कुछ सामान पड़ा था।

उसी के सामने दूसरी चौकी पर पुष्पा बैठी थी। रंजन भी उसकी चौकी पर जा बैठी। पुष्पा और रंजन समवयस्क सहेलियां थीं। रंजन ने पुष्पा का पांव दबाकर सुशीला के रोने का कारण पूछा।

"धन्ना भगत और किशन को मारा था न लोगों ने, वही देखकर दीदी रो रही है तभी से।" पुष्पा ने बताया। सामनेवाली खिड़की में से सड़क का सभी कुछ दिखाई देता था। पुष्पा की बात सुनकर सुशीला की आंखें फिर भर आयीं। रोते-रोते सुशीला बोली :

"मरे ये आदमी भी राक्षस हैं। बेचारे भगत को आंखों से दिखाई नहीं देता, फिर भी उसे कितना मारा। और वह बेचारा फूल-सा किशन···"आगे उससे बोला नहीं गया।

"पर तू इस भीड़ में कैसे पहुंच गयी? तू भी है खूब जबरदस्त।" पुष्पा ने रंजन से कहा।

"मैं यहां न आती तो अभी झगड़ा समाप्त भी नहीं होता ?"

"तू सबको कहां से ले आयी ? एक तो पुलिस अफसर थे। एक बार अपने घर भी आये थे। पर वह दूसरा कौन था ? कोई कालेजियन था क्या ? वह न होता तो बेचारे किशन को तो सब मार ही डालते।" सुशीला ने कहा। अब तक उसने अपने आपको संभाल लिया था।

"वही तो हैं अरुणकांत। मैंने दो एक बार तुमसे बात भी की थी।" पुष्पा ने उत्साहपूर्वक अरुण का परिचय सुशीला को दिया। वह उत्साह सुशीला को पसंद नहीं आया। सुशीला को पसंद नहीं था कि युवतियां युवकों से अधिक मेलजोल बढ़ावें। मध्यम और उच्च वर्ग की कन्याओं को स्कूल भेजना पड़ता है और स्कूल जाने-आने की छूट चाहे-अनचाहे सहनी पड़ती है। शिक्षा को दोष देते हुए भी कन्याओं को पढ़ाना पड़ता है। लड़कियां बिगड़ जाती हैं, घर का कामकाज नहीं करतीं, कसे हुए, अंगों से चिपके चिपटे कपड़े पहनना सीख जाती हैं, बड़ों का सम्मान नहीं करतीं, आदि आक्षेपों के उपरांत भी मां-बाप कन्याओं को स्कूल भेजते हैं। जब उनकी लड़की अंग्रेजी पढ़ने लगती है, अच्छे चित्र बनाने लगती है, सुंदर-सा कसीदा निकालने लगती है और बढ़िया गरबा गाने लगती है तो मां बाप को खुशी हुए बिना नहीं रहती।

सुशीला ने भी अपनी सौतेली बहन को इसी कशमकश के बीच पढ़ाया था। रंजन और पुष्पा स्कूल में साथ पढ़ती थीं। उनके पिता शहर के धनाढ्य व्यक्तियों में से थे, अतः दोनों परिवारों में भी अच्छा परिचय था। परंतु सुशीला के पिता धार्मिक विचारों के थे तो रंजन के पिता नये विचारों वाले। अतः दोनों के रहन-सहन में काफी अंतर था। पुष्पा के बड़े होने पर उसे बार-बार स्कूल से हटाने की तैयारी के बावजूद सुशीला उसे पढ़ाती रही थी। रंजन और पुष्पा की मैत्री भी घनिष्ठ होती गयी थी। यद्यपि रंजन जितनी घूमने-फिरने की छूट पुष्पा को नहीं थी, फिर भी रंजन का थोड़ा बहुत प्रभाव तो पुष्पा पर पड़े बिना रह नहीं पाया। पुष्पा को सभाओं और उत्सवों में जाने की अनुमति नहीं थी, फिर भी कभी-कभी अपनी बड़ी बहन को समझा-बुझाकर, कभी रूठ कर वह जाने की अनुमति पा ही जाती थी। पुष्पा को रंजन के साथ हर कहीं आने-जाने की छूट तो नहीं थी किंतु रंजन के घर जाने और उसे अपने घर बुलाने की छूट सुशीला ने दे रखी थी।

रंजन के प्रति सुशीला के मन में भी सद्भाव था। वह बातूनी, हंसमुख लड़की स्वतंत्र वातावरण में पली थी। फिर भी सुशीला को लगा कि वह इतनी स्वतंत्रता के बाद भी निश्छल है। कई बार वह स्वयं भी पुष्पा को कहकर रंजन को अपने घर बुला लेती थी। सबसे बड़ी बात तो यह कि रंजन में अभिमान जरा भी नहीं था। वह सभी के साथ हिलमिल कर रहती, हंसी मजाक करती और अपने रंग विरंगे कपड़ों और विनोदी स्वभाव के कारण सभी को प्रिय लगने लगती थी। युवकों के साथ पढ़ने में भी उसे संकोच का अनुभव नहीं होता था। सुशीला यह सब जानती और उसके परिणाम भी समझती थी। इसीलिए उसने समझा कर और समयानुसार धमकाकर भी पुष्पा को युवकों के संसर्ग से परे ही रखा था। सुशीला के अंकुश के कारण पुष्पा कुछ चुप, गंभीर और स्वाभिमानी बन गयी थी केवल रंजन से मिलते ही उसका हृदय बंधन मुक्त हो जाता था।

पुष्पा को चित्रकला में बहुत रुचि थी। स्कूल में उसे इसका अवसर भी मिला था। यह मान्यता भी अब नष्ट हो गयी थी कि संगीत सीखकर लड़कियां स्वच्छंद हो जाती हैं। सितार व दिलरुबा पर तान छेड़ती लड़कियां सभी को अच्छी लगती हैं। किंतु अपनी पत्नी या पुत्री में यह गुण देखने की इच्छा कम ही लोगों में होती है। सुशीला ने भी पुष्पा को इस संगीत के छंद में अधिक नहीं डूबने दिया। अब पुष्पा का कलाकार मन संगीत की जगह चित्रकला की ओर मुड़ा। अनुभूतियों की अभिव्यक्ति चित्रकला के माध्यम से भी होती ही है। किंतु संगीत की अमूर्तता चित्रकला में संभव नहीं। चित्रकला की स्पष्ट रूपारूप अभिप्सित होता है। पुष्पा का मन अब मूर्तियां घड़ता था तो रंजन का मन संगीत की रूपहली चांदनी में तैरा करता। अस्तु, युवकों से अलग रहकर भी पुष्पा के मन ने युवकों की कल्पना के कम चित्र नहीं बनाये।

कृष्णकांत के यहां जनार्दन का थोड़ा बहुत आना जाना रहता था। मिल-मजदूरों की मांगों और हड़तालों आदि के कारण यह परिचय बढ़ गया था। कृष्णकांत की साहबी के बावजूद उसके स्वभाव की सहजता जनार्दन को पसंद थी। लोग इनकी मैत्री के कारण यह भी अनुमान लगाते थे कि जनार्दन के आश्रम को कृष्णकांत की ओर से कुछ मदद मिलती होगी। यों दोनों की घनिष्ठता यूरोपियन समाज के लिए अभी उल्लेखनीय नहीं थी। कुछ संबंध यदि बाहर वालों को

दिखाई देता तो वह मजदूरों को भड़काने वाले नेता और एक मिल मालिक के बीच का ही था।

किंतु उसी परिचय के कारण जनार्दन को पुष्पा और रंजन का परिचय मिला। जनार्दन उन दोनों की चित्रकला का लाभ अपने कार्य के लिए लेते थे। पता नहीं क्यों, सुशीला को पुष्पा के आश्रम आने-जाने में विशेष आपत्ति नहीं थी। शायद उसने इस संस्था को धार्मिक संस्था माना हो। किंतु वहां भी पुष्पा अधिक नहीं आ जा सकती थी।

वहीं पुष्पा का अरुण से परिचय हुआ था। दो एक बार पुष्पा ने सुशीला के सामने इस संबंध में चर्चा की तो उसने इसे अनसुना कर दिया था। एक बार अरुण को घर बुलाने की अनुमति मांगने पर भी सुशीला ने मना कर दिया।

आज उसी अरुण को सुशीला ने देखा था। उसने यह भी लक्ष्य किया कि उसका परिचय देते समय पुष्पा में कुछ अतिरिक्त उत्साह है। लड़कियों की यह आदत उसे जरा भी पसंद नहीं थी। इन्हीं सब के कारण तो अनर्थक परिणाम भोगने पड़ जाते हैं। लेकिन पुष्पा का अरुण के प्रति उत्साह अच्छा न लगने पर भी उसके अपने मन में अरुण को देखकर एक अनोखा उत्साह उमड़ पड़ा था। उसने धन्ना भगत और किशन को छुड़ाया था। लड़का है तो बहुत अच्छा।

"तो उसे यहां बुलाना चाहिए था ?" अरुण का परिचय पाकर सुशीला ने उसे टोका।

पुष्पा बोली नहीं कि इससे पहले उसकी इस इच्छा को सुशीला ने ठुकरा दिया था। मात्र उसने भविष्य के लिए इस सम्मति को सहेज लिया, "दीदी,तुम कहोगी तो किसी दिन अरुणकांत को घर बुला लेंगे। क्यों रंजन?" पुष्पा ने रंजन से भी अनुमति मांगी।

"वह चले जाते तो बात खतम थी। पर अब तो एक वर्ष यहीं रहेंगे। इसलिए कभी भी बुलवा लेंगे।" रंजन ने भी जैसे सहमति दी।

सुशीला ने फिर अपना पाठ शुरू किया।

14. अछूत बस्ती

**सभी बुराइयों को धो डालने
के लिए हमारी गंगा बह रही है।**

——कलापी

"तूने यह सब पहले तो मुझे नहीं बताया अरुण। पुलिस को दिये गये उत्तर जानने से अधिक यह महत्वपूर्ण है कि तू उस भीड़ में मार खाकर भी और पुलिस थाने में भी शांत रहा।"

धन्ना भगतवाली घटना अरुण ने जनार्दन को तीन चार दित बाद बतायी थी। उसने यह भी स्वीकारा था कि इस प्रकार अपने क्रोध का दमन करने पर उसने अकथ्य मानसिक शांति और उच्चता अनुभव की थी।

अरुण ने इस स्वीकार के बाद कहा, "धन्ना भगत को मारनेवालों का भी भला मनाते देख तो तो मन हुआ था कि उस अछूत को गुरू बना लेना चाहिए।"

"ठीक है अरुण। तेरे गुरु को हम जुलूस के आगे रखेंगे।" हंसकर जनार्दन ने कहा।

"लेकिन वह तो अंधा है।"

"तो तू सहारा देकर चलना।"

"पर वह मानेगा थोड़े ही। उसे इन राजनीतिक बातों के विषय में शायद ही कुछ पता हो।"

"मैं धन्ना भगत को जानता हूं। तेरे आने से पहले मैं कभी-कभी उनके मौहल्ले में जाता था, तब उसके भजन सुनता था। मैंने अछूतोद्धार के संबंध में भी बात की थी किंतु वह अपनी भक्ति में इतना डूबा हुआ है कि उसे और किसी बात में रुचि ही नहीं है। रुचि हो भी तो ऐसे आंखों से लाचार वृद्ध को हम आगे रखकर

कैसे चल सकते हैं ?" जनार्दन का मन ऐसे अंधे वृद्ध अछूत को जुलूस के आगे रख-कर लोगों का मन अपने कार्य की ओर आकर्षित करने को ललचाता था किंतु वस्तुस्थिति को देखते वह संभव नहीं लगता था।

"अरुण ! पुलिस इस जुलूस को अवश्य रोकेगी। आज कलेटक्र ने मुझे बुलाया था।अपने पत्र में जुलूस का विवरण छपा है। उसने मुझे धमकी दी है कि पुलिसको बल प्रयोग का अधिकार है। वे धक्का मारेंगे, डंडे मारेंगे, गोली भी चला सकते हैं। यदि इस सबके बाद भी हम अहिंसा की रक्षा कर सके तो हमारी जीत है। मोब साइकोलाजी (संघ मानस) की रचना में अहिंसा अद्‌भुत परिवर्तन करने में समर्थ है।"

"हमें सबको बहुत ही सावधान करना होगा। विमोचन ने तो अपने पत्र में जुलूस की हंसी उड़ानी शुरू कर दी है।"

"यह उसकी इच्छा है। हमारे लिए तो यह हंसी की बात नहीं है। धन्ना भगत को कमजोर समझकर बहुतों ने हंसी उड़ायी होगी। पर यदि वह कमजोर होता तो गालियां देता। मारनेवाले को भी आशीर्वाद देने वाले का मानसिक बल निश्चित रूप से हमारी अपेक्षा अधिक होगा।"

"आज आप चलेंगे ? मेरी इच्छा एक बार फिर धन्ना भगत से मिलने की हो रही है। उस बच्चे को भी देख आयेंगे।"

"चलो, हो आते हैं। अभी कोई और काम भी नहीं है।" दोनों धन्ना भगत के यहां जाने को तैयार हुए। अन्य आश्रमवासी अपने अपने कामों में लगे थे। दोनों आश्रम के बाहर भी नहीं पहुंच पाये थे कि पुष्पा और रंजन कार में आ पहुंचीं।

हंसकर जनार्दन बोले, "जहां जाओ, सामने रंजन।" अरुण कुछ नहीं बोला। कार रुकी।

"कहां जा रहे हैं ?" रंजन ने पूछा।

"जहां जायेंगे, सफलता मिलेगी। शकुन बहुत अच्छा हुआ है।" जनार्दत ने कहा।

"कैसे ?"

"सामने दो कुमारियां मिली हैं। और क्या चहिए ?"

कुमार हृदय की निर्मलता और निर्दोष स्नेह पारखी को भी पवित्र बनाते हैं।

ऐसे ही हृदय बड़े से बड़ा बलिदान दे सकते हैं। हृदय में यदि कौमार्य की उदारता न हो तो विवाह का साहस भी कोई कैसे कर सकता है ?

"हम तो आपको रोकने आये हैं।" रंजन बोली।

"क्यों ?"

"हम भी जुलूस में चलेंगे। वीस तीस महिलाएं चलने को तैयार हैं ?"

"क्या ?"

सचमुच ही आश्चर्य की बात थी। गरबे और विवाहोत्सवों में भी जो महिलाएं पुरुषों को साथ लिए बिना बाहर नहीं निकलतीं, वे ऐसी राजनीतिक हलचल में आगे बढ़कर जुड़ना चाह रही थीं, यह कम आश्चर्य की बात नहीं थी।

"सच कह रही हूं। मजाक नहीं।" रंजन ने हंसते हुए कहा।

"नहीं बहन। इस खतरे में मैं तुम लोगों को नहीं झोंकूंगा। कलक्टर इस जुलूस को रोकने के लिए हर संभव कोशिश करेगा। ऐसे में कहीं किसी को चोट लग गयी तो ?"

'हमारे लगेगी तो हम अपने आपको समझ लेंगी। आपको लगेगी, तो भी हम देखभाल में हाथ बंटायेंगी।"

"नहीं ! देख, रंजन, तेरी वजह से कृष्णकांत को परेशानी उठानी पड़ेगी। और पुष्पा ! तुझे तो तेरे पिताजी आने ही नहीं देंगे। उनकी हमारे कामों के प्रति आस्था नहीं है। इसलिए तुम्हें मैं जुलूस में ही नहीं जाने दूंगा।" जनार्दन ने कहा।

"तो हम अपना अलग जुलूस निकालेंगे। देशसेवा क्या सिर्फ पुरुष ही कर सकते हैं ?"

"जुलूस निकालकर ही देशसेवा हो जाती है क्या ?"

"तो आप लोग क्यों निकाल रहे हैं जुलूस ?"

"अपनी ध्वजा फहराने के सिद्धांत के कारण। अपना अहिंसा का ध्वज। सरकार उसे फहराने को मना करती है तो उस ना को कैसे माना जाय ?"

"ठीक है। तो इस सिद्धांत के लिए अकेले पुरुष ही क्यों लड़ें ?"

"यह रंजन तो बड़ी तेज लड़की है। देख रंजन अभी पुरुष ही इस लड़ाई के के लिए पूरी तरह तैयार नहीं हैं। फिर स्त्रियों को साथ कैसे लिया जा सकता है?"

"पुरुष तैयार नहीं हैं तो वे हट जायें और तैयार महिलाओं को मार्ग दे दें।"

"मेरे साथ तर्क करना व्यर्थ है। अभी तो तीन दिन हैं बीच में। अरुण ! तुम इन लड़कियों के लिए कोई योजना तैयार कर रखना।"

"कहां जाना है ? जरूरत हो तो गाड़ी भेज दूं।"

"धन्ना भगत के घर ! अरुण उसका शिष्यत्व ग्रहण कर रहा है।" हंसकर जनार्दन ने कहा।

"कहां रहते हैं वह ?"

"मुझे पता है।" इतनी देर बाद पुष्पा बोली। रंजन और जनार्दन के बीच हो रही बातों के बीच अरुण और पुष्पा बिना बोले ही एक दूसरे की ओर देखते रहे थे।

"पर वहां जाने पर तुझे नहाना पड़ेगा। सुशीला तो तुझे घर में भी नहीं घुसने देगी।" रंजन ने पुष्पा का ध्यान उसके घर की स्थति की ओर खींचना चाहा।

"तो क्या हुआ ? नहा लूंगी।"

जनार्दन धन्ना भगत का घर जानते थे। लेकिन पुष्पा जैसी एक परमवैष्णव परिवार की लड़की का वह स्थान जानना उनके लिए भी आश्चर्यजनक था।

अरुण आगेवाली सीट पर बैठा। जनार्दन पुष्पा के साथ बैठ गये। सारे शहर को पार करने पर कार एक गरीब बस्ती में पहुंची।

छोटे-छोटे घर। किंतु बीच में काफी चौड़ा मार्ग। उस मार्ग पर काफी भाग में सूत की डोरियों से बंधे लकड़ी के टुकड़े जमीन में गड़े थे। घरों के आंगन साफ लिपे हुए थे। ब्राह्मण-बनियों की गलियों में दिखाई देनेवाला कचरा और जहां-तहां बहता गंदा पानी इस बस्ती में कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। कई घरों के सामने तुलसी के पौधे भी लगे थे।

"यह तो बड़ी अच्छी बस्ती है।" शहर की गलियों से परेशान रंजन बोल उठी।

"यहीं रहते हैं धन्ना भगत।"

कार की गति धीमी हो गयी। कई बच्चे पीछे दौड़े आ रहे थे। कई ने कुछ भी नहीं पहन रखा था। कुछ बच्चों ने नाममात्र को चिथड़े जैसे कपड़े कमर में लपेट रखे थे। कुछ ने मात्र सिर पर टोपी पहनकर शेष शरीर को मुक्त छोड़ दिया था। शरीर मिट्टी से सने। यह सब देख रंजन अपनी हंसी न रोक सकी। पर हंसते-हंसते भी उसकी सौंदर्य चेतना ने देखा कि उन नंगे-अधनंगे बच्चों में भी अधिकांश बदशकल तो नहीं ही थे। उन्हें यदि एक घंटे तक साबुन के पानी में बैठाये

रखा जाय तो उनका गेहुंआ रंग अवश्य ही निखर सकता है।

"तुझे कैसे पता कि धन्ना भगत यहां रहते हैं ?" रंजन ने पुष्पा से पूछा।

"दो-तीन बार यहां आ चुकी हूं।" कुछ हिचकिचाते हुए पुष्पा ने कहा।

"तू आ चुकी है ? कैसे ?" जनार्दन अपनी जिज्ञासा नहीं रोक पाये।

"एक बार तो पंद्रह बीस दिन तक धन्ना भगत दिखाई नहीं दिये तो देखने आना पड़ा। एक बार किशन बहुत बिमार हो गया था। दीदी ने मुझे डाक्टर के साथ भेजा था।"

अरुण और जनार्दन सुन रहे थे। इतनी धर्मप्रिय सुशीला स्वयं अपनी बहन को एक अछूत के यहां खोज खबर के लिए भेजे यह बात रंजन के लिए कम आश्चर्य की नहीं थी।

गली के सिरे पर एक छोटे से घर के सामने पुष्पा ने कार रुकवा ली। सामने ही तुलसी चौरे के चारों ओर मिट्टी से लिपा बड़ा चौंतरा था। वहीं बैठे भगत अपने एकतारे पर कोई भजन गा रहे थे।

चारों व्यक्ति कार से उतरकर चुपचाप चौंतरे पर जा बैठे।

15. प्रभुभक्त और देशभक्त

हे प्रभु ! तेरी कृपा से मूक बोलने लगते हैं
और पंगु पर्वत पर चढ़ जाते हैं।

—भोलानाथ

आकाश के चंदोवे के नीचे, पृथ्वी का बिछावन फैला है।
शून्य शिखर के सिंहासन पर, जगमग ज्योति के बीच प्रभु बैठे हैं।
मेरी दृष्टि कमजोर है और मैं प्रकाश को देखने के लिए तड़प रहा हूं।
सागर का जल मेरे राजा के चरण पखार रहा है।
मस्तक पर मेघ अभिषेक कर रहे हैं
मैं तुच्छ हाथ में इतना-सा पानी लिये खड़ा हूं।
यह पानी तेरे चरणों का स्पर्श कैसे करेगा ?
सूर्य और चंद्रमा के दीपक की अखंड ज्योति
और लाखों तारों की दीपमालिका के रहते
मैं अपने घर के गोखे पर दीपक जलाकर बैठा तो हूं
पर वह आरती क्या आरती होगी ?
वन के वन फूलों से भरे हैं और मलयागिरि चंदन से ढका है।
इस सारी समृद्धि के बीच तुलसी के पत्ते से तुझे रिझाने निर्धन में बैठा हूं।
हे प्रभु। अब अपनी कृपा की सरिता बहाकर मुझे आप्लावित कर दो।

धन्ना भगत भजन में इतने डूबे थे कि उन्हें आसपास का कुछ होश नहीं था। एकतारे के स्वर भगत के स्वर के साथ मिलकर सबका ध्यान भजन की गहराई तक खींच रहे थे। भगत के स्वर में बुलंदी और लोच थे। उनके भक्तिभाव भरे भजन में ऐसा आकर्षण था कि सुनकर नास्तिक के मन में भी आस्था जाग जाय।

अगम होते हुए भी सुगम, दर्शन से भरा होकर भी वह एकदम सीधा सहज था। ब्राह्मण भले ही शूद्रों को वेदाध्ययन न करने दें, वेद स्वयं शूद्रों के भजनों में अवतरित हो जाते हैं। हिंदू समाज को जाति भेद और वर्गभेद के कारण काफी बुरा-भला कहा जाता है। स्वयं अपने दोषों को पहचानना बहुत अच्छी बात है। किंतु हमारी ज्ञान और भक्ति की किरणें सामाजिक और धार्मिक दीवारों को भेदकर समाज की हर परत में पहुंच गयी हैं, यह जानने के लिए एकतारे, मजीरे और करताल को देखना ही काफी है। हर जाति में ईश्वर-भक्त होते हैं, सबकी अपनी भजन मंडलियां होती हैं।

भजन सार्वजनिक संपत्ति हैं। शूद्र की मंडली हो या कोली की। जमींदार की हो या महाजनों की, भजन गाने की छूट सभी को है। इतना ही नहीं मुसलमान फकीरों के मुंह से भी ये भजन सुने जा सकते हैं। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक दंगे करवाने वाले तत्वों को समझ लेना चाहिए कि कबीर व मीरा के अनेक ज्ञानगम्य व भावप्रवण भजन नमाजी मुसलमान फकीर बड़े आदर के साथ गाते हैं। अलख निरंजन, इडा, पींगला, सुषुम्ना, आगमगढ़ आदि जैसे ठेठ हिंदू संस्कृतिपरक शब्दों को ये मुसलमान भजनिक गहराई से आत्मसात् कर चुके हैं और श्रोताओं को भी उनका अनुभव करवाते हैं। क्या हिंदुओं को भी इतनी ही गहराई से मुस्लिम जीवन में उतरने की आवश्यकता नहीं है ? और इसीलिए हिंदू भी सूफी होते हैं।

गाते-गाते धन्ना भगत की आंखों में आंसू भर आये थे। उसके चेहरे से लगता था कि वह उस परम तत्व के दर्शन के लिए ललक रहा था। उस तत्व के दर्शन के लिए अपनी भौतिक आंखें बंद करना आवश्यक है। धन्ना भगत की ये आंखें अपने आप ही बंद हो गयी थीं। कहीं परमात्मा ने ही तो उसे यह सुविधा नहीं दी थी अपने दर्शन के लिए ?

अरुण को गीता का यह वाक्य याद आया :

दिव्यं ददामि ते चक्षु

"बावा ये लोग आये हैं।" किशन ने भजन में डूबे बाबा से कहा। अन्यथा वे जाने कब तक उसी प्रकार अपने आसपास से बेखबर भजन में ही डूबे रहते।

"अरे आओ आओ ! मुझे तो आंखों से दिखता ही नहीं । क्या करूं ?" धन्ना भगत ने सबका स्वागत करते हुए अपनी असमर्थता जतायी ।

"बाबा पुष्पा बहन हैं और जिन्होंने उस दिन हमें छुड़ाया था न, वे हैं ?" किशन ने आगंतुकों का परिचय दिया ।

"पुष्पा बहन तो भगवान की भक्त हैं। बड़ी बहन कैसी हैं ? मैं तो घर से निकल ही नहीं सका। किशन तो उस दिन से गुस्से में भरा बैठा है।"

"होना ही चाहिए था। मुझे ही इतना गुस्सा आया था कि क्या बताऊं ?" रंजन ने कहा ।

"ये बहन कौन हैं।"

"मेरी सहेली है। खूब पढ़ी लिखी है।"

"बहुत अच्छा। सुखी रहो। मेरे घर आप सबका आना कैसे हुआ ?"

"आप तो भगत जी बहुत ज्ञानी हैं। हमारे आश्रम में क्यों नहीं आते ?" जनार्दन ने कहा।

"मुझमें ज्ञान कहां? मैं तो ज्ञानियों की चरणरज हूं। वहां आकर क्या करूंगा?"

"आपको तो सब लोग जानते ही हैं। आपके भजन सुनकर तो हम सब पवित्र हो जायेंगे।"

"अरे बापा, क्या कहते हो ? हम तो छोटे लोग हैं। ज्यादा से ज्यादा इतना कि दूर बैठ कर भजन गा दें। इससे ज्यादा हमारी क्या बिसात ?"

किशन दादा की ओर देख रहा था। न जाने क्यों वे अपनी ही जाति को छोटा बता रहे थे। अस्पृश्यता भी हर समय अस्पृश्यों को बुरी नहीं लगती। अरुण और जनार्दन किशन की ओर ही देख रहे थे। अरुण ने पूछा :

"किशन तेरे बाबा की बात तुझे अच्छी नहीं लगती ना ?"

"अरे यह तो कभी का ईसाई बन जाता।" उसके बाबा ने कहा।

यह चौंकाने वाली बात थी। जिस दिन ब्राह्मणों ने किशन और उसके बाबा को मारा था, उसी दिन से तो ईसाई पादरी उन दोनों को हिंदू धर्म छोड़ देने की सलाह दे रहे थे। धन्ना भगत के लिए तो इससे कोई फर्क पड़ना नहीं था। बचपन से लेकर अब तक कई पादरियों ने उनके भजन सुने थे। उन्होंने कई अछूतों को ईसाई बनते देखा था। किंतु अछूत होने पर भी धन्ना भगत का सम्मान ऊंचे वर्ग

के हिंदुओं में भी उनके भजनों के कारण था। उन पादरियों ने किशन को ललचाने का प्रयत्न किया।

"देख, हिंदू रहकर तुझे क्या मिला? कोई तुझे छूता नहीं। अनजाने में छू जाने पर तो तुझे और तेरे बाबा को कितनी मार पड़ी। तेरी जगह कोई ईसाई होता तो ब्राह्मण उसे सलाम करते और हाथ मिलाते।"

किशन को बात कुछ ठीक लगी। उसने साहबी टोपी पहने उन ईसाइयों के सामने हिंदुओं को सलाम करते देखा था। "ईसाई बनने पर तुझे बढ़िया कपड़े मिलेंगे। अच्छा खाने को मिलेगा। चाय, काफी, लेमन जो जी चाहे पी सकेगा। रहने को बंगले जैसा घर। साहब लोग तुझे पढ़ना सिखायेंगे। बड़ी परीक्षा पास करते ही बड़ी नौकरी दिला देंगे। सवारी बैठने को। फिर किसी मेम के साथ तेरा विवाह भी हो जायेगा। हिंदू रहकर तुझे क्या मिलेगा? पहले तो तुझे कोई पूरा पढ़ने ही नहीं देगा। पढ़ भी गया तो अछूत की तरह दूर ही रखेंगे सब? अच्छी नौकरी भी तुझे कोई देने वाला नहीं है।"

यह सचाई थी। किशन में बड़ी पढ़ने की रुचि थी। अक्षर ज्ञान उसने पाठशाला के बाहर बैठकर पाया था। मिशन स्कूल में भी उसे कक्षा में सबसे अलग एक तख्ती पर बैठाया जाता था। शिक्षक भी उसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करते थे। स्कूल में उसका मित्र भी कोई नहीं था। फिर किसी अछूत को ईसाई बने बिना कोई ऊंचा पद भी तो कभी नहीं मिला था।

"आज राज्य किसका है? ईसाईयों का ही। दुनिया में सबसे बड़ा साम्राज्य किसका है? ईसाइयों का। जर्मनी, इंग्लैंड, फ्रांस और एशिया ने दुनिया के बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर रखा है। वह उनकी ईसाइयत का ही प्रताप है। कितनी उन्नति की है इन देशों ने? किसी भी देश को ऐसी उन्नति करनी हो तो ईसाई धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए। जापान और चीन में भी बहुत लोग ईसाई बन गये हैं? तुम्हें भी अपनी जाति और देश का भला करना हो तो ईसाई बन जाना चाहिये।"

किशन को इतिहास की जो थोड़ी बहुत जानकारी थी, उससे पादरी के कथन की पुष्टि ही हुई।

"प्रभु ईसामसीह बहुत दयालु हैं। उन्होंने पूरी दुनिया के पाप की सजा स्वयं

भोगी और खुदा बाप से समस्त ईसाइयों के पापों की माफी मांगी थी। जो इसाई बनेगा, उसे मृत्यु के बाद स्वर्ग मिलेगा, औरों को नहीं।"

किशन को इस बात में कुछ सचाई दिखाई दी कि ईसाई धर्म स्वीकार करने से ही इस लोक और परलोक में भी लाभ है। और यह वह देख ही रहा था कि हिंदू रह कर अपमान के सिवाय कुछ नहीं मिलता था। हिंदू समाज के प्रति उसका रोष बढ़ने लगा। एक दिन तो उसने आवेश मैं आकर ईसामसीह से प्रार्थना की कि वह जल्दी ही किशन को अपनी शरण में ले लें।

पर एक बड़ी कठिनाई थी। बाबा के प्रति उसके मन में काफी सम्मान और प्यार था। उनसे पूछे बिना वह कभी कुछ नहीं करता था। उसने अपने मन की उथल-पुथल बाबा को बतायी :

"बाबा ! हम ईसाई बन जायें तो ?"

"अरे ईसाई कहलाने से ही क्या ईसाई बन जाते हैं ? और तेरे मन में यह बात आई कैसे ?'

"हिंदू तो हमें छूते तक नहीं। मारते हैं। हमें नीच मानते हैं। हिंदू रहकर हमें क्या मिलेगा ?"

"तुझे ऐसा लगता है। पर बेटे देख, जिसे भगवान के दर्शन हो जाते हैं, उसके लिए अछूत और ब्राह्मण में कोई अंतर नहीं रह जाता। नरसिंह मेहता को नागर-वाड़े की अपेक्षा अछूत बस्ती में बैठना अधिक अच्छा लगता था।

"पर बाबा, सभी तो ऐसे नहीं होते।"

"नहीं बेटे। धर्म बदलने से न कोई बड़प्पन मिलता है, न कुछ आता है। सभी धर्म एक से हैं। भगवान को याद करो और सच्चे बनो। बारह-पंद्रह साल पहले इन ईसाइयों में ही ऐसी मारकाट मची थी कि बेचारे ईसामसीह स्वर्ग में बैठे इन ईसाइयों के नाम पर रो रहे होंगे। देख मुझे सुखी रखना चाहता है, तो तू अब यह बात मत करना। मैं मर जाऊं तब भले ही ईसाई बन जाना।"

धन्ना भगत की इस बात के उत्तर में किशन को कुछ नहीं कहना था। वह मरते दम तक ऐसा काम करने के लिए तैयार नहीं था जिससे बाबा को दुख पहुंचे। अस्तु किशन ने यह विचार त्याग दिया।

यही बात धन्ना भगत ने बतायी। अरुण को धन्ना भगत का मिथ्या धर्माभिमान

अखरा। उसकी यह पुरानी मान्यता फिर जाग उठी कि धनिक और धार्मिक दोनों जनता पर अत्याचार करनेवाले हैं।

जनार्दन ने किशन को आश्रम में भेजने के लिए कहा। बाबा ने कहा :

"किशन की इच्छा हो तो शौक से जा सकता है।"

"बाबा को छोड़कर मैं कहीं नहीं जाऊंगा।"

जनार्दन ने अछूतों की जाग्रति के विषय में पूछताछ की। धन्ना भगत को इस विषय में विशेष कुछ पता नहीं था। जनार्दन पहले भी उन लोगों में घूम-घूमकर स्वराज्य के प्रति उनकी मानसिक स्थिति जानने का प्रयत्न करते रहे थे। इस दिशा में उनके प्रयत्न कुछ सफल नहीं हुए थे। आज फिर धन्ना भगत जैसे व्यक्ति से कुछ पूछने की उनकी इच्छा स्वाभाविक ही थी।

धन्ना भगत बोले :

"भाई! स्वराज्य हो या परराज्य, किसका राज्य हमेशा रहा है? अपना राज्य था, वह भी चला गया। गोरों का राज्य भी वक्त आने पर चला जायेगा। मुझे तो किसी भी राज्य का मोह नहीं है। राज्य तो मेरे भगवान का सबसे अच्छा है कि उसमें सभी का कल्याण है।"

जब तक मनुष्य को ऐसा राज्य नहीं मिलता जिसमें सभी का कल्याण निहित हो, तब तक राज्य-चक्र घूमता ही रहेगा। धन्ना भगत की राजकीय संभावना क्या समग्र विश्व के राज्यों को अयोग्य सिद्ध नहीं कर रही थी?

धन्ना भगत से आज्ञा लेकर जब सब कार की ओर चले तो जनार्दन ने अरुण से पूछा :

"देश भक्ति श्रेष्ठ है या प्रभु भक्ति?"

"प्रभाव तुम्हारे पास ही है। देशभक्ति जनार्दन को जन्म देती है और प्रभु-भक्ति धन्ना भगत को। एक फिनिश्ड प्रोडक्ट, संस्कारी व्यक्ति। दूसरा क्रूड, अधकचरा। एक में खुला आत्म-विकास। दूसरा परंपरागत मान्यताओं का कुढंगा पुतला। आप ही बताइये, कौन श्रेष्ठ है?"

"नहीं अरुण। प्रभुभक्ति हमेशा देशभक्ति से बढ़कर है। देशभक्ति की सीमाएं सोच-विचारकर ही गांधीजी ने स्वराज्य कहा था। प्रभुभक्ति के लिए देशभक्ति का भोग लगे तो कोई बात नहीं। यों कोई इस बात को मानेगा नहीं। पर देश-

भक्ति में प्रभुभक्ति का भोग कभी नहीं दिया जा सकता। जनार्दन की अपेक्षा धन्ना भगत हर हालत में श्रेष्ठ है।"

अरुण बातों की गहराई में उतरने की जनार्दन की आदत जानता था। जनार्दन ने आगे कहा :

"हम इन चिंतकों की भूमिका को अच्छी तरह नहीं समझते, इसलिए इन्हें पागल कहने लगते हैं।"

"मैं नहीं मानता।"

"किसी दिन मान जायेगा।"

रंजन और पुष्पा पूरे समय अरुण को देखती रही थीं। पुष्पा ने एकाएक पूछा :

"रंजन ! किशन का मुंह किस जैसा है ?"

"तेरे जैसा !" हंसकर रंजन बोली।

"जा जा ! मुझे तो जनार्दन जैसा लग रहा था।"

"तेरे लिए अरुण जैसा तो कोई हो ही नहीं सकता न ?"

"हट, तुझे मजाक के सिवा कुछ काम नहीं है।"

अछूत बस्ती से बाहर निकलते ही अखबारवाले की आवाज सुनाई दी 'लखपति' दिवालिया ! कृष्णकांत बर्बाद !'

16. संस्कार और व्यापार

**मनुष्य के लिए जीवन ही सब कुछ है
या भावप्रवणता ? अब उसे लूट कर
जीवन भी क्यों लूटे चले जा रहे हो ?**

—कलापी

'कृष्णकांत दिवालिया। स्वराज्य का मंत्र'—एक-एक आना।

हरकारा चिल्लाये जा रहा था। किसी समदृष्टा वेदांती की तरह एक आने में स्वराज्य का मंत्र और कृष्णकांत का दिवालियापन साथ-साथ देनेवाला हरकारा वर्तमान जीवन की तटस्थता का अद्भुत नमूना है।

किंतु कार में बैठे चारों व्यक्तियों में से कोई भी इस पुकार को सुनकर वैसा तटस्थ नहीं रह सका। सभी ने रंजन की ओर देखा। रंजन के चेहरे पर अनभिज्ञता स्पष्ट थी। वह बोली,

"मुझे तो कुछ भी पता नहीं।"

पूंजीवाद को सारे अनर्थों की जड़ माननेवाले अरुण और जनार्दन भी यह समाचार सुनकर क्षुब्ध ही हुए। मनुष्य के अंतरंग संबंध उसके सिद्धांतों को किस तरह परे ठेल देते हैं, यह इनके मनोभाव देखकर ही समझा जा सकता था। कार रुकवा कर अरुण ने एक अखबार खरीदा।

मुखपृष्ठ पर ही बड़े अक्षरों में लिखा था :

'कृष्णकांत बर्बाद। आज बाजार में यह बात तेजी से चल रही है कि प्रसिद्ध लखपति कृष्णकांत के यहां लेनदारों की भीड़ लग रही है। सभी लेनदारों का हिसाब करना उनके लिए कठिन है। ऐसा करने में उन्हें दिवाला निकाल देना पड़ेगा।'

वर्तमान पत्र खबरों को नमक-मिर्च लगाकर छापने के चक्कर में बीमार को मुर्दा बनाकर बैठा देते हैं। 'वा वायाथी नलियुं खस्युं' (हवा चलने से खपरेल उड़ गयी) अखा की यह प्रसिद्ध पंक्ति कहीं आजकल के अखबारों को लक्ष्य कर ही तो नहीं लिखी गयी है ? कहा जा सकता है कि वेदांती अखा त्रिकालज्ञ थे और यह पंक्ति लिखते समय उनके मन में बीसवीं सदी के समाचार पत्र ही घूम रहे थे तो उससे तर्क करना कठिन होगा। कृष्णकांत दिवालिया होने से पहले ही सारे शहर में दिवालिया घोषित हो चुके थे, यह अखबारों की आकर्षक सुर्खियों और उनके हरकारों की रोचक वाणी का ही प्रताप था।

कार तेजी से कृष्णकांत के निवास की ओर दौड़ी। शाम हो चुकी थी। उनका बंगला रोज की ही तरह जगमगा रहा था। चारों व्यक्ति कार से उतरकर तेजी से अंदर गये। दीवानखाने में पचास साठ व्यक्ति कुर्सियों और सोफों पर बैठकर धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। चार नये व्यक्तियों को आते देख उन्होंने सामने देखा किंतु उनमें कृष्णकांत को न पाकर वे फिर बातों में लग गये।

अंदर झांकने पर कृष्णकांत नहीं दिखे तो सब घर में गये। कृष्णकांत के अपने कमरे को रंजन ने खटखटाया।

"कौन है ? अंदर आ जाओ।" कृष्णकांत की आवाज सुनाई दी। चारों तेजी से अंदर गये। कृष्णकांत हाथ में कीमती सिगार लिये बैठे थे। सामने चिंताग्रस्त सुरभि हाथों पर गाल टिकाये बैठी थी।

"अरे रे। पूरा हमला ही है। यही गनीमत है कि लेनदार नहीं हैं। चारों कहां से चले आ रहे हो ?" सिगार की राख झाड़कर हंसते कृष्णकांत ने पूछा।

"यह अखबार में क्या छपा है ?" घबराकर रंजन ने पूछा।

"तूने पढ़ा है न ?"

"हां। पर वह सच है क्या ?"

"सच ही है।"

"फिर ?"

"फिर क्या ? लेनदारों को रुपये देने पड़ेंगे।"

"एकदम यह सब कैसे हो गया ?"

"एकदम कुछ नहीं हुआ। छह महीनों से यह सब चल रहा था। मुझे क्या पता

था कि कलक्टर के साथ हुई अनबन सभी अंग्रेजों के साथ की अनबन बन जायेगी ? अपने गोरे मैनेजर ने धोखा दिया। पंद्रह लाख का हिसाब गलत लिखा और दस लाख की नयी मशीनरी मंगाने में घोटाला कर दिया।"

"तो उसे पकड़वाओ न ?"

"पता लगे तब न। उसे नौकरी छोड़े एक महीने से ज्यादा हो गया। बाद में सब पता चला।"

"अब क्या करेंगे ?"

"कुछ नहीं। जितना होगा, लोगों को चुकाऊंगा। तेरे मकान में किराये पर रहूंगा और देगी तो तेरे कार में घुमूंगा।" हंसकर कृष्णकांत बोले और सिगार के धुंए से छल्ले बनाने लगे।

"ऐसे क्या बोलते हो भैया ? कौन-सा मकान और कैसी मेरी कार। जो तुम्हारा नहीं, वह मेरा कैसे होगा ?"

कृष्णकांत कुछ नहीं बोले। अरुण और जनार्दन चिंता में डूब गये। इन लोगों से कृष्णकांत का संबंध कलक्टर को अच्छा नहीं लगा था और इस संबंध को तोड़ने की उसकी सलाह को कृष्णकांत ने दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया था। गोरों ने उसे अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया था।

जिसने अपने प्रयत्नों से संपत्ति अर्जित नहीं की, उसे उसकी विशेष चिंता नहीं होती। पीढ़ियों से चले आये वैभव को भोगनेवाला उस वैभव को अपने स्वाभाविक अधिकार की तरह मानने लगता है। जैसे सूर्य रोज उगता है। हम उसे अपने स्वाभाविक अधिकार के रूप में ही रोज स्वीकार करते हैं और उसे कोई विशेष घटना नहीं मानते। सूर्य उगेगा या नहीं ऐसा कोई प्रश्न हमारे मन में उठता ही नहीं ऐसी चिंता भी हम कभी नहीं करते। धनवान पिता के पुत्र को अपना धन वैभव सूर्य की तरह शाश्वत प्रतीत होता है। उसे यह कल्पना भी कभी नहीं होती कि यह धन वैभव नहीं भी होगा। वह धन के प्रति असावधान होकर कभी कभी उदारतावश उड़ाऊपन की सीमा में आ पहुंचता है कृष्णकांत को यही लगता था कि उसके सारे नौकर ईमानदार हैं। वे कभी भी व्यापार के कामों में विशेष दखल देने की आवश्यता नहीं समझते थे।

परंतु जो स्वयं मेहनत करके पैसा कमाता है, उसे हर पैसे से जुड़ा अपना परिश्रम

दिखाई देता है। क्योंकि वे पैसे के अभाव में से ही पैसे को अस्तित्व में लाते हैं अत: पैसा उनके लिए शाश्वत नहीं होता। कंजूस जैसी गालियां सुनकर भी वे पैसे की रक्षा करते हैं। कृष्णकांत के पिता ने धनोपार्जन के लिए काफी मेहनत की थी। अपने नये विचारों के कारण उन्होंने अपने बच्चों को पाश्चात्य ढंग से पाला था। फिर भी उसके मन में पैसे की कीमत थी। उन्होंने अपनी संतान के लिए धन की विशेष व्यवस्था की थी। रंजन और कृष्णकांत के लिए उन्होंने अपनी संपत्ति के अलग-अलग भाग किये थे। इसके अलावा अपनी पुत्र-वधू सुरभि केलिए भी उन्होंने आय की अलग व्यवस्था कर दी थी। कृष्णकांत की कार्य-कुशलता में उन्हें संदेह नहीं था, फिर भी उनकी व्यापारी बुद्धि ने सौभाग्यवश ही उनसे इतनी समझदारी करवा दी थी।

पिता द्वारा स्थापित व्यवस्था में कोई कठिनाई न देखकर कृष्णकांत ने व्यापार की छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान नहीं दिया। बार-बार हिसाब-किताब देखना, नौकरों के विरुद्ध शिकायतें सुनना, आढ़तियों के प्रति अविश्वास रखना, कारीगरों पर निरंतर पहरा देना यह सब उसे व्यर्थ और सज्जनता के विरुद्ध लगता था। अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ने, पाश्चात्य कला में डूबने और पाश्चात्य समाज के समकक्ष मैत्री में ही उनका समय बीतता जा रहा था। क्लेश, झिझक, मेहनत और चिंता उनके वश के नहीं थे। किसी के प्रति लेशमात्र भी कटुता उनके मन में कभी नहीं आती थी। सालभर लाभ-हानि के हिसाब के बाद लाभांश में से मिल के कर्मचारियों को अधिक-से-अधिक लाभ देने में ही उनकी रुचि थी।

कर्मचारियों की सुख-सुविधा के लिए पाश्चात्य देशों में क्या किया जाता है, यह वे जानते थे और उसके लिए सदैव तत्पर रहते थे। शेयर होल्डरों को ही लाभान्वित करने के बजाय कर्मचारियों की सुख-सुविधा बढ़ाने के लिए वे अपने अधिकार का पूरा प्रयोग करते थे। मजदूरों की बस्ती में उन्होंने सुधार किये थे। वहां बीच-बीच में बगीचे और खेल के मैदान बनाये थे। मजदूरों के लिए अस्पताल, स्कूल और प्रसूतिगृह भी खोले गये थे। उनके बोनस भी बढ़ाये गये थे। इन्ही सब प्रयत्नों के बीच उनका जनार्दन से परिचय बढ़ा था। अति आधुनिक रहन-सहन के बाद भी उनका मन इतना संकुचित नहीं था कि वे औरों का तिरस्कार करें।

यूरोपिय क्लब से अलग होने पर कृष्णकांत ने अरुण और जनार्दन से घनिष्ठता

बढ़ा ली थी। वह प्राय: आश्रम में जाते और आश्रम को खुलकर सहायता देते। राजनीति में उनकी विशेष रुचि नहीं थी फिर भी वे अब कहने लगे कि अंग्रेजों के घमंड को तो स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

क्लब छोड़ने पर भी कृष्णकांत की प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आयी थी। पार्टियों आदि में उन्हें आमंत्रण मिलते रहते थे। ऐसे अवसरों पर वह विशेष रूप से देशी और जहां तक संभव हो, गांधी शैली के कपड़े पहनकर जाते। वह जो भी पहनते, इतनी अच्छी तरह, कि खिल उठते। कलक्टर, कमिश्नर और गोरे अफसरों व व्यापारियों की वह ऐसे अवसरों पर जानबूझ कर उपेक्षा करते। कभी वे अनचाहे ही उनकी मेज पर आ भी जाते तो भी वह उनकी हंसी उड़ाकर उनके साथ अपनी अनबन को स्पष्ट कर देते थे।

कारकून बनाने की मशीन के रूप में अंग्रेजों ने भारत में जिस शिक्षा की स्थापना की थी, उन्हें यह पता नहीं था कि उसी शिक्षा के कारण भारतीय अंग्रेजों की बराबरी करने लगेंगे। अंग्रेजी शिक्षा के अनेक दुष्प्रभावों के बाद भी यह नहीं भुलाया जा सकता कि राजनीति के क्षेत्र में वह शिक्षा पद्धति संजीवनी सिद्ध हुई है।

कृष्णकांत की मिल में दो तीन यूरोपियन अफसर थे। यूरोपियन व्यापारियों के साथ उनका काफी व्यापारिक संबंध था। जनता की यह मान्यता बन गयी है कि यूरोपियनों में एक ऐसी नैतिकता और कार्य-दक्षता होती है जो भारतवासियों में कम ही नजर आती है। उनके रसूकात, परिश्रम, व्यवस्था, नियमितता, प्रभावित करने की कला और वाक्पटुता से भारतवासी प्रभावित हों, इसमें आश्चर्य नहीं। अंग्रेजों के बहुत से गुण भारतीयों को अपने जीवन में अपनाने की आवश्यकता है। उनकी कार्यशक्ति, नियमितता और एक सीमा तक तो सच्चाई अनुकरणीय हैं। पर यह नहीं भूलना चाहिए कि उनमें भी नैतिक स्खलन होता ही है। अमीचंद की धोखेबाजी से आरंभ कंपनी शासन की रिश्वत-प्रणाली अब तक समाप्त नहीं हुई है। यदि विश्वास न हो तो कई कलक्टरों, उनके चिटनीसों (चिटनवीस) तथा अन्य कई राजनीतिक दलालों और उनके साथियों के विषय में अनुभवी लोगों से जानकारी ली जा सकती है।

कृष्णकांत को यूरोपियनों की ईमानदारी और सच्चाई पर बड़ा विश्वास था। उनके यूरोपियन नौकर लंबे समय से मिल में अच्छी तरह से कार्य कर रहे थे।

कृष्णकांत की मजदूरों की स्थिति सुधारने की इच्छा वे बहुत अच्छी तरह कार्यान्वित करते थे। मिल के मैनेजर और सहायक मैनेजर यूरोपियन थे। एक दिन सहायक मैनेजर ने कृष्णकांत से कहा :

"आप हिसाब देखें तो ठीक रहे।"

"आडिटर्स क्या करते हैं ?"

"वे यंत्रवत हिसाब देख लेते हैं। इतना ही काफी नहीं है। किसी देशी विशेषज्ञ से एक बार फिर जांच करवा लें।"

"कृष्णकांत हंसे ?"

"यूरोपियन होकर आप देशजों को कब से पसंद करने लगे ?"

"मैं ठीक ही कह रहा हूं।"

"ठीक है, मैं व्यवस्था करूंगा।"

दूसरे दिन कृष्णकांत ने मैनेजर को बुलाकर कहा :

"आपका हिसाब यदि दूसरे आडिटर्स से चैक करवाया जाय तो ?"

मैनेजर ने मुंह चढ़ाकर कहा :

"आपकी इच्छा है। वैसे यह दुगुना खर्च मुझे तो आवश्यक नहीं लगता।"

"ऐसा है कि भूलचूक की संभावना तो रहती ही है।"

"मेरे इतने लंबे सेवाकाल में तो ऐसी भूल कभी हुई नहीं। अब आपकी अंग्रेजों से खटपट हो गयी है, यह मैं जानता हूं। ठीक यही है कि मुझे नौकरी छोड़ देनी चाहिए।"

"क्या मतलब है आपका ? आप मुझे धमकी दे रहे हैं ?"

"मैं काफी दिनों से सुन रहा हूं कि अब देशी अफसर लाये जायेंगे और देशी आडिटर्स भी। ऐसी हालत में मैं काम नहीं कर सकता।"

"यह आपकी भूल है। मुझे अफसरों पर पूर्णविश्वास है और किसी अन्य आडिटर से हिसाब जंचवाने की सलाह भी किसी यूरोपियनकी ओर से ही आयी हो तो?"

"यह भी मैं जानता हूं मि. कृष्णकांत। उस असिस्टेंट के साथ अब मैं हरगिज काम नहीं कर सकूंगा।" मैनेजर और उसके सहायक के बीच हिसाब-किताब को लेकर मतभेद चलता ही रहता था, अतः मैनेजर को अनुमान लगाते देर नहीं लगी।

कृष्णकांत ने समझौते का काफी प्रयत्न किया किंतु परिणाम यह निकला कि

दोनों ने ही त्यागपत्र दे दिये। मैनेजर ने तो नौकरी छोड़ने में इतनी जल्दी की कि अंततः उसे कार्यमुक्त करना ही पड़ा। कार्यमुक्त होते ही वह लापता हो गया। दूसरे ही दिन सहायक मैनेजर ने कृष्णकांत को सारे घोटाले के विषय में बताया और यह भी बताया कि दस लाख की लागत से मंगायी गयी मशीनरी में उसने क्या धोखा किया है।

कृष्णकांत चौंके। उन्होंने देखा कि मिल को पच्चीस लाख का नुकसान हुआ था। यद्यपि बदमाशी दूसरे की थी किंतु उसकी क्षतिपूर्ति का नैतिक दायित्व कृष्णकांत पर ही था। वह चाहते तो कानून की दृष्टि से इसे अस्वीकार भी कर सकते थे किंतु उन्होंने सारा दायित्व स्वयं पर लेकर हिस्सेदारों और लेनदारों की एक सभा बुलायी।

सभा में उन्होंने सारी बात साफ-साफ बता दी। मैनेजर, हिसाब लिखनेवाले और हिसाब जांचनेवाले के षड्यंत्र का इतिहास सभी को बताया। यह भी बताया कि किस प्रकार उनके अपने आत्मीय के राजनीतिक विचारों के कारण अंग्रेजों ने उनका बहिष्कार किया था और फिर उसी श्रृंखला में अंग्रेज व्यापारियों ने भी उनके मार्ग में रोड़े अटकाने शुरू कर दिये थे। अंत में उन्होंने अपनी नैतिक जिम्मेदारी स्वीकार कर अपनी व्यक्तिगत पूंजी द्वारा आधी क्षतिपूर्ति तत्काल और शेष के लिए अपनी अचल संपत्ति मिल के पास गिरवी रख कर धीरे-धीरे भरपाई करने का निर्णय भी बता दिया।

कई अंग्रेज लेनदारों और उनसे प्रभावित देशी व्यापारियों ने ऐसे लापरवाह एजेंट को उसके पद से हटाने की मांग की। किंतु मिल के कारीगरों और मजदूरों ने पहले ही कह दिया था कि यदि ऐसा हुआ तो वे मिल में हड़ताल कर देंगे। आवश्यकता होने पर वे छह माह तक बिना वेतन लिये भी उदार स्वामी की भूल को सुधारने को तत्पर थे।

उसी दिन यह बात सारे शहर में फैल गयी। अखबारों को चर्चा का विषय मिल गया था, अतः उन्होंने भी जमकर इस बात का प्रचार किया।

कृष्णकांत ने अपनी योजना पर विचार करने के लिए सभी को घर बुलाया था। किसी ने मिल का दिवाला निकालने की सलाह दी थी। इस पर कृष्णकांत ने कहा था कि ऐसा होने पर वह अपनी व्यक्तिगत जवाबदेही को अस्वीकार कर देंगे।

17. स्नेही

मनका मधुरतम अंश सदैव अपने अनुकूल और
श्रेष्ठ आत्मीयों की ओर ही बहता-बढ़ता है।
——कलापी

कृष्णकांत ने सबसे मिलने का समय आठ बजे तय किया था लेकिन सभी उससे पहले ही उनके यहां जा पहुंचे थे। अंग्रेजी नियमितता के अभ्यस्त कृष्णकांत के लिए निश्चित समय से पूर्व उनसे मिलना संभव नहीं था। उन्होंने अपनी पत्नी से भी इस विषय में उसी शाम को बात की। सुनकर सुरभि के होश उड़ गये। धन की नहीं, धन के स्वामी की चिंता ने उसे घेर लिया। व्यसनी पति के प्रति उसकी अरुचि और उपेक्षा भाप बनकर उड़ गयी। उसका हर रोम जैसे पति की रक्षा के लिये सजग हो उठा।

"मुझे यही दुख है कि आज के आज देने के लिए पूरी राशि मेरे पास नहीं है।" कृष्णकांत ने कहा।

"मेरे पास कुछ रुपये हैं। गहने हैं। फिर बापू ने जो रकम भैया के लिए हमें दे रखी है, अभी उसका भी उपयोग किया जा सकता है।" सुरभि ने कहा।

"तेरी या तेरे भाई की रकम मैं ले सकता हूं?"

"क्यों नहीं ले सकते? तुमसे मेरा कुछ अलग है?"

"मुझ जैसे व्यसनी पति···"

सुरभि ने कृष्णकांत के मुंह पर हाथ रखकर आगे कुछ नहीं बोलने दिया। तभी दरवाज़े पर खटखट हुई थी। सुरभि अपनी जगह जा बैठी और कृष्णकांत ने आगंतुक को अंदर आने के लिए कहा। सारी बातों के बाद कृष्णकांत द्वारा बहन के मकान में किराये पर रहने के मजाक के उत्तर में रंजन ने कहा था :

"ऐसे क्या बोलते हो भैया ? कौनसा मेरा मकान और कैसी मेरी कार ? जो तुम्हारा नहीं, वह मेरा कैसे होगा ?"

भाई-बहन के इस स्नेह ने जनार्दन और अरुण को भी चकित किया। उन्होंने देखा कि अंग्रेजी शिक्षा और रहन-सहन ने उनके जन्मजात आर्य-संस्कारों को अभी नष्ट नहीं किया है। और अंग्रेजों की धमनियों में भी तो कुछ अंशों में आर्य-रक्त बहता ही है।

अरुण रंजन को देखता रह गया। पहली दृष्टि में जो युवती इतनी चंचल और विचित्र लगी थी, उस चंचलता और विचित्रता के पीछे छिपे वंदनीय हृदय ने उसे पूरी तरह ठग लिया था।

पुष्पा ने अरुण की ओर से दृष्टि हटा ली और सिर के आंचल को फिर से ठीक किया।

पास रखे टेलीफोन की घंटी बजी। कृष्णकांत ने कुर्सी उसी ओर सरका कर रिसीवर उठाया।

'जी हां, मैं ही हूं ... ...कहीं नहीं जाना है ... ...कुछ न कुछ समाधान निकलेगा ही ... ...नहीं नहीं ... ...मुझे कोई घबराहट नहीं है ... ...ओह, ऐसी क्या बात है ... .. आपको कष्ट उठाने की जरूरत नहीं ... ...खुशी से आइये आइये ... ... आप से मिलकर ही मैं मांगने वालों से मिलूंगा ...जी पुष्पा यहीं है ...हां मुझे आश्वासन दे रही है ... ...बिना बोले ही ... ...।' हंसते हुए कृष्णकांत ने रिसीवर रखकर पुष्पा से कहा, "काका आ रहे हैं।"

यानी पुष्पा के पिता आ रहे थे। दोनों परिवारों में आचार-विचार के विरोध के बाद भी इस अवसर पर उनका आना स्वाभाविक ही था।

"ठीक है, हम चलें। कृष्णकांत को अब कोई विशेष दिक्कत नहीं होगी।" जनार्दन ने कहा।

"कुछ देर रुकिये ना ? ज्यादा देरी तो लगेगी नहीं। फैसला जानकर ही चलेंगे।" अरुण बोला।

"तो तुम रुको। मैं चलता हूं। तुम पूरी खबर लेकर आना।"

"आज इतनी जल्दी क्या है ?" रंजन ने पूछा।

"मैं भूल ही गया था। किसी को आश्रम में मिलने का समय दिया था।"

"तो क्या हुआ ? वह फिर आ जायेगा।"

"नहीं नहीं। मेरा जाना आवश्यक है।" जनार्दन ने काफी बेचैनी से कहा।

"महात्मा चाय काफी तो पीयेंगे नहीं। रंजन, वह प्लेट ले आ। कुछ फल खिला कर छुट्टी मिलेगी।" कृष्णकांत बोले।

सभी ने इस समय जनार्दन के चेहरे पर अनिच्छा की छाया देखी। उन्होंने एक दो टुकड़े मुंह में ठूंसे और नीचे कार का हार्न सुनते ही चौंक कर उठ खड़े हुए। जल्दी में सभी से एक साथ ही विदा लेकर वे दरवाजे की ओर लपके।

"मैं इन्हें कार में भिजवा दूं।" कहकर रंजन भी तेजी से बढ़ी।

पुष्पा के पिता और जनार्दन सीढ़ी पर टकराये। जनार्दन मुंह फेर कर नीचे उतर गये।

"आइये। भैया आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" रंजन ने कहा और वह जनार्दन को कार में बिठाने नीचे उतर गयी।

पुष्पा के पिता धनसुखलाल पुराने विचारों के गुजराती थे। धोती, अंगरखा और पगड़ी पहने इस आयु में भी वे स्वस्थ ही लगते थे। कृष्णकांत ने उन्हें नमस्कार करके एक सोफे पर बैठाया और स्वयं भी पास की कुर्सी पर बैठ गये।

"आखिर वही हुआ न जो मैं कहता था ? मैंने तेरे बाप को मना किया था और दो एक बार तुझे भी कहा था कि इन गोरों को ज्यादा दिन अपने यहां मत रखना। नहीं तो यह ही मिल के मालिक बन जायेंगे।

"जी आपने कहा तो था।"

"पर तुम सबको तो साहब बनने का शौक चर्रा रहा था। क्यों मानने लगे किसी की बात ? चल, अब जो हुआ सो हुआ। मैंने पहले मिल में पुछवाया था। वहां नहीं मिला, तब यहां रिंग किया।"

"आपने आकर बड़ा अच्छा किया।"

"अब अपनी साहबी छोड़। बाप बेटे को राम जाने क्या लत लगी थी। बता, क्या बात हुई ?"

कृष्णकांत ने अपने शुभेच्छु को संक्षेप में सारी बात बताकर लेनदारों और हिस्सेदारों की बुलाई गयी बैठक की सूचना दी। कृष्णकांत की जिम्मेदारी स्वीकारने वाली बात पर धनसुखलाल ने कड़वा-सा मुंह बनाकर कहा, "जरा भी अकल नहीं

है तुझमें। 'वेल' और 'यू सी' बोलकर ही तुम लोगों ने सोच लिया कि तुम्हें सारा राज्य मिल गया। वह जिम्मेदारी लेने से पहले मुझसे पूछना तो था।"

"नैतिक दायित्व तो है ही न मेरा?"

वृद्ध कुछ प्रसन्न हुए। उन्हें लगा कि इन साहब बने हुओं में भी धर्म का कोई अंश अभी शेष है। तभी घड़ी ने आठ बजाये।

"ठीक है अब मैं नीचे जाऊं?"

"मैं भी चलूं तो कोई हर्ज है?"

"हर्ज कैसा? चलिये न।"

इस बीच रंजन वहां आ बैठी थी। जाते-जाते धनसुखलाल ने उससे पूछा:

"रंजन! सीढ़ी पर वह कौन थे?"

"आश्रम वाले जनार्दन।"

"हूं? लगता है, कहीं देखा था।" चलते-चलते धनसुखलाल ने अतीत में दृष्टि फेंकी।

दोनों बैठक में पहुंचे। सभी कृष्णकांत की प्रतीक्षा कर रहे थे। कृष्णकांत ने एक ओर गर्दन झुकाकर सभी का अभिवादन किया और सिगार के धुंए से छल्ले बनाते बैठ गये। धनसुखलाल ने भी पास ही बैठकर हाथ से चपतियाकर धुंए को दूर करना शुरू किया तो कृष्णकांत ने सिगार बुझाते-बुझाते कहा, "ओ! आई बैग युवर पार्डन काका" (ओह! काका मैं मांफी मांगता हूं।)

18. धनसुखलाल

नीम कड़वा भले ही हो पर उसकी छांह शीतल होती है। उसी प्रकार कितनी भी अनबन हो या जबान तीखी हो, अपने तो अपने ही होते हैं।

—लोकोक्ति

"अब बैग लो पार्डन।[1] अपना काम शुरू करो ना।" धनसुखलाल ने अंग्रेजी भाषा के क्रियापद को अपनी भाषा के अंदाज में बदलते हुए कहा।

दो तीन लेनदारों ने अलग-अलग योजनाएं प्रस्तुत कीं। उन सभी योजनाओं में प्रत्यक्ष या परोक्ष कृष्णकांत को अलग छिटकाने का प्रयत्न था। धनसुखलाल स्पष्ट बात और स्पष्ट विचार पसंद करते थे। उन्हें ये बातें सहन नहीं हुईं। वे बोल उठे :

"आप सब मिलकर स्कीम के नाम पर कृष्णकांत को अलग छिटकाना चाहते हैं और फिर भी सारी जिम्मेदारी उसी पर डालेंगे। कृष्णकांत की बात आपको मान्य न हो तो जाइये, आपकी जो इच्छा हो कीजिये। कचहरियां खुली हैं।"

लेनदार खुसपुस करने लगे। उनकी आंखें कृष्णकांत और रंजन की संपत्ति पर थीं। उनका खयाल था कि दबाव पड़ने पर कृष्णकांत धन चुकाने के लिए अपनी बहन की संपत्ति का भी उपयोग करेंगे। किंतु धनसुखलाल ने कड़क कर उनकी योजना अस्वीकृत कर दी।

कृष्णकांत और भी शिष्ट भाषा में उन्हें समझाने लगे किंतु धनसुखलाल को वह निरर्थक मिठास अच्छी नहीं लगी। अपनी प्रतिष्ठा, उम्र और स्वभाव को अपनी भाषा में पिरोकर वे बोले :

---

1. अब मांग लो माफी।

"इतनी बात क्यों बना रहा है ? सौ बातों की एक बात। आधा हर्जाना अभी दिया जायेगा, बाकी धीरे-धीरे। और वह भी कब ? जबकि सारी व्यवस्था पहले तरह ही कृष्णकांत के हाथ में रहे।"

इस पर एक दो ने कृष्णकांत की असमर्थता पर टिप्पणी शुरू की। धनसुखलाल ने उन्हें बीच में ही टोक दिया :

"रहने दो, रहने दो। कहें तो आप लोगों के चक्कर सभी को बता दूं ? यहां बैठे लोगों में कितने सही मानों में साहूकार हैं, यह बताने की जरूरत शायद नहीं है। और कृष्णकांत दिवाला निकालेगा नहीं। विधवाओं का पैसा इसे खाना नहीं है। झूठे खाते इसे रखने नहीं हैं। और न ही इसे झूठे दस्तावेज तैयार करने हैं।" इस प्रकार ख्यातिवालों की आंखों में आंखें डालते हुए धनसुखलाल ने सभी को डराया।

पीछे से अरुण की आवाज आयी ? "अगर निश्चित अवधि में कृष्णकांत भरपाई नहीं कर सके तो उनकी बहन यह जिम्मेदारी अपने पर लेने को तैयार है ?"

कृष्णकांत और धनसुखलाल ने पीछे की ओर देखा। अरुण, रंजन, पुष्पा और सुरभि जाने कब यहां आ बैठे थे।

"चुपचाप बैठे रहो अब। किसने कहा है तुमसे पंचायत करने को ?" धनसुखलाल ने अरुण को धमकाया।

अरुण यह अपमान कैसे सह पाता ? धनसुखलाल से उसका जरा भी परिचय नहीं था। वह भभक कर बोला :

"ये रंजनगौरी कह रही हैं, इसीलिए मैंने कहा है।"

"वह तो कहेगी, अक्ल जो नहीं है उसमें। पर साथ ही तुम में भी ···"

"काका ! ये सुरभि के भाई हैं।" कृष्णकांत ने धनसुखलाल को समझाना चाहा।

"कोई भी क्यों न हो। जरा भी समझ···"

"अरुण ! डोंट माइंड काकाज़ टंग। ही डज़ंट मीन एनीथिंग।"[1] कृष्णकांत ने अरुण से कहा। पर अरुण का गुस्सा और भी भड़क उठा। यह पैसेवाला बुड्ढा यों सबके सामने उसे धमकाये···? वह आगे कुछ बोलने को ही था कि रंजन

---

1. अरुण ! काका की बात का बुरा मत मानना। इनके मन में वैसी कोई बात नहीं है।

ने उसे हाथ पकड़कर बैठा दिया। नारी-स्पर्श ने क्रोध पर जैसे शीतल जल छींट दिया। उस स्पर्श में उसे कोई ऐसा माधुर्य लगा कि वह किसी भी अपराध को क्षमा कर सकता था।

"काका की बात का आप बुरा मत मानिये। क्यों, ठीक है ना पुष्पा ?" अरुण को बैठाकर रंजन बोली।

पुष्पा बेचारी स्वयं अपने पिता की बातों से लज्जित थी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

अंततः सभी लेनदार एकमत हो गये। धनसुखलाल की धमकी, कृष्णकांत की ईमानदारी और उसके संबंधियों का सहयोग देखकर सबने कृष्णकांत की बात मान ली। यों हिस्सेदारों और लेनदारों को नुकसान पहुंचाकर, एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे धंधे में बंदरकूद करके आगे बढ़नेवाले व्यवसाय-वीरों की दृष्टि में तो कृष्णकांत ने मूर्खता ही की थी किंतु वह स्वयं अपने आपको विजित अनुभव कर रहे थे।

कृष्णकांत ने सभी के साथ शिष्टाचारवश दो-दो बातें कीं। सभी विदा होने लगे। धनसुखलाल से समय का यह अपव्यय सहन नहीं हो रहा था। वे बीच-बीच में कहते जा रहे थे, "अब टाल जल्दी से।"

कई लेनदारों से भी वह कहने में नहीं चूकते थे, "कब तक हल्ले खाते रहोगे ? रास्ता पकड़ो ना।"

संसार में सभी शिष्ट और सभ्य बन जायें तो कृत्रिमता न जाने कितनी असह्य हो जाय। बदतमीजी का आरोप सह कर भी स्पष्ट कह देनेवालों का अस्तित्व अभी है, यही अच्छा है।

सभी के जाने पर धनसुखलाल कुछ आश्वस्त दिखाई दिये।

"हां रे कृष्णकांत ? ठाकुरजी ने तुझे अच्छी बुद्धि दी। पैसा तो आता जाता रहता है, पर हाथ करके पैसा फेंकने का अवसर बार-बार नहीं मिलता। मैं अब जाऊंगा। घबराना मत। मैं हूं।"

"जरा ठहरिये न। कुछ बनवाता हूं।"

"साहब लोगों के घर में क्या कुछ बनवाना ? मुझे तो अपना धर्म नहीं बिगाड़ना।

तूने कहा, मैंने मान लिया। चल पुष्पा।"

"पुष्पा को रहने दीजिए। बाद में भेज दूंगा।"

"तू अपनी औपचारिकता छोड़ेगा नहीं। जैसी तेरी मरजी।"

"मैं भी जाऊंगा।" अरुण बोला।

"तुझे क्या जल्दी है?" कृष्णकांत ने पूछा।

"जनार्दन परेशान होंगे। उन्हें यहां की सूचना दे दूं।"

"चलो, तुम्हें छोड़ता हुआ चला जाऊंगा। कहां रहते हो?"

वे भूल गये थे कि कुछ देर पहले उन्होंने स्वयं अरुण को डांटा था।

"ये तो आश्रम में रहते हैं?" रंजन ने बताया।

"अरे कौनसा आश्रम? न स्नान-संध्या, न पूजा-पाठ। कहेंगे आश्रम।" हंसकर धनसुखलाल बोले। हिंदू धर्म के कर्मकांड से परे जो कुछ किया जाता था, उन्हें वह हिंदूधर्म विरोधी लगता था।

"मैं चला जाऊंगा। गाड़ी की जरूरत नहीं है।" अरुण के स्वर में अब भी कड़वाहट थी।

"अब चलो ना मेरे भाई। गाड़ी है, फिर भी पैर घिसते जाने का कारण? चलो चलो।" कहकर धनसुखलाल ने अरुण के कंधे पर हाथ रखकर उसे अपने साथ खींचा।

कृष्णकांत को हंसी आ गयी। अरुण को अब लगा कि वृद्ध की जीभ और हृदय के बीच काफी दूरी है। ये आज की दुनिया में अपवाद हैं। आजकल तो सभी मन में गांठे बांध कर ऊपर से मीठा बोलते हैं। पर धनसुखलाल की जीभ कड़वी होने पर भी मन में कोई गांठ नजर नहीं आती थी।

"जी चल रहा हूं।" अरुण ने उनकी बात स्वीकारते हुए उनकी वाणी के चाबुक से बचने का प्रयत्न किया।

"तो मैं भी जाऊं?" पुष्पा बोल उठी। उस कम बोलनेवाली लड़की को अधिक रोकने का कारण नहीं था। वह शायद रोकने पर भी रुकती नहीं। पिता के साथ ही उसका घर जाना स्वाभाविक था।

पर रंजन ने उसमें और ही कारण देखा। उसने पुष्पा के कान में अमृत उंडेला:

"अरुण के पास ही बैठना। अच्छा?"

पुष्पा ने टेढ़ी आंखों से रंजन को घूर कर अपना क्रोध व्यक्त किया। अच्छा नहीं लगता कि कोई हमारे मन की बात जान जाय। जान भी जाय तो कोई बात नहीं। पर जानकर प्रकट कर दे, वह तो बिलकुल ही असह्य है। सूर्य को धीरे-धीरे अपने आलिंगन में कसकर चूमते हुए संध्या पकड़ी जाय तो कैसी लाल हो उठती है।

तीनों कार में जा पहुंचे। धनसुखलाल को कोई विशेष काम नहीं था। पुराने विचारों के व्यक्ति थे अत: नयी प्रवृत्तियों के प्रति उनमें कोई रुचि नहीं थी। न ही आजकल का रहन-सहन उन्हें पसंद था। अत: वे बहुत कम ही कहीं आते जाते या लोगों से मिलते थे।

उन्होंने अरुण से पूछा :

"आश्रम में क्या करते हो ?"

पुष्पा कुछ घबरायी। वह समझ गयी थी कि पिता की बातें अरुण को पसंद नहीं आ सकतीं। वह मन ही मन प्रार्थना करने लगी कि बात बढ़े नहीं।

"जितना संभव होता है, देश सेवा करते हैं।" अरुण ने उत्तर दिया।

"बड़ी देश सेवा करते हो। कमाना-धमाना छोड़कर धुंए को पकड़ते फिरते हो।"

"आप जैसा समझते हैं, हमें यह काम वैसा नहीं लगता।"

"फिर बताओ, तुमने आश्रम खोलकर कौन से सितारे जड़ दिये हैं ?"

इस प्रश्न का उत्तर देना बड़े से बड़े देश भक्त के लिए कठिन है। कैसे अपनी देश सेवा का परिचय दिया जाय कि सभी की समझ में आ जाय ? एक दिन में पंद्रह व्याख्यान देकर अपने आपको महत्वपूर्ण बतानेवाले देश सेवक से यदि कोई पूछे कि तुम्हारे व्याख्यानों ने क्या किया तो वह क्या बतायेगा जिसे देखा जा सके, मापा जा सके ?

"हम एक अखबार निकालते हैं ?"

"ऐसे तो कई चिथड़े निकलते हैं ?"

"उनमें और उस पत्र में बहुत अंतर है।" पुष्पा अनायास बोल गयी।

"होगा। चार मुंह तोड़ वाक्य अधिक लिखते होंगे। कुछ सरकार विरोधी लेख भी लिखते होंगे। पर उससे बना क्या ?"

"जनता में राजनीतिक चेतना बढ़ती है। सरकार को लोगों की बातें सुननी

पड़ती हैं और अपनी आलोचना होते देख समझ-बूझकर काम करने पड़ते हैं।"

"तुम्हारे अखबार के बिना यह सब नहीं होता ?"

अरुण को हंसी आ गयी। उसने ऐसा आडंबर करनेवाले भी देखे थे जो ऐसा व्यवहार करते थे जैसे उनके बिना देश का काम ही नहीं चल सकता। उसने सोचा कि देश सेवा की छाप के बिना व्यक्तियों को तुच्छ मानने वाले कार्यकर्ताओं को नम्रता सिखानेके लिए धनसुखलालके साथ बात करने भेज दिया जाय तो कैसा रहे?

"हमारा अखबार हो या औरों का, आखिर इनके बिना यह सब हो तो नहीं सकता न।" अरुण ने कहा।

धनसुखलाल हंसे। अरुण की बात का उन पर कोई असर नहीं पड़ रहा था। फिर उन्होंने पूछा, "कुछ पढ़े लिखे भी हो या यूं ही।"

अंग्रेजी के विरोधियों में भी अंग्रेजी परीक्षा से मोह दिखायी दे जाता है। राष्ट्रवादियों में भी यह मोह होता है, तब औरों की तो बात ही क्या ?

राष्ट्रसेवा को जीवन कार्य के रूप में स्वीकारने की गोखले की प्रणाली को पूरे देश में फैलाकर व्यवस्थित देश सेवा की संस्थाएं स्थापित करने की प्रेरणा देने वाले गांधीजी के कार्यक्रम में अनपढ़ों को भी उपयोग में लाने की योजना थी। ऐसे बहुतों को लगा कि और कार्यों में निष्फल सिद्ध होनेवालों को देश सेवा का बहाना मिल गया है। जब देखा जाता है कि दलाल प्रकार के लोग खादी पहनकर लोगों को विदेशी माल के बहिष्कार की बात समझाते हैं या कोई अपराधी वर्ग का व्यक्ति तनख्वाह लेकर शराब की पिकेटिंग करता है तो देश सेवा की ओर उंगली उठाने का अवसर लोगों को सहज ही मिल जाता है। धनसुखलाल के प्रश्नों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति मोह और राष्ट्र सेवा संघों के दुर्बल पक्ष के प्रति कटाक्ष स्पष्ट ही लक्षित हो रहे थे।

"पढ़ा हूं, साधारण !" अरुण ने बताया।

"मैट्रिक की होगी।"

"कुछ ज्यादा।"

"बी. ए. ?"

"जी नहीं एम. ए.।"

"उसकी शिक्षा की छाप देखकर धनसुखलाल की उपेक्षा कम हुई।"

"नौकरी क्यों नहीं की ?"

सरकारी नौकरी शिक्षितों का स्वर्ग। सबकी यही मान्यता है कि नौकरी पाने-वालों की ही शिक्षा सफल हुई।

"कोई रखता ही नहीं।" हंसकर अरुण ने कहा।

"ऐसा नहीं हो सकता है ?"

"ऐसा ही है। मेरे लायक नौकरी भी तो होनी चाहिए न ?"

"एक बार जो मिली कर लेते। फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ जाते।"

"मेरी धारणा बहुत बड़ी थी।"

"तुम्हें वायसराय तो नहीं बनना था न ?"

"वही तो बनना था। ऐसी अपेक्षा करने पर मुझे खड़ा भी नहीं रहने दिया।"

"ऐसा पागलपन चल सकता है भला ?"

"इसमें पागलपन क्या है ?"

"तुम यह मानते हो कि हम भारतवासी राज्य कर सकते हैं ?"

"क्यों नहीं कर सकते ?"

"अंग्रेजों के बिना अपना काम चल नहीं सकता।"

"आप साहबी तरीकों का तो विरोध करते हैं। अपने घर में जिसे आप प्रवेश नहीं करने देना चाहते, उसे अपने देश में कैसे रहने देंगे ?" धनसुखलाल यह सुन कर चौंके। पूजा-पाठ करनेवाले कर्मकांडी हिंदू भी यही मानते हैं कि अंग्रेजों के बिना भारत का काम चल ही नहीं सकता। पर वे यह सत्य भूल जाते हैं कि उसके बाद यह संभव ही नहीं है कि उनकी परछाई मंदिरों और घरों में न पड़े।

आश्रम आगया था। गाड़ी रुकने पर अरुण उतरा व नमस्कार करके विदा ली।

"कभी-कभी मिला करो। अच्छा ?" धनसुखसाल ने अरुण से कहा।

"जी, अवश्य !"

मोटर लौटी। धनसुखलाल ने पुष्पा से पूछा :

"ये ही लोग जुलूस निकालने वाले हैं ?"

"जी !"

"तेरी मर्जी हो तो तू भी कभी-कभी चली जाया कर। वैसे मुझे तो यह सब कुछ पसंद नहीं है।"

19. चिनगारी

प्रणय कलह में बहते आंसुओं को देख स्वामी ने चूमकर हृदय से लगा लिया। अरे! इसी एक क्षण के लिए पूरे जीवन का दान भी कुछ नहीं।

सबके जाने पर रंजन, सुरभि और कृष्णकांत ही घर में रह गये। कृष्णकांत को बहन बहुत प्यारी थी। वह अच्छे से अच्छा पहने ओढ़े पढ़े लिखे, वे हमेशा यही चाहते थे। आज उसकी उदारता देखकर वह खुश हुए कि उनका प्यार व्यर्थ नहीं गया है। वह रंजन के कंधे पर हाथ रखकर ही चुपचाप सीढ़ी चढ़ने लगे।

सुरभि भी वहीं थी। उसे अखरा कि क्यों ये मेरे कंधे पर हाथ रखकर नहीं चलते।

तभी उसे अपना व्यवहार याद आया। वह अपने शराब पीनेवाले पति को अपवित्र मान कर उसके स्पर्श से भी अपने आपको दूर रखने का प्रयत्न करती थी। देह-स्पर्श हृदय-स्पर्श का ही मूर्त स्वरूप नहीं होता क्या कभी ? क्या उन दोनों के हृदयों ने आपस में स्पर्श करना बंद कर दिया है ?

सुरभि का हाथ बढ़ा और उसने अपने पति का हाथ पकड़ लिया। विचारों में खोये हुए कृष्णकांत ने उस हाथ की ओर देखा ओर सुरभि की और देखकर मुस्कराये।

दो एक सीढ़ियां चढ़कर उन्होंने रंजन के कंधे से हाथ हटा लिया।

"क्यों भैया ? मुझे भारी थोड़े ही लग रहा था।"

"पर दोनों हाथ रुकने पर मैं चढ़ूंगा कैसे ?"

"अरे हां ··· भाभी तो हैं ही ईर्ष्यालु। अच्छी बात है ··· इनका ही हक ज्यादा है, इन्हीं का हाथ पकड़कर चलो।" रंजन बोली।

"नहीं रंजन बहन। ऐसी बात नहीं है। मेरे मन में...।"

सुरभि कुछ लजाकर बोलने को थी कि बीच ही में रोककर रंजन बोली, "तुम्हारे मन में क्या है, जानती हूं भाभी। कहने की जरूरत नहीं। लो मैं अलग हट गयी। बस?"

"रंजन! धनसुख काका हमें ऐसे देख लें तो?" बात बदलने के लिए कृष्णकांत ने पूछा।

"मार ही डालें। उस दिन उनके घर हम एक सोफे पर बैठ गये थे, तो कैसे लड़े थे... एक ही सोफे पर बैठे बिना सबको पता कैसे चलेगा कि तुम भाई बहन हो।"

"और उस दिन मैंने सुरभि का नाम लिया था, तब? बहुत हुआ। क्या हर वक्त सुरभि सुरभि करता रहता है? नाम लिए बिना चलता ही नहीं क्या? बड़ा प्यार टपका जाता है।...ऐसे ही बोलते थे न काका? क्यों?" कृष्णकांत ने हंसते हुए धनसुखलाल की नकल की।

सुरभि सोचने लगी। क्या वह इतनी स्वतंत्रता के बाद भी कृष्णकांत का प्यार सहेज सकी? इतना हंसमुख, मस्त, उदार और रसज्ञ पति मात्र कभी-कभी शराब पीने की आदत के कारण क्या प्रेम का पात्र नहीं रह गया था।

उसे लगा, अवश्य उसके अब तक के व्यवहार में कोई भूल थी। हम अपने आत्मीयों में संपूर्णता की इच्छा करते हैं। संबंध जितना निकट होता है, हम उसमें अधिक-से-अधिक संपूर्णता की अपेक्षा करते हैं। मानव समाज में पत्नी के संबंध से अधिक निकट संबंध कोई नहीं है। इसलिए पति और पत्नी के दोष एक दूसरे के लिए असह्य हो जाते हैं। बाहर भटकने की पति की आदत के कारण जहां कई पत्नियां अपना खून सुखाती रहती हैं, वहीं चौबीस घंटे सामने बैठे रहनेवाले पति के लिए भी पत्नियां प्रार्थना करती देखी जा सकती हैं कि यह घंटे दो घंटे को ही घर घुसड़पना छोड़कर बाहर निकला करें। हंसमुख और बातूनी पत्नी यदि पड़ोसियों, मित्रों, परिचितों, अपरिचितों से बात करने के चक्कर में कमीज के बटन लगाना भूल जाय तो पति को प्रार्थना करनी पड़ती है कि उसकी पत्नी मौनव्रत रखे तो कैसा? इसके विपरीत जिसे एक शब्द भी बोलने में जोर आता हो, हास्य से अपरिचित, ढके दीप की तरह अशांत शांति फैलानेवाली पत्नी का पति जहर खाने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार संपूर्णकामी दंपति छोटी-छोटी भूलों के

कारण जीवन को विषाक्त बना लेते हैं। वे भूल जाते हैं कि अतिसामीप्य के कारण वे तुच्छ-सी बातों को भी अतिरिक्त महत्व दे रहे हैं। सद्गुणों की अपेक्षा करते हुए वे सोचते ही नहीं कि सबसे बड़ी बात है··· सामनेवाले की भूल, उसके दोष सह लेना उन भूलों की उपेक्षा करना—यह गुण किसी भी गुण से कम नहीं हैं। वे भूल जाते हैं कि प्रकृति किसी को कभी सभी प्रकार संपूर्णता नहीं देती। ईश्वर बने विना संपूर्णता असंभव है और ईश्वर स्वयं इस दुनिया की कितनी भूलों को सह लेता है, चला लेता है।

इस समय पति के सिर पर भयंकर विपत्ति आयी थी। जन्म से ही सुख-सुविधा में पला बढ़ा यह विचित्र किंतु संस्कारी, शराबी किंतु सहृदय पति यदि इस विपत्ति को सहन नहीं कर सका तो? सुरभि जानती थी कि कई धनिक ऐसे अवसरों पर आत्म-हत्या कर लेते हैं। कहीं कृष्णकांत के मन में भी ऐसा विचार आया हो—तो—? थोड़ी बहुत शराब पीने के अलावा कोई दोष उसमें था? क्या निर्व्यसनी कहे जाने वाले कितने ही पतियों की कठोरता उनकी पत्नियों को कभी नहीं सहनी पड़ती? निर्व्यसनी होकर भी निष्ठुर पति अच्छा या कि व्यसनी होते हुए भी सहृदय पति?

कृष्णकांत के प्रति सुरभि के मन में अजीब ममत्व उपजा। पीते रहें शराब। किसी को इससे क्या? किसी और को भले ही कुछ नहीं था इससे पर शिकायत स्वयं सुरभि को थी। वह अब उसके व्यसन को सहने के लिए ही नहीं, उसे बचाने के लिए भी व्याकुल हो गयी।

कभी-कभी बड़ी विपत्ति भी आशीर्वाद बन जाती है।

"कहां जा रही हो? अंदर चलो न।" ऊपर पहुंचकर कृष्णकांत के साथ उसके कमरे में प्रवेश करते हुए सुरभि ने रंजन से कहा। रंजन आगे जा रही थी।

"नहीं बाबा। कौन तुम्हारे अधिकार पर डाका मारे? वैसे ही सासू ननद हमेशा से बदनाम रही हैं। अब नये जमाने में भी उन्हें गाली क्यों दिलवाऊं?"

"मैं गाली ही देती हूं न? कभी सुना है?"

"मन में तो देती ही होगी।" कहकर रंजन आगे बढ़ गयी।

ननद भाभी में अकसर यूं ही विवाद चलता रहता। रंजन जानती थी कि भाई की शराब पीने की आदत के कारण भाभी उससे दूर रहती है। वह ऐसे प्रसंगों की

रचना अथवा खोज की कोशिश में रहती थी जिनसे किसी प्रकार यह दूरी कम हो। आज वह देख रही थी कि दोनों के बीच कुछ जागा है।

कृष्णकांत निरपेक्ष भाव से सोफे पर अधलेटे से बैठे थे। सुरभि ने उनके मुख पर उदासी की छाप देखी। बोली :

"सिगार नहीं जलानी क्या ?" सिगार कृष्णकांत के मुंह में था पर उन्हें शायद ध्यान ही नहीं था कि वह कभी की बुझ चुकी है।

'ओ ! आई सी।'[1] हंसकर कृष्णकांत ने लाइटर से सिगार जलायी। फिर दोनों काफी देर तक चुपचाप बैठे रहे।

"खाने का वक्त हो गया।" साढ़े नौ का घंटा सुनकर सुरभि बोली।

"आज मैं खाना नहीं खाऊंगा।"

"क्यों ?"

"भूख नहीं है।"

"न हो भूख। फिर भी खाना तो पड़ेगा।"

उनकी दिनचर्या में कभी भी रुचि न लेनेवाली पत्नी को आज इस तरह खाना खाने का आग्रह करते देख कृष्णकांत को आश्चर्य हुआ।

"देखा जायेगा। पर तू क्यों बैठी है ? खाकर सो जा, नहीं तो तबियत ज्यादा बिगड़ जायेगी।"

"तुम खाओगे तभी खा लूंगी।"

"ओरियंटलाइजिंग सो फास्ट ? ओ ! द इंडियन वाइफ।"[2]

अंग्रेजी वाक्य को अंग्रेजों की तरह बोलते सुन सुरभि हंसी।

कृष्णकांत का सिगार फिर बुझ गया था। सुरभि को बारबार अपनी ओर देखते देख उन्हें सिगार बुझने का ध्यान आया। उन्होंने राख झाड़कर उसे खिड़की से बाहर फेंक दिया।

"आज देशी ढंग से खायें तो ?"

सुरभि को लगा कि पति अपने धनाभाव के कारण यह तैयारी कर रहा है। देशी भोजन अन्य देशी चीजों की तरह विदेशी भोजन की अपेक्षा सस्ता पड़ता है।

1. अरे, मैं तो भूल ही गया था।

2. बड़ी तेजी से देशज बन रही है ? वाह ! मेरी भारतीय पत्नी।

पति इस गरीबी की तैयारी करे, यह उसे रुचा नहीं।

"नहीं नहीं। तुम्हें जैसे अच्छा लगे, वैसे ही करो ना। सब तैयारी कर रखी है।"

"अरे। तुझमें इतनी स्फूर्ति कहां से आ गयी ? चल, खा लेता हूं।"

कृष्णकांत उठकर चल दिये। साहबी खाने के लिए अलग कमरे और अलग फर्नीचर की आवश्यकता होती है। चिंता में डूबे कृष्णकांत को ध्यात ही नहीं रहा कि सुरभि भी पीछे आ रही है। डाइनिंग रूम में जाकर कुर्सी पर बैठ गये और मेज पर दोनों हाथ रखकर अपना सिर उन पर टिका दिया। प्लेट खड़कने पर भी उसने अपना हाथ नहीं हटाया। पीछे से आकर सुरभि ने उनके सिर पर हाथ रख कर पूछा :

"ऐसे कैसे ? खाना नहीं खाओगे ?"

कृष्णकांत सीधे हो गये। अपना चिंतित होना उन्हें अखरा।

"कुछ नहीं। जरा थकान लग रही थी।"

सुरभि ने बटलर को खाना लाने को कहा।

"तुझे यह सब अच्छा नहीं लगता, फिर यहां क्यों आयी ?"

"यों ही।"

"तो अब जाना नहीं है ? थक जायेगी।"

"नहीं थकूंगी।"

"तुझे खाने में देर हो जायेगी।"

"कोई बात नहीं। अभी तो रंजन बहन गा रही हैं।"

दिलरुबा पर रंजन का स्वर सुनाई दिया :

पायल मोरी बाजे झनक झनक,
कैसे कर आऊं तेरे पास सजन।

लगा जैसे विरहित निशा अपने निशानाथ को बुला रही थी।

दूर चंद्रोदय हुआ।

चुपचाप नीचे दृष्टि किये खाना खाते खाते कृष्णकांत के पास किसी ने शीशे की सुंदर प्याली रखी। कृष्णकांत ने ऊपर देखा। सुरभि हाथ में एक बोतल लिये खड़ी थी। उसके चेहरे पर मुस्कान थिरक रही थी।

कृष्णकांत को आज नया ही अनुभव हुआ। इतनी बड़ी विपत्ति ने भी उन्हें इतना नहीं हिलाया था।

"यह क्या कर रही है तू सुरभि ?"

"कुछ नहीं तुम आराम से खाओ।" सुरभि ने खाली हाथ प्यार से कृष्णकांत के कंधे पर रखा।

"पर यह तो शराब है।"

"तो ?"

"और तू अपने हाथ से दे रही है ?"

"मेरे हाथ से यह बुरी तो नहीं लगेगी न।"

"नहीं नहीं, मैं नहीं पीयूंगा।"

"मेरी कसम है, नहीं कैसे पीयोगे ?"

कृष्णकांत खाते-खाते उठ खड़े हुए। सुरभि को बांहों में भींचकर उन्होंने गहरा चुंबन लिया। सुरभि सुध भूल गयी। उसे लगा कि वह चंद्रकिरणों में तैर रही है। प्लेट में और खाना लाते हुए बटलर रुका। हंसा। फिर लौट गया। अंदर के द्वार से वह चुपचाप इस चुंबन-वर्षा को देखते हुए मना रहा था,"प्रेम के देवता मुझे इस अपराध के लिए क्षमा करें।"

"अब मैं ही रोज पिलाया करूंगी।" पति के आलिंगन से छूटकर सुरभि बोली।

"और तू सोच रही है कि तुझे पसंद न आनेवाला यह आसव मैं पीता ही रहूंगा ?—हैंग इट आल।"[1] कहकर कृष्णकांत ने प्याली और बोतल खिड़की से बाहर फेंक दी।

सुरभि देखती रही।

रंजन अभी गा रही थी :

'पायल मोरी बाजे झनक झनक…

1. गोली मारो इसे।

20. जुलूस की रात

गुणों की खान, पुण्य प्रदेश हमारा गुर्जर देश धन्य है। श्रीकृष्ण की कीर्ति-चंद्रिका से उज्ज्वल इस गुणियल गुर्जर देश में भगवान ने स्वयं निवास किया था।

—न्हानालाल

जनार्दन के आश्रम में इस समय उत्सव मनाया जा रहा था। अहिंसा सूचक सफेद ध्वज को भी न फहराने की सरकार की आज्ञा को तोड़ने के लिए सभी आश्रम-वासी तैयार थे। सवेरे एक जुलूस निकालने के निश्चय के साथ उसका कार्यक्रम भी जनार्दन ने तय कर दिया था। अभी पूरी रात बीच में थी पर उत्साह के झूले झूल रहे आश्रमवासियों के लिए रात बिताना संभव नहीं था। लगभग एक हजार वर्ष से जिस वीररस को गुजराती लोग भूल चुके थे, आज उसी वीररस का ज्वार उछालें मार रहा था। किसी घोड़े पर सवार योद्धा का-सा उत्साह सभी के चेहरों पर छाया था।

जनार्दन की आंखों से तेज उभरा। वे मन ही मन बोले :

'गुजरात की यह मर्दानगी अमर रहे।'

क्षणभर के लिए उनके हृदय में उत्साह का स्रोत फूट निकला। उसी आवेश में उन्होंने गर्दन कुछ ऊंची की। श्मशान की-सी भयानक शांतिवाले स्थान पर उन्होंने जीवन का झरना बहाया था। प्रगाढ़ निद्रा में डूबे समाज के एक अंश को उन्होंने जगा दिया था। पटाखे से भी घबरानेवालों को उन्होंने ऐसा दृढ़ हृदय बना दिया था कि वे बंदूकों के तांडव गर्जन को भी तुच्छ मानें। उनके पाप जलकर भस्म हो गये। उनकी तपस्या फलीभूत हुई। उनके दुर्बल हाथों को जैसे देवता बनानेवाली संजीवनी ने छू लिया था। उन्हें अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त हुई थी।

टिन् ।

कुछ देर में मंजीरे खड़के । अहंकार में डूबता साधक मंजीरे की झनकार सुन-कर चौंका ।

क्या मैंने यह सब नहीं किया ? उनके क्षुब्ध अहंकार ने पूछा ।

टिन् । मंजीरे ने टंकार की ।

मैं कौन ? जनार्दन के मन में प्रति प्रश्न कौंधा । तभी धन्ना भगत को पकड़े हुए किशन अंधेरे से उजाले में आया । जैसे जनार्दन के प्रश्न का उत्तर इसीमें निहित हो ।

"आओ भगत । तुम्हीं को याद कर रहा था ।" धन्ना भगत को पास बुलाकर जनार्दन बोले । अभियान के ज्वार में डूबते उनके हृदय को जैसे अंधे भक्त ने सहारा दिया ।

"भाई ! भगवान को याद करो । उनकी कृपा से ही तिनका पहाड़ वन जाता है ।" वैठते-बैठते धन्ना भगत बोले ।

दो तीन आश्रमवासी एक दूसरे की ओर देखकर हंसे । एक ने कहा :

"बेचारे भगवान को जैसे और कोई काम ही नहीं है ।"

"ठीक ही है भगत ।" जनार्दन बोले, "ऐसा नहीं होता तो इतने बड़े साम्राज्य के सामने जाकर मरने की मर्दानगी हममें कैसे आती ?"

"सत्य के लिए मरने में मोक्ष ही है। पर मरने का भी मोह नहीं होना चाहिए ।" धन्ना भगत ने मृत्यु का मूल्य घटा दिया । अहंभाव से प्राप्त मृत्यु भी दूषित होती है। उस शूद्र ने वताया कि सत्व गुण से बढ़कर भी एक मानसिक भूमिका है । गुणातीत अवस्था में ही मनुष्य ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करता है। वह सत्व गुणाधिकारी से आगे निकल जाता है ।

जनार्दन को लगा कि इन नवयुवकों के पवित्र और सात्विक उत्साह को अभी विशुद्ध बनाने की आवश्यकता है । अभी तो वह स्वयं ही अहंकार से मुक्त नहीं हो पाया था, तब यदि स्वदेश, स्वधर्म, और स्वाधिकार के आदर्शों का पालन करने वाले युवकों में भी अहंकार की भावना रहे तो आश्चर्य क्या ? सबमें से ··· स्व ··· मिटाये बिना पूर्ण विशुद्धि संभव नहीं है ।

"भगत जी ! आपको यहां भगवत भजन के लिए बुलाया है। उसके बिना मुझमें

और मेरे मित्रों में यही मिथ्याभिमान बना रहेगा कि सत्कर्म करने वाले मात्र हम ही हैं। कोई भजन सुनाइये।"

जनार्दन की यह बात सुनकर आश्रमवासियों में कानाफूसी होने लगी :

'जनार्दन को तो संन्यासी हो जाना चाहिये। यहां तो इन्हें रहना ही नहीं चाहिये। इन्हें हिमालय चले जाना चाहिये, नहीं तो ये हम सबको भी भक्त बना कर छोड़ेंगे।' जनार्दन का बढ़ता हुआ धर्मोन्माद सभी को अप्रिय लगने लगा था। हर बातमें भगवान को याद करना उन्हें समय और शक्ति का अपव्यय लगता था।

'अभी हिंदुस्तान का पेट धर्म से भरा नहीं शायद।' कोई बड़बड़ा उठता।

फिर भी जनार्दन की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी बोलने करने का साहस किसी में नहीं जुट पा रहा था। सभी के लिए अनिवार्य नहीं था कि वे प्रार्थना आदि में सम्मिलित हों। फिर भी प्रार्थना गीतों की मिठास, उनके अर्थ-गांभीर्य और लय आदि के कारण अश्रद्धालु भी प्राय: प्रार्थना में सम्मिलित हो जाते थे।

आज देश-भक्त ने प्रभु-भक्त का आश्रय लिया था।

धन्ना भगत ने एकतारे का तार छेड़ा। किशन ने मंजीरे संभाले।

"क्या सुनायेंगे भगतजी ?" एक स्वर पूछे बिना न रह सका।

"जैसा बनेगा, भगवान का नाम लूंगा। और तो क्या ?"

"भगवान का नाम तो बहुत हो गया। कुछ ऐसा गाइये न कि जोश बढ़े। हमें तो लड़ाई पर जाना है ?" एक और स्वर बोला।

"ऐसी बात क्या है भाई ? ठीक है, ठीक है। लड़ाई पर ही जाओ। पर भाई भगवान के मार्ग पर कायर नहीं चल सकते। भक्ति तो तलवार की धार से भी तेज है। उसमें भी मरना ही पड़ता है।" कहकर एकतारे के तार के साथ धन्ना भगत ने अपना कंठ स्वर मिलाया :

'रस से भरे हैं, रंग से भरे हैं
इन सत्य के सिपाहियों के मन आनंद से भरे हैं
सिर इन्होंने अपनी हथेलियों पर रख लिये हैं
और जोगिनी का खप्पर अपनी भावनाओं से भर दिया है।
इन सत्य के ··· ···
डंके बज रहे हैं और अनाहत नाद गूंज रहा है।

सोऽहं सोऽहं से भरा शंखनाद हो रहा है।
इन सत्य के ... ...
तप के तीर, भक्ति के भालों
और प्रेम की तलवारों से ये संत खेल रहे हैं
इन सत्य के ... ...
शूरवीरों की तरह खेलते हुए ये धीर वीर
काम, क्रोध, लोभ, को चूर चूर कर रहे हैं
इन सत्य के ... ...
मरते दम तक न डिगने के निश्चय के साथ
ये मुक्ति के द्वार पर आ खड़े हुए हैं
इन सत्य के ... ...
ये आंखें भर कर आत्मा की ज्योति देख रहे हैं
इन्होंने ही वास्तविक मृत्यु पायी है।
इन सत्य के ... ...

आरंभ अकेले भगत ने किया था। कुछ ही देर बाद किशन ने भी अपना स्वर उसमें मिला दिया था। फिर तो जनार्दन ने भी साथ देना शुरू कर दिया। हंसी, रुदन और संगीत की भाव-त्रिवेणी बहने लगे तो सभी को प्रवाह में बहा ले जाती है। संगीत के दो एक प्रेमियों ने धीरे-धीरे साथ देना शुरू कर दिया। सब के हृदय एक ही ताल पर थिरक रहे थे गीत के स्वर तेज होते जा रहे थे। और कुछ देर बाद हर व्यक्ति ने गीत के स्वरों को पकड़ना शुरू कर दिया।

गीत के स्वरों में डूबे आश्रमवासियों को पता ही नहीं चला कि कब उनके पीछे चार-पांच पुलिस अफसर आकर खड़े हो गये थे। नदी के वेग में बहुत कुछ बह चलता है किंतु कई पर्वत और टीले प्रवाह के मार्ग में अडिग रहकर नदी को अपना मार्ग बदलने को विवश कर देते हैं। पहाड़ सरीखे पुलिस अफसर इस संगीत प्रवाह में बहने लगें तो उनकी प्रतिष्ठा घट नहीं जायगी ? वे अफसर संगीत से अछूते खड़े रहे। राजकाज में संगीत के लिए तो कोई अवकाश नहीं है। आर्य स्मृति-कारों ने अपने नीति नियमों को श्लोकबद्ध करके संगीत के महत्व को स्वीकार किया है किंतु दया के सागर ईसा के अनुयायियों के शासन को मिठास की आव-

श्यकता शायद अनुभव नहीं हुई। कर्कश, कठोर और दुरूह गद्य में रचे उनके नियम क्या उनकी कठोरता का ही प्रतिबिंब हैं ?

"देखो तो क्या तमाशा हो रहा है ? भजन गा कर भी कहीं स्वराज्य मिल सकता है ?"

नृसिंहलाल ने अपने पास खड़े दूसरे अफसर से कहा। वह अफसर भी हंस रहा था। इन्हें लग रहा था कि भगवान से सहायता मांगनेवाले ये असहाय व्यक्ति क्या शस्त्रों से सुसज्जित कार्यकुशल ब्रिटिश शासन का सामना कर सकेंगे ? उन्हें उन लोगों का यह अकिंचन प्रयास हास्यस्पद लग रहा था। साथी अफसर ने कहा :

"हां नृसिंह भाई। स्वराज्य तो जब मिलेगा, तब सही। पर इस बहाने अपाहिज कीर्तनियों, बेरोजगारों और पराये पैसे पर मौज उड़ानेवालों को रोटी तो मिलेगी।"

विरोधियों को अपमान करने में मजा आता है। पर नृसिंहलाल अपने साथी की टिप्पणी से पूरी तरह सहमत नहीं हुए। धन्ना भगत अंधा था, कोई अपंग भी इनमें होगा, कोई बेरोजगार और पारिवारिक झंझटों से भागा हुआ झगड़ालू व्यक्ति भी इनमें हो सकता है। पर जनार्दन तो एक सुसंस्कृत व्यक्ति था, अरुण ने उच्च शिक्षा पायी थी और स्वयं नृसिंहलाल का पुत्र भी इनमें सम्मिलित था। इन लोगों को गरीब और झगड़ालू कैसे कहा जा सकता है ? इस हलचल में ऐसा कौन-सा आकर्षण होगा कि सरकारी नमक खानेवाले वफादार अफसरों के पढ़े-लिखे पुत्र भी इनमें सम्मिलित हो गये थे।

नृसिंहलाल का ध्यान टूटा। भजन एकाएक रुक गया था और सारे वातावरण में शांति छा गयी थी। इस शांति में भी जैसे गीत के मूक शब्द लहरा रहे थे। चार पांच पल की घोर निस्तब्धता के बीच एक ऊंचा स्वर उठा :

'वंदे ··· ···'

एकत्र जनसमूह ने उसे पूरा किया ···

'मातरम् !'

फिर एक बार गर्जना हुई :

'वंदे ··· मातरम् !'

माता को सभी का वंदन। अंधा हो या अपंग। साधु हो या असाधु। अमीर हो

या गरीब। राजा हो या प्रजा। विद्वान हो या मूर्ख। मातृभूमि सभी की वंदना स्वीकार करती है। सभी को अपनी छाती से चिपकाती है। सभी को अपनी गोदी में सुलाती है। मां और मातृभूमि को स्वर्ग से भी अधिक गरिमामय, श्रेष्ठ कहने में गलती क्या है ?

जब तक विश्व की राज्य सत्ताओं में मातृत्व की भावना नहीं जागती, उनमें कठोरता बनी रहेगी। अशक्त और अपंग को भूखा मारनेवाली मानसिक रूप से दुर्बल, दया के पात्र व्यक्तियों को उनकी त्रुटियों के लिए सजा देने और कैद में बंद करने वाली, ऊंच-नीच और अमीर-गरीब के भेद को स्थायी बनाने वाली, हार-जीत का जुआ खेलकर पड़ौसी देशों के साथ निरंतर फसाद रचने वाली सत्ता कभी भी वंदनीय माता का पद नहीं पा सकती। वह तो कोई रक्त-पिपासु राक्षसी ही होगी। भारतवासी जिसके लिए वंदेमातरम् का जयघोष करते हैं, उस मां को खून की प्यास नहीं है। वह तो परम पुनीत, परम सात्विक जननी है जो सारे विश्व को अहिंसा, दया और प्रेम का संदेश दे रही है। मानव जाति का विकास पशु बल का सहारा लेकर नहीं, प्रेम का सहारा लेकर संभव हुआ है। इसका प्रत्यक्ष दृष्टांत रूप मां का सदैव वंदन है।

'वंदे ... ...मातरम्।'

जयघोष हो रहा था। अरुण ने समूह के पीछे खड़े पुलिस अफसरों को देखा। उसने अपने पुराने मित्र रहीमखान को भी देखा। मैजिस्ट्रेट था। कालेज में दोनों साथ थे। उन दिनों उन दोनों के सपने समान थे। दोनों ही भारत की स्वतंत्रता के लिए योजनाएं बनाते रहते थे। परंतु पढ़ाई समाप्त कर अरुण तो हिंसावादी क्रांतिकारियों के दल में जा मिला और रहीम अंग्रेजों की मुस्लिम पक्षपाती नीति का लाभ पाकर एकदम बढ़िया नौकरी पा गया।

इसमें रहीम का दोष भी नहीं था। अरुण के पिता एक बड़े अफसर थे। वैसे उन्होंने अपने मन पर अंकुश रखकर अपनी आवश्यकताओं को सीमित ही रखा था, फिर भी उन्हें आर्थिक कष्ट तो नहीं ही था। रहीम गरीब परिवार से था और उसे अपने पिता का भारी ऋण चुकाना था। परिवार के भरण-पोषण का भार उसके सिर पर था। उसका विवाह बचपन में ही हो गया था। अस्तु, तुरंत ही धनोपार्जन करना उसके लिए आवश्यक था। इधर सरकार ने जब हिंदू-मुस्लिम

संगठन के बीच से उमड़ती राष्ट्रीयता की पुकार को सुना तो उसने दोनों में फूट डालने की दृष्टि से मुसलमानों को राजकाज में विशेष लाभ देने की राजनीति अपनायी। रहीम को एकाएक ही डिप्टी कलक्टर की जगह मिली। अरुण ने ही उससे यह नौकरी स्वीकार करने का आग्रह किया था।

अरुण का विचार था कि वक्त पर रहीम का उपयोग किया जा सकेगा। हिंसक क्रांति के गुप्त प्रचार कार्यों में सरकारी नौकरी से भी लाभ संभव था। पर रहीम अपने पुराने स्वप्न भूलकर सरकारी तंत्र का एक उपयोगी पुर्जा मात्र रह गया था। अरुण ने क्रांति की बाधाओं को देख समझकर एक वर्ष के लिए अहिंसा का व्रत लिया था। पर अहिंसा क्रांति की विरोधी नहीं है। क्रांति चाहे हिंसक हो या अहिंसक। शासन-तंत्र के किसी असह्य दोष के कारण ही वह जन्म लेती है। व्यक्ति की ही तरह समष्टि को भी मिथ्याभिमान हो आता है। शासन तंत्र अपनी कमी या दोष को देख समझ नहीं सकता। इसलिए कमी की ओर उंगली उठानेवाले को वह अपना दुश्मन समझता है। कमी बतानेवाला कोई गांधी हो या लेनिन।

दोनों मित्र—अरुण और रहीम आमने सामने खड़े थे। अगले दिन सवेरे ध्वजारोहण और जुलूस के लिए लोगों को उकसानेवाले जनार्दन और अरुण जैसे चक्रमों को समझाने और न समझने पर डराने के लिए ही मैजिस्ट्रेट और पुलिस के अफसर आये थे।

दोनों पक्षों के सामने धर्मसंकट उपस्थित था। अरुण और रहीम गहरे मित्र थे। स्वयं नृसिहलाल का पुत्र कंदर्प जुलूस के आगे-आगे झंडा लेकर चलनेवाला था।

"आइये-आइये मैजिस्ट्रेट साहब। आइये नृसिहभाई। पधारिये।" वंदेमातरम् का घोष थमने पर जनार्दन ने आगंतुकों का स्वागत किया।

अहिंसा में व्यक्तिगत शत्रुता के लिए कोई स्थान नहीं है। उसका तो किसी विरोधी विचार प्रणाली के साथ विरोध होता है। अहिंसावादी मानते हैं कि व्यक्ति से नहीं, उसमें पनपनेवाली किसी बुराई का विरोध करना चाहिए और व्यक्ति का नाश करने से नहीं, उसके मानस में अभिप्सित परिवर्तन करने से ही उनका कार्य सिद्ध हो सकता है। शरीर नहीं, मन ही बंधन और मोक्ष का कारण है—गीता के इस दर्शन को व्यवहार में लाना ही अहिंसा का मूल तत्व है।

अस्तु सत्ता का विरोध करते हुए भी अफसरों के प्रति अहिंसावादी के मन में शत्रुता का भाव नहीं ही होना चाहिए। जनार्दन जैसे अहिंसावादी के लिए अपने विरोधियों का स्वागत करना स्वाभाविक ही था।

मैजिस्ट्रेट और नृसिंहलाल उनके पास जा बैठे।

21. हलचल और प्रवाह

एक दिन ऐसा भी आयेगा जब अमृत
का झरना पृथ्वी को भी सींचेगा।

—मगनभाई

आश्रमवासियों में धीरे-धीरे बातें होने लगीं कि पुलिस वाले जनार्दन के काम को आरंभ में ही रोकने आये हैं। उनके मन में एक विशेष उत्साह भरी बेचैनी भर गयी। सब यही संकल्प करने लगे कि चाहे कुछ भी हो, अब जुलूस तो निकालना ही चाहिए। चाहे पुलिस उन्हें पकड़कर जेल में बंद करे, गोलियों से छलनी कर दे, पर वे अपनी दृढ़ता से डिगेंगे नहीं।

बात आरंभ होने से पहले ही यह बात सबके मन नें घर कर गयी।

तब रहीम ने पूछा :

"अरुण कहां है?"

बहुत कम लोगों को ही पता था कि मैजिस्ट्रेट रहीम और अरुण में मैत्री थी। अरुण कभी उससे मिलने जाता, तब भी सब यही सोचते कि ये अफसर राजनीतिक हलचल के कारण ही उसे बुलाते होंगे। किंतु रहीम द्वारा ही नृसिंहलाल को दोनों के संबंध का पता चला था।

"क्यों? यहीं हूं।" धन्ना भगत के पास बैठे अरुण ने कहा।

"अरे वाह। मैं तो तुझी को ढूंढ़ रहा हूं।"

"क्या बात है? मैं तो बिना वारंट ही तेरे सामने उपस्थित हो जाऊंगा।" हंसकर अरुण ने कहा।

एक राजद्रोही और एक पुलिस अधिकारी को इस तरह हंसकर तू-तड़ाक से बात करते देख सभी को आश्चर्य होना स्वाभाविक था। पर अहिंसा किसी से

व्यक्तिगत शत्रुता नहीं सिखाती। वैरपूर्वक आये विरोधी का वैर भी अहिंसक योद्धा को हंसते देख बुझ जाता है। ये दोनों तो मित्र ही थे।

"अच्छी बात है, तो मेरी रखवाली में आ जा।" कहकर रहीम हंसते-हंसते उठा और अरुण को हाथ पकड़कर सबसे अलग ले गया।

नृसिंहलाल यह दृश्य देखते रहे। भारत में यह क्या चमत्कार हो गया है कि मित्र और मित्र को, पिता और पुत्र को, मां और बेटे को, बहन और भाई को एक दूसरे के सामने मोर्चा बांधना पड़ता है।

"देखो, कैसी विकट समस्या है? मैजिस्ट्रेट साहब अरुण के इतने गहरे दोस्त हैं। और इन्हीं को उसे पकड़ने की आज्ञा देनी पड़ेगी?" नृसिंहलाल ने जनार्दन को बताया।

"पकड़ने का कारण?" जनार्दन ने पूछा।

"यही कि तुम लोग जुलूस निकालने पर लगी निषेधाज्ञा का उल्लंघन कर रहे हो।"

"तो निषेधाज्ञा समाप्त कर दो।"

"यह भी कहीं हो सकता है?"

"हमारे कार्य की सचाई देखकर वैसा करने में क्या हर्ज है?"

"नहीं, नहीं। तुम्हारी इस धांधली से कितने परिवारों में फसाद खड़े होते हैं, यह भी कभी सोचा है?"

"अरे कंदर्प, इधर तो आ।" नृसिंहलाल का प्रश्न सुनकर जनार्दन ने उनके पुत्र को पास बुलाया। वह दोनों के पास आ खड़ा हुआ। कैशोर्य से यौवन में पदार्पण करता वह सलज्ज, सुकुमार, किंतु उत्साही कंदर्प समझ गया कि जनार्दन उसे फिर इस हलचल से अलग होने को कहेंगे।

"देख कंदर्प। अब भी मान जा। अपनी वजह से अपने पिता की परेशानी मत बढ़ा। उनकी ओर भी तुझे देखना चाहिए।"

यह अहिंसात्मक युद्ध। पिता के मन को लेशमात्र भी दुख देने पर दुखी होने-वाली अनेक सहृदय संतानों की अग्नि-परीक्षा ले रहा है। एक ओर वात्सल्य के मूर्तरूप माता-पिता और दूसरी ओर युगधर्म की परमाकर्षक प्रतिमा। पुत्र को मृत्यु की सजा सुनानेवाला ब्रूटस या कि पिता के वचन की पूर्ति के लिए पिता को

मृत्यु का आघात पहुंचानेवाले राम ही इस मनोव्यथा को समझ सकते हैं। कंदर्प के चेहरे पर विषाद की छाया थी।

"यह कैसे होगा ?"

"जुलूस में मत जाना।"

"वह असंभव है।" स्थिरता के साथ कंदर्प ने कहा।

"देख, देशसेवा का यही तो एकमात्र उपाय नहीं है ना ? जुलूस में न जाने पर तेरी देशभक्ति में कोई कमी थोड़े ही आने वाली है।"

"यह तो तभी हो सकता है जब आप जुलूस न निकालें, अन्यथा नहीं।"

कंदर्प उस जुलूस की भावना को समझ रहा था और जुलूस के कारण नहीं, उस भावना के कारण वह उससे जुड़ा था।

ब्रिटिश सत्ता के प्रभाव में गढ़े भारतीय मानस में हम तीन परत आसानी से देख सकते हैं। प्रांत-प्रांत में घूमती मराठों की विनाशिनी सेना, शिथिल मुस्लिम सत्ता की सबको कांपनेवाली मृत्युसूचक गतिविधियां, हिंदू और मुस्लिम सत्ताधिकारियों की अशक्ति के चिह्न-रूप लुटेरों, ठगों और पिंडारियों के राज्याश्रय या राज्य उपेक्षा से उपजे त्रासद दल और इन सबके बीच क्षण-क्षण के अनिश्चय से घबराये समाज की पीड़ा। दुखी प्रजा को ब्रिटिश शासन व्यवस्था इतनी भा गयी थी कि वह गा उठी :

देख, बिचारी बकरी का भी
कोई न देख कर पकड़े कान।
यह उपकार मान ईश्वर का
खुश हो तू ए हिंदुस्तान।।

इससे खुशी का अनुभव करनेवाला मन है पहली परत।

इस व्यवस्थित शांति को पूरी तरह भोगने से पहले ही असंतोष का चक्र घूमने लगा। ब्रिटिश सत्ता सभी कुछ जानती थी। पर उसे भारतीय बनना नहीं आया। यह सही है कि देश में शांति स्थापित हुई। पर देश की आत्मा जाने क्यों छटपटाने लगी थी ? यह सही है कि बकरी का कान कोई नहीं पकड़ता। पर प्रजा में बकरी का कान पकड़ने जितनी भी शक्ति है ? समस्या खड़ी होने पर उसके निराकरण द्वारा ही मुक्ति संभव है। विचारक को लगा कि निशस्त्र प्रजा में बकरी का सामना

करने जितना जिगर भी नहीं है। सत्ताधिकारियों के महत्व का मापक है प्रजा का सुख-ऐश्वर्य। प्रजा ने सुख शांति की दूत सत्ता से पूछना आरंभ किया :

"हे प्रभु के पैगंबरो। आपने हमें शांति तो दे दी। मगर हमारी शक्ति को कहां गायब कर दिया ?"

सहमी-सहमी प्रजा के सहमे-सहमे स्वर को सुनकर अट्टहास करती सत्ता ने उत्तर दिया :

"शक्ति ? तुम्हें शक्ति की क्या आवश्यकता हे ? शांति में ही सुख मानो।"

"नहीं नहीं। ऐ फरिश्तो। हमें भी शक्ति पाने के लिए कुछ अभ्यास करने दो। यह शांति तो हमें रोगी की शिथिलता जैसी लगती है।"

"अरे तुम्हारी शक्ति हम ही तो हैं। और क्या चाहिए ?" सत्ता ने आश्वस्त करना चाहा।

"ठीक है। पर क्या तुम और हम एक हैं ?" प्रजा के एक भाग की ओर से आवाज आयी।

"कृतघ्न भारतवासियो ! तुमने हमारी कदर ही नहीं जानी ? हम न होते तो तुम्हें अफगान घोलकर पी जाते, चीनी चाट जाते, रूसी हड़प जाते, जापान ···"

"साहबान ! बेअदबी माफ ! इस समय भी तो हम निगले हुए ही हैं न ? अफगान या रूस की जगह आप ···।"

"जबान बंद करो।"

"मेहरबान ! गुस्सा न कीजिये। हम कुछ कठोर शब्द बोल गये। आप कहते हैं कि आप हमारे ही भले के लिए भयंकर कष्ट उठा रहे हैं। आपकी कृपा स्वीकार करते हैं। परंतु आप कभी-कभी हमसे पूछते रहा कीजिये कि हमें हमारा भला किसमें लगता है ?"

"बस, इतना ही चाहते हो ना ? ठीक है। हम कभी कभी पूछते रहेंगे। बस ?"

प्रजा को संतोष हुआ। यही मानस है दूसरी परत।

यही राजा प्रजा संबंध दूसरी भूमिका तक पहुंचा। भारत की प्रजा की आवाज सुनने के लिए कुछ वाद्य और वाद्यग्रह बनाये गये।

सुधरी अनसुधरी, विस्तृत ···धारासभाएं स्थापित हुईं। और हक और अधिकार का शब्दजाल भरी भूल-भुलैया रची गयी।

"अब बस ?"

परंतु तृप्तिसूचक 'बस' शब्द की अनुगूंज सुनायी नहीं दी। वरन् प्रति प्रश्न पूछे जाने लगे :

"जिस सलाह का कोई मूल्य नहीं, उसे देने की भी क्या आवश्यकता ? आप हमारी सलाह मानते ही कब हैं ? मानते क्यों नहीं हैं ?"

"अरे लालची भारतवासियो। उंगली पकड़ते पहुंचा ही पकड़ने लगे। तुम्हारी सलाह मानने योग्य ही न हो तो क्या किया जाय ?"

"प्रजा के प्रतिनिधि एकमत होकर बहुमत की बात कहते हैं, उसे न मानने का घंमड क्यों है ?"

"कारण बतावें ? सुनिये कान में बताते हैं, किसी से कहियेगा नहीं। यह आप भूलियेगा नहीं कि हम आपके राजा हैं।"

"यानी आप हमारे प्रतिनिधि तो नहीं ही हैं न ? जो हमारा प्रतिनिधि ही न हो, उसका राज्य हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं ?"

"यह तो खुला राजद्रोह है।"

"राज्य हमारा हो तो राजद्रोह हो सकता है। राज्य हमारे लिए हो तो भी इसे राजद्रोह कहा जा सकता है। यह तो परराज्य का द्रोह है।"

"यह सब आपको सिखाया किसने ?"

"इस शिक्षण का सम्मान आप ही के खाते में जमा हुआ है। स्वतंत्र भारत के राज्य मंडप के द्वार पर हम तख्ती लगायेंगे : ब्रिटिश संसर्ग का आभारी स्वराज्य। क्यों आपको कोई आपत्ति तो नहीं ?"

भारत अब इस तीसरी भूमिक में आ खड़ा हुआ है। यों अभी तीनों ही भूमिकाएं जीवित हैं। किंतु पहली दो भूमिकाएं तीसरी भूमिका के भार से दबकर अदृश्य होती जा रही हैं। पितामह को ब्रिटिश संसर्ग में ईश्वरीय कृपा दिखायी देती है, पिता को उसमें आकस्मिक सुयोग दिखायी देता है किंतु पुत्र को उसमें हिमालय सरीखा दमघोंटू भार नजर आता है। ऐसी स्थिति में पिता और पुत्र के बीच मत-भेद कैसे न हो ? ब्रिटिश तंत्र में व्यवस्थित नृसिंहलाल का विनयी सुशील पुत्र कालेज छोड़कर शासन के विरुद्ध तनकर खड़ा हो जाय–इसमें आश्चर्य क्या ?

नृसिंहलाल ने कंदर्प को काफी समझाया। जनार्दन ने भी कम नहीं समझाया।

परंतु वह अपने निश्चिय से तिल भर भी नहीं डिगा। इस गुर्जर पर तो ध्वज लेकर जुलूस के आगे आगे चलने का उन्माद चढ़ा था।

नृसिंहलाल को बहुत बुरा लगा। उन्होंने अपना रोष जनार्दन पर उतारा :

"तुम लड़कों को मां बाप के विरुद्ध भड़काते हो, इसका नतीजा अच्छा नहीं होगा।"

"जमाना लड़कों का है, हमारा नहीं।" जनार्दन ने शांतभाव से कहा।

माता-पिता अतीत के प्रतिनिधि हो सकते हैं और हैं लेकिन वर्तमान तो युवक युवतियों का ही है। संतति सर्जन के कारण-रूप माता-पिता संततिके रूप में ही वर्तमान का सृजन करते हैं। शांति और समझदारी की सलाह देनेवाले माता-पिता ही हृदय को देखें तो उन्हें अपने बच्चों की अशांति, उन्माद का कारण मिल जायेगा।

पुत्र को ए. एस. पी. या डी. एस. पी. बनाने के स्वप्न देखते हुए उसे उसी योग्य शारीरिक और मानसिक शिक्षा देनेवाले पिता को अपने पुत्र का इस प्रकार के दल में सम्मिलित होना पसंद नहीं आया। युवकों को नौकरी के मोह से दूर करनेवाली देशभक्ति की ज्वाला को वे मन ही मन श्राप देने लगे। पर उस समय वे भूल ही गये कि अहमदाबाद कांग्रेस में स्वयंसेवक के रूप में कार्य करते हुए जब उन्होंने सुरेंद्रनाथ बनर्जी की गर्जना सुनी थी तो देशभक्ति की लहर ने उन्हें किस तरह सराबोर कर दिया था।

रहीम और अरुण बातें करते हुए वापस सभी के बीच आ गये। तभी कृष्णकांत सुरभि और रंजन भी आ गये। उन्हें देखकर एक पुलिस अफसर ने रहीम को खुश करने के लिए टोका : "ये शराबी गृहस्थ भी अब मद्य-निषेध के काम में लगे हैं।"

कोई बिगड़ा हुआ व्यक्ति सुधर जाय, अच्छा कहलाने लगे, यह भी हमें अच्छा नहीं लगता। दोष भुलाने की क्षमता हममें जरा भी नहीं है। हमारी दृष्टि इतनी विकृत हो गयी है कि दुर्गुणी व्यक्ति सुधर जाय तो भी हम उसमें दुर्गुण ही देखते रहते हैं।

"इसमें क्या बुराई है ?"

"खुद पीकर दूसरों को मना करें, यह भी कोई बात है ?"

"गड्ढे में गिरा व्यक्ति यदि पुकार कर औरों को सचेत करे, इसमें क्या बुराई

हैं ? फिर कृष्णकांत ने तो शराब छोड़ दी है।"

"छोड़िये साहब ! शराब भी किसी से छूटी है ?"

रहीम ने उत्तर नहीं दिया। पर उसने मन में सोचा—

'मेरा मजहब कहता है कि शराब की बूंद भी शरीर के किसी अंग पर गिरे तो उस अंग को काट फेंकना चाहिए। क्या हर सच्चे मुसलमान का यह कर्तव्य नहीं कि वह मद्य-निषेध के आयोजन में सम्मिलित हो ?'

फिर उसने सोचा कि वह तो सरकारी नौकर है और मद्य-निषेध के कार्य से रोजद्रोह की गंध आती है।

"क्यों मैजिस्ट्रेट साहब ? यहीं से जुलूस को रोक रहे हैं क्या ?" हंसकर कृष्ण-कांत ने पूछा।

साहबों को भी शरमानेवाले कपड़े पहननेवाले कृष्णकांत का खादी के कपड़े पहनकर बाहर निकलना किस परिवर्तन का संकेत है ? अंग्रेजी पोशाक की आवश्कता नहीं, अंग्रेजों जैसा दिखने की भी आवश्यकता नहीं—क्योंकि अंग्रेजों की भी हमें आवश्यकता नहीं। क्या ऐसी ही कोई भावना इस वेश-परिवर्तन में लक्षित नहीं हो रही ? गांधी टोपी देखकर घबरानेवाले अफसरों को उस टोपी के पीछे छिपी भावना की शक्ति ही परेशान करती है।

कृष्णकांत के खादी के कपड़े भी देखने योग्य ही थे। उनकी स्वच्छता उड़कर आंखों में समा रही थी। उनके धोती कुरते को देखकर सोचना पड़ता था कि क्या यही आदर्श वेशभूषा नहीं है ? उनकी टोपी का बांकपन भी देखने योग्य था।

"तुम जुलूस निकालो तो सही। तभी तो रोकने की बात होगी ?"

"पूरी तैयारी है। बस सुबह की प्रतीक्षा है।"

वैसे सरकारी अफसरों का अपरूप पक्ष ही प्रायः चर्चित होता है। पर इस सत्य के संग्राम में विरोधियों के मिठास भरे प्रसंग भी भुलाये नहीं जाने चाहिए।

"बंदूकें और तलवारें खड़ी हैं।" रहीम ने भी हंसते हुए डर बतलाया। मजाक में भी अपने देशवासियों को डराते हुए रहीम के भावुक हृदय में खरोंच लगी।

"द स्टील शैल रस्ट सर।"[1] कृष्णकांत ने तुरंत उत्तर दिया। अंग्रेजी उसकी जीभ पर चढ़ी हुई थी।

---

1. वे भी कुंद हो जायेंगी, महाशय।

रहीम और अन्य पुलिस अफसर यहां से चले गये। उन्होंने क्या बातें कीं, यह तो पता नहीं, पर सभी ने यह अनुमान लगाया कि वे अरुण और जनार्दन को जुलूस न निकालने के लिए समझाने आये होंगे।

उन्हें जाते देख कुछ युवक हंसने लगे। कई देशसेवकों को लगता है कि पुलिस कर्मचारी हंसी के पात्र तुच्छ प्राणी हैं। वैसे यह मान्यता एकदम गलत तो नहीं कही जा सकती! पर जनार्दन को यह तिरस्कार वृत्ति अच्छी नहीं लगी। तिरस्कार में ही तो हिंसा का मूल निहित है।

हम अपने मन को ऐसा क्यों न बना लें कि विरोधी भी हमें प्यारे लगें?

उन्होंने सारी रात सोच में बिता दी। जुलूस में सम्मिलित होनेवालों को उन्होंने कुछ देर सोने को कहा पर विजय की रेखाएं आंकते युवकों की आंखों में नींद कहां?

22. जुलूस

जिस प्रकार महासागर की उत्ताल तरंगों में असंख्य रंग-बिरंगी सीपियां तैरती रहती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मांड की प्रचंड लहरों में मानव भी छोटे बच्चों की तरह परवश हो घूमते हैं !

—न्हानालाल

सूर्योदय हो रहा था, सृष्टि के विविध दृश्यों को देखते हुए सूर्य ने धीरे-धीरे आंखें खोलना शुरू किया। कोई नया दृश्य दिखायी देने पर उसकी पलकें कुछ और उठीं। चार-चार की पंक्ति बनाकर कोई पचास व्यक्ति खड़े थे। सबसे आगे एक मोहक युवक हाथों में सफेद ध्वज लिये खड़ा था। एक ओर तीन युवतियां। कुछ बिखरे हुए व्यक्ति भी एक ओर खड़े थे। जनार्दन का ध्वजा-जुलूस पुलिस की आज्ञा के उलंघन को तैयार थी। पचास करोड़ व्यक्तियों पर राज्य करने वाली सत्ता का सामना करने को तैयार पचास व्यक्तियों को देखकर सूर्यदेव ने दृष्टि स्थिर की।

पचास व्यक्ति यदि सौ व्यक्तियों का सामना करने जायें तो कोई भी सयाना व्यक्ति इसे मूर्खता ही कहेगा। तब पचास करोड़ की शक्ति के सामने मात्र पचास ? मनुष्य के पैमाने छोटे-छोटे हैं। उन्हें पांच और पचास के बीच बहुत बड़ा अंतर दिखायी देता है। पचास और पचास करोड़ के बीच का अंतर गिनते हुए तो वह बिलकुल ही थक जाता है। पर एक क्षण में लाखों कोस तक अपनी किरणें फैलाने वाले सूर्य के लिए तो पांच और पांच करोड़ बराबर ही हैं। चलते हुए पांव के नीचे चींटी कुचल जाय तो पता ही नहीं चलता कि थी या नहीं। सारी मानव सृष्टि समाप्त हो जाय तो भी सूर्य उसी तरह हंसता, प्रकाशित होता

रहेगा। उसके सामने मनुष्य चींटी के समान है। पांच हों या पचास करोड़, सूर्य के लिए कोई माने ही नहीं रखते।

फिर भी सूर्य ने दृष्टि स्थिर की। उसने देखा कि उसका वरेण्य तेज उन पचास व्यक्तियों में समा गया है। अपनी तेजी बढ़ाते वह कुछ और ऊपर आया। संसार में अपना तेज फैलाने की अपेक्षा उसे इसका अधिक ध्यान रहता है कि संसार उसे झेल ले।

एक युवक ने ललकारा :

'नहीं झुकेगा, नहीं रुकेगा
निशान भूमि भारत का ··· ···
भारत की इस धर्म ध्वजा का
संजोयेंगे सम्मान भूमि भारत का

झंडा ऊंचा करके कंदर्प ने आगे बढ़ना शुरू किया। उसके पीछे चार-चार युवकों की टुकड़ियां एक साथ कदम उठाती बढ़ने लगीं। सभी के मुख में यही उद्गार था :

'नहीं झुकेगा, नहीं रुकेगा
निशान भूमि भारत का।'

जनार्दन मुंह नीचा किये पीछे पीछे चल रहे थे। उन्होंने महिलाओं को जुलूस में सम्मिलित होने के लिए काफी मना किया था, फिर भी सुरभि, पुष्पा और रंजन आ गयी थीं। कृष्णकांत, विमोचन और कुछ समाचार पत्रों के प्रतिनिधि व आश्रम के प्रति आस्था और सहानुभूति रखनेवाले कई सज्जन भी साथ हो लिये। उनकी अलग चाल से लग रहा था कि वे जुलूस का अंग नहीं हैं। किंतु यह भी नहीं कहा जा सकता था कि वे जुलूस से भिन्न कोई समुदाय हैं।

आश्रम के बाहर निकलने पर बाहर खड़े दर्शक भी जुलूस के पीछे हो लिये। पूरे शहर में खबर फैल गयी थी कि जनार्दन और उनके स्वयंसेवक सरकार की आज्ञा अवहेलना करके शहर के मध्य स्थित चौक में ध्वजवंदन करने वाले हैं। मार्ग में जगह-जगह लोगों के झुंड जुलूस देखने के लिये खड़े थे। जुलूस जैसे-जैसे शहर की आबादी के बीच पहुंचता गया, भीड़ बढ़ती गयी। मनुष्य के कौतूहल की सीमा नहीं। उसे हर ओर हर कुछ देखने का शौक है। जिन्हें पहले से खबर थी

वे तो आये ही, जिन्हें पता नहीं था, वे भी जुलूस को देखने के लिए खड़े हो जाते।

"अरे क्या है यह ?"

"स्कूल के लड़के हैं।" किसी ने ज्ञान बघारा।

"नहीं नहीं, ये तो गैरसरकारी हैं।" किसी ने संशोधन किया। अब उन्हें कौन बताये कि गैरसरकारी और गैरसहकारी (असहयोगी) दो भिन्न शब्द हैं ?

"आज तो लड़ाई होनेवाली है।" किसी ने सूचना दी।

"यह सफेद टोपी लड़ेगी क्या ?" एक शूरवीर ने व्यंग्य किया।

"यह हथियारों की नहीं, आत्मबल की लड़ाई है।" किसी बौद्धिक ने समझाना चाहा।

"हथियार बिना लड़ाई कैसी ! इससे क्या फायदा ? लड़ाई तो बस मार सोटा और ··· ···है !" शूरवीर ने सोटे का प्रभाव समझाया।

"हमसे यह सब नहीं हो सकता। हमें हथियार संभालना ही कहां आता है ?"

"अरे लाठी पकड़ना सीखोगे तो बंदूक पकड़ना भी सीख जाओगे। समझे मेहरबान ?"

जुलूस आगे बढ़ता जा रहा था। पीछे पीछे लोगों के झुंड तरह-तरह की बातें और कल्पनाएं करते चल रहे थे। धीरे-धीरे पचास व्यक्तियों के जुलूस के पीछे बढ़ते-बढ़ते पांच हजार की भीड़ एकत्र हो गयी। जिसकी जैसी इच्छा हो, चिल्ला चिल्लाकर बातें करने की छूट थी। और बिना चिल्लाये बात करना संभव भी नहीं था। बिना बोले किसी का काम भी नहीं चल सकता था। कोई कोई धक्का मुक्की करके आगे भी बढ़ जाते थे। भीड़ का धक्का पानी की लहर की तरह होता है। एक बार के हिचकोले से ही पूरी सतह हिल जाती है। एक सिरे का धक्का दूसरे सिरे तक पहुंच जाता है। एक बात कि गांधी युग में लोग भीड़ के धक्कों को प्रसन्नतापूर्वक सहने लगे हैं।

एक छोटा बच्चा बीच में फंसकर रोने लगा तो किसी ने उसे गोदी में उठाकर उसके पिता को सौंप दिया और भीड़ से बाहर निकलने में सहायता भी दी।

जुलूस का उत्तेजनापूर्ण संगीत सुनायी दे रहा था। भीड़ में भी कई स्वर उन स्वरों में एक होने का प्रयत्न कर रहे थे। अधूरी पंक्तियां बिना किसी क्रम के भी गायी जा रही थीं :

'हम भारतमाता के हैं पुत्र
जिनका गौरव पुराण पवित्र
रे जिनके सुंदर सूत्रों ने
चमकाये कितने उच्च चरित्र ।'

खिड़कियों, चौंतरों, बरामदों और पेड़ों की शाखों पर लोग जुलूस देखने को आतुर चढ़े बैठे थे। बीच में कोई 'वंदे मातरम्' का नारा भी भीड़ की ओर उछाल देता था। ऐसे में जुलूस के गीत का स्वर कुछ दब जाता किंतु फिर संगीत उभर आता,

'अपने अंतर की बात सुनेंगे
नहीं डरेंगे, नहीं झुकेंगे
हम देशी देशी देशी
है हिंद हमारा देश ।

एकाएक आगे बढ़ती भीड़ का प्रवाह रुक गया। पहले तो किसी की समझ में इसका कारण नहीं आया। सबकी दृष्टि कारण की खोज में सामने की दिशा में उठी। देखा गया कि पुलिस ने जुलूस को रोक रखा है।

पूरा मार्ग रोककर लगभग ड़ेढ़ सौ पुलिस के सिपाही जुलूस के सामने खड़े थे। सिपाहियोंके पीछे एक ऊंचे घोड़े पर अंग्रेज अफसर बैठा था। सिपाहियों के सामने भी आठ दस अंग्रेज सार्जेंट-जमे खड़े थे। सिपाहियों के हाथों में लाठियां थीं।

"यहीं रुक जाओ।" पुलिस अफसर चिंघाड़े। जुलूस खड़ा ही था। उत्तर में कंदर्प ने झंडे को और ऊंचा करके पुकारा : "वंदे ... ...।"

"मातरम्।" स्वयंसेवकों ने नारा पूर्ण किया। भीड़ में से फिर गर्जना हुई :

"वंदे मातरम्।"

यूरोपियन अधिकारी घोड़े पर बैठा मुस्कराता दिखायी दिया। अरुण जुलूस के व्यूह से बाहर निकला। पिछले भाग से जनार्दन, कृष्णकांत और तीनों युवतियां भी निकल कर सामने आ गयीं। भीड़ में से कई लोग बाहर निकल आये, जो अपने आपको काफी महत्वपूर्ण मानते थे। पांच हजार में से पांच सौ ऐसे व्यक्ति निकल सकते हैं जो यह मानें कि उनके बिना किसी समस्या का निराकरण संभव नहीं। संघर्ष पुलिस और जुलूस के पचास व्यक्तियों के बीच था किंतु उनमें कोई

बात हो, उससे पूर्व इन आत्मप्रशंसकों ने झगड़ा अपने पर ले लिया।

जनता एकदम उत्तेजित हो उठी थी। डंडे की बात करने वाले शूरवीर ने गर्जना की :

"अरे क्या बात है साहब। इतने लोग हैं। एक एक झांपट मारेंगे, इतने से ही पुलिस बिखर जायेगी ? ऐसे लोग झांपट मारते नहीं, यह भी सही है।"

"ऐसे मत बोलिये। यह अहिंसा की लड़ाई है।" एक समझदार ने कहा।

"आप में अक्ल भी है या नहीं ? गांधीजी की बात भी नहीं समझते। अहिंसा की बात तो लोगों को तैयार करने के लिये है।"

किसी एक ने अहिंसावादी सज्जन को डराया। बहुतों की यही मान्यता थी कि गांधीजी हिंसा तक पहुंचने के लिए ही अहिंसा का आश्रय ले रहे थे।

"लगाओ एक।" एक उत्तेजित युवक ने हाथ में पत्थर लेकर कहा।

आसपास के चार पांच व्यक्तियों ने आंखों से अपनी सहमति प्रदर्शित की। कई लोगों को तो भीड़ में ही वास्तविक आनंद मिलता है। नवरात्रि के गरबे हों या कोई सार्वजनिक सभा, उनके हाथ चुप रह ही नहीं सकते। ताक-ताक कर पत्थर फेंकने से वे अपने आपको रोक नहीं पाते। उन्हें यह भी सोचने की आवश्यकता नहीं होती कि वे आखिर ऐसा क्यों करते हैं ? बस भीड़ देखते ही कोई अज्ञात शक्ति उन्हें विवश कर देती है।

एक पत्थर आकर जुलूस और पुलिस के बीच गिरा। जनार्दन चौंके। पुलिस अफसर अब तक सहज थे। पत्थर आते ही उनके चेहरों के भाव बदलने लगे। उनमें से एक ने जनार्दन से कहा :

"आपने देखा यह पत्थर ? यही है आपकी अहिंसा ? मैं अब भी आपसे निवेदन करता हूं कि आप आगे न बढ़ें। पीछे लौट जायें।"

दोस्तों से इस कदर सदमे उठाये जाने पर ''' जनार्दन इस समय कुछ ऐसा ही अनुभव कर रहे थे। फिर भी बोले :

"मैं विश्वास दिलाता हूं कि हमारे जुलूस में से किसी ने इसे नहीं फेंका है।"

"वह सारा आप ही का तो जुलूस है। जुलूस का बवंडर न उठा होता तो इतने लोग इकट्ठे कैसे होते ?"

जनार्दन ने सोचा, 'सच ही जिस भीड़ को उनके कार्य ने आकर्षित कर खींचा

है, उस भीड़ के व्यवहार की जिम्मेदारी भी उन्हीं के सिर होनी चाहिए। उन्होंने लोगों से प्रार्थना की कि वे ऐसा कोई कार्य न करें जो अपने-आपको पत्थर फेंकने से रोकने में असमर्थ हों, वे कृपा करके घर चले जायें। कृष्णकांत आदि ने भी भीड़ के अलग-अलग भाग में जाकर इसी प्रकार का आग्रह किया। लोग शांत हुए। किंतु पत्थर फेंकनेवालों को सबसे बड़ी बेचैनी होने लगी और कुछ ही देर में एक कंकर जाकर एक सार्जेंट के टोप से टकराया।

सार्जेंट एकदम भड़क उठा! किंतु अधिकांश लोगों ने वह कंकर देखा ही नहीं था। सार्जेंट ने कंकर अफसर को दिखाया। अफसर ने धमकी दी :

"आप लोगों को अंतिम चेतावनी दे रहा हूं। अगर आप लोग दो मिनट के अंदर-अंदर स्वयं नहीं बिखरे तो मुझे बल प्रयोग करना पड़ेगा।"

"सार्जेंट झूठ बोलता है।" भीड़ में से आवाज आयी। बहुतों को यह बात सच लगी।

'काली टोपी बायकाट।' किसी ने नारा लगाया। लेकिन सार्जेंट की टोपी काली नहीं थी।

'बायकाट।' भीड़ ने भी नारा लगाया।

किसी ने बायकाट की जगह 'काली टोपी' के साथ 'हाय हाय' जोड़ दिया तो भीड़ में से हाय हाय की ही अनुगूंज होने लगी।

"हाय हाय। काली टोपी—हाय हाय।"

इस शोर के बीच एक तेज सीटी सुनायी दी। उसके साथ ही पुलिस के आदमी भीड़ पर टूट पड़े। कुछ भीड़ को तितर-बितर करने लगे और कुछ जुलूस की स्थिर, अडिग, दीवार से खड़े पचास सैनिकों के व्यूह को तोड़ने का प्रयत्न करने लगे।

भीड़ में भगदड़ मच गयी। जिसे जिधर-जगह मिली, भागने लगा। किसके धक्के से कौन गिर रहा है, कौन कुचला जा रहा है, किसी को होश नहीं रहा। हाय तौबा मच गयी। सिपाही यथासंभव अपनी लाठियों का प्रयोग नहीं कर रहे थे। यों धक्का मारते हुए लाठी मारने के से अंदाज में हाथ अवश्य चला देते थे। आवश्यक होने पर बहुत धीरे से ही लाठी मारते। किंतु इतनी भीड़ में से बहुत कम को ही लाठी खाने की इच्छा थी। वे बड़बोले शूरवीर जो लाठी की महिमा बखान रहे थे, सबसे पहले जाने कितनों को धकियाते, कुचलते भाग गये। आत्मबल के

उपासक सज्जन का भी कहीं पता नहीं था। शायद उन्हें लगा कि अपनी आत्मिक और साथ ही शारीरिक शक्ति को भी किसी अन्य महत्वपूर्ण अवसर के लिए सहेज कर रखना आवश्यक है।

23. लाठी चार्ज

सृष्टि भुलाती, महामाया याद
दिलाती है, अलबेली दोनों सखियां
घूमर नाचतीं, रास रचाती हैं।
—न्हानालाल

कंदर्प के पैर पर एक हलका-सा डंडा पड़ा। पुलिस के तीन-चार सिपाही उसके हाथ से झंडा छीनने का प्रयत्न कर रहे थे।

"चल छोड़ इसे।"

कंदर्प ने हंसकर अपनी पकड़ और मजबूत की। सिपाहियों ने धक्का-मुक्की की किंतु एक गोरे सार्जेंट को लगा जैसे झंडा छीनने या कंदर्प को चोट पहुंचाने की उनकी कोई इच्छा नहीं थी। अस्तु, उस गोरे सार्जेंट ने आकर पूरे जोर से अपना डंडा कंदर्प के हाथ पर दे मारा। कंदर्प को लगा कि उसका हाथ टूट गया है। उसने दूसरे हाथ में झंडा संभाल कर कहा :

"झंडा ऐसे नहीं छूटेगा।"

कसरती कंदर्प को एक डंडे से वश में करना संभव नहीं था। सार्जेंट ने कंदर्प के घुटने पर दूसरा डंडा मारा। उसके पांव कांपने लगे। वह बैठ गया। बैठकर भी उसने झंडे पर अपनी पकड़ ढीली नहीं की।

"छोड़ता है कि नहीं ?" सार्जेंट चिंघाड़ा।

"होश रहते तो यह छूटेगा नहीं।" सगर्व कंदर्प ने कहा।

सार्जेंट ने उसके सिर पर लाठी का प्रहार किया। कंदर्प को चक्कर आने लगा। उसे लगा कि अब झंडा उसके हाथ से छिनने वाला है। बेहोशी में डूबते हुए उसके हाथ की पकड़ ढीली पड़ने लगी, तभी अरुण ने झंडा पकड़ लिया। संतुष्ट होकर कंदर्प बेहोश हो गया।

अब अरुण के सामने दो सार्जेंट आये। दोनों उसके हाथ से झंडा छीनने का प्रयत्न करने लगे। उसकी इच्छा हुई कि झंडे के दंड से ही वह दोनों के सिर फोड़ दे। लेकिन अपने गुस्से को रोकते हुए उसने कहा :

"हम यदि कोई अपराध कर रहे हैं तो हमें गिरफ्तार कर लीजिये। यह जंगलीपन एकदम गैरकानूनी है।" अरुण ने झंडा छीननेवाले सार्जेंट से कहा।

"कानून ? ले, देख हमारा कानून।" कहकर सार्जेंट ने पूरी शक्ति से अरुण को डंडा मारा। कंधे पर चोट लगते ही उसका खून खौल उठा। मन हुआ कि इस सार्जेंट को अभी गला दबाकर मार दे। उसकी आंखों में खून उतर आया। सार्जेंट भी कुछ डरा कि यह तेज तर्रार युवक अभी प्रत्याक्रमण कर बैठेगा। उसने अरुण के उसी कंधे पर दूसरी बार प्रहार किया। तभी अरुण ने एक हाथ में झंडा पकड़े पकड़े दूसरे हाथ से सार्जेंट का हाथ पकड़ा। सार्जेंट को लगा कि उसका हाथ किसी लोहे के शिकजे में कस गया है।

"अहिंसा। अहिंसा।"

उसी समय अरुण के हृदय के अंतरतम से पुकार उठी। क्रोध और प्रतिशोध की भावना उस पुकार को दबाने की कोशिश कर रही थी। फिर भी वह पुकार दब नहीं रही थी। अब सार्जेंट के हाथ पर उसकी पकड़ तो वैसी ही बनी रही, किंतु चेहरे पर क्रोध की जगह मुस्कान तैर गयी। उसका क्रोध अपनी चोट के कारण नहीं था। वह तो एक स्वाभिमानी युवक के अपमान के परिणाम स्वरूप था। अरुण पर दो बार लाठी से प्रहार हुआ था। देखनेवालों को लगा था कि अभी ढेर हो जायेगा। किंतु चोट अरुण को लगी थी और वह सोच रहा था : इतनी-सी चोट के लिए मैं अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दूं ? और प्रतिज्ञा की याद आते ही उसने अपने मन को संभाल लिया। कंधे की चोट की याद उसने अलग फेंकी, अपने अनावश्यक स्वाभिमान को भी उसने परे किया और अब वह सोच रहा था कि यह तो बेचारे सार्जेंट का अपमान है कि उसकी मार इस प्रकार व्यर्थ सिद्ध हो रही है। अब उसे मारनेवाले पर हाथ उठाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही थी। उसे क्रोध की अशक्ति पर धैर्य की शक्ति की विजय दिखाई दी। सार्जेंट का हाथ उसी प्रकार पकड़े हुए अरुण ने उस सार्जेंट से पूछा, "कहिये, आप कितने डंडे मार सकते हैं ?"

दो डंडे खाकर भी स्थिर खड़े, इतनी शक्तिपूर्वक हाथ पकड़ कर भी सामने

वार न करके मुस्कराते हुए अरुण के इस प्रश्न को सुनकर सार्जेंट के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। यह उसके लिए अद्‌भुत ही था कि क्रोध की इस सीमा पर पहुंच कर भी कोई मनुष्य क्षणभर में हंस कैसे सकता है ?

"किसी आदमी को अधिक से अधिक जितने डंडे मारे जा सकते हैं, उतने तो तुम पर पड़ चुके हैं। झंडा छोड़ दो। अब तुम पर एक भी डंडा नहीं मारा जा सकता।" सार्जेंट का मनुष्यतत्व बोल उठा।

"दो डंडे से तो झंडा छूटने वाला नहीं है। होश या प्राण जाने पर ही यह आपको हाथ लग सकता है।"

"आप सामना करते नहीं, फिर मैं कैसे मारूं ?" सार्जेंट अरुण के अहिंसक व्यवहार से परेशान था।

"सामना ही तो कर रहा हूं। यह झंडा मैं जरूर उस मैदान में रोपूंगा।"

कहकर अरुण आगे बढ़ा और उसके पीछे वंदे मातरम् का गगन-भेदी नाद करते स्वयंसेवक भी बढ़ चले।

"हिट हिम हार्ड यू फूल।"[1] दूसरा सार्जेंट जो आगे बढ़ रहे स्वयंसेवकों पर लाठी बरसा रहा था, वहीं से चिल्लाया।

"आई सिंपली कांट।"[2] पहलेवाले सार्जेंट ने उत्तर दिया।

गुस्से में भरकर दूसरा सार्जेंट स्वयंसेवकों को छोड़ अरुण के सामने पहुंचा और गुर्राया :

"यहीं रुक जाओ।"

मुस्कराते हुए शांत भाव से अरुण ने कहा :

"जी नहीं।"

अरुण की मुस्कान और शांत अनादर उस सार्जेंट के लिए भयंकर सिद्ध हुए। उसने पूरे जोर से अरुण के सिर पर डंडे का वार किया। सभी को लगा कि अरुण का सिर फट गया है। पहले सार्जेंट के मुंह से निकला :

"यू ब्रूट।"[3]

---

1. अरे मूर्ख, उसे धुन दो।
2. मैं तो अब नहीं ही मार सकता।
3. राक्षस।

ईश्वर ने शरीर और शारीरिक शक्ति की सीमाएं निश्चित की हैं। सिर में डंडा लगने पर अरुण को विशेष कष्ट नहीं हुआ। हुआ तो इसकी अतिशयता में उसे अनुभव नहीं हुआ। बस उसे यही लगा कि सारी सृष्टि घूम रही है, हिल रही है, डगमगा रही है, पृथ्वी उसके पैरों के नीचे से कहीं धंसी जा रही है। कि ··· उसके मूर्छित प्राय: मन ने पूछा :

"मेरा झंडा ?"

और इस चिंता ने उसकी मुट्ठी की पकड़ कुछ और कस दी। गिरते हुए झंडे को उसने संभाल लिया। "पर अब मैं आगे कैसे जाऊंगा ? ··· ···

"झंडा कौन रो ··· पे ··· गा ··· ?" उसकी बिखरती हुई चेतना ने पूछा।

"लाओ झंडा मुझे दो।" एक कोमल नारी कंठ उभरा।

कौन है यह ? अरुण समझ नहीं सका, फिर भी उस कंठ में आत्मविश्वास का ऐसा पुट था कि अरुण ने लड़खड़ाती जीभ से प्रश्न पूछा :

"तुम रोपोगी झंडा ?"

"जरूर ! मैं झंडा रोपूंगी।"

अरुण ने विश्वासपूर्वक झंडा उसे पकड़ा दिया। पुरुष जो कार्य पूरा नहीं कर सकता नारी अवश्य करेगी ··· यह विचार आते ही उसके पैर डगमगाये और वह वहीं गिर पड़ा।

वह बेहोश हो चुका था फिर भी उसके मन का कोई कोना जाग रहा था। झंडा। झंडा।

उसकी सोई हुई चेतना को चीर कर एक स्वर उभरा :

"वंदे ··· मातरम्।"

उसने आंखें खोलीं। अनायास प्रश्न किया उसकी जीभ ने :

"झंडा रोप दिया।"

"हां अभी अभी रोपा है रंजन ने।" किसी नारी कंठ ने उत्तर दिया।

अरुण का सर्वांग खिल उठा। उसने आंखें बंद कर लीं और पुष्पा के कंधे का सहारा लिए पूरी तरह बेहोश हो गया।

24. धनसुखलाल के मकान में

वीरजी ! बीमारी न होती तो प्रेम
अंकुआये बिना ही रह जाता ।

—न्हानालाल

"यह कैसा शोर है ?" बैठे बैठे ही धनसुखलाल ने सुशीला से पूछा ।

"जुलूस आ रहा है ।" खिड़की पर खड़ी सुशीला ने बताया ।

"पुष्पा भी है न ?" पूछते हुए धनसुखलाल भी खिड़की पर आ खड़े हुए। जुलूस में भी अपनों को अलग से चीह्नने की जिज्ञासा मिटती नहीं ।

"दिखाई तो नहीं दे रही··· ···हां हां··· ···वह रही । रंजन और सुरभि भी साथ ही हैं ।"

"आज से इसे बाहर मत निकलने देना । यह भी कोई बात है कि भले घर की बड़ी बड़ी लड़कियां यूं भीड़ में धक्के खाती फिरें ?"

कुछ देर तक दोनों चुपचाप जुलूस और सिपाहियों की मोर्चाबंदी देखते रहे ।

फिर धनसुखलाल बोले :

"ऐसे क्या सरकार डर जायेगी ? अभी सिपाहियों ने डंडे फटकारे नहीं कि एक भी नजर नहीं आयेगा ।"

"पर सिपाही यूं ही क्यों मारेंगे ? जुलूस वालों ने इनका बिगाड़ा क्या है ?"

"सरकार का सामना करो तो सिपाही क्या चुपचाप देखते रहेंगे ? और यह सरकार भी मूर्ख है । सौ पचास आदमी झंडा लेकर घूम लेंगे तो सरकार का क्या बिगड़ जायेगा ?"

ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं है जो यह मानते हैं कि दोनों ही पक्ष छोटी-छोटी बातों को महत्व देकर बात का बतंगड़ बना रहे हैं । जुलूस निकालने की ऐसी

क्या आवश्यता थी ? और निकाल ही लिया तो रोकने की भी क्या आवश्यकता थी ?

धनसुखलाल की हवेली के सामने वाले मैदान में ही स्वयंसेवकों और सिपाहियों की मुठभेड़ शुरू हुई थी। शहर के मुख्य भाग में पहुंचने के लिये धनसुखलाल के मकान के पास से होकर निकलना पड़ता था। सिपाहियों ने जुलूस को उसी मोड़ पर रोका था और बाप-बेटी के देखते-देखते ही लाठीचार्ज शुरू हो गया था।

लाठी-प्रहार से कंदर्प गिरा, अरुण गिरा, कई अन्य युवक भी गिरने लगे। लोग चारों ओर भाग रहे थे। आश्रमवासी कदम पीछे नहीं हटा रहे थे। उन्हें तो इस मैदान के सामने झंडा रोपकर वंदन करने के बाद ही हटना था। पुलिस का निश्चय था कि न तो झंडा रोपने देना है न उन्हें आगे बढ़ने देना है। और इसके लिए पुलिस ने लाठीचार्ज का आश्रय लिया था। पुलिस की यह आशा व्यर्थ गयी थी कि भीड़ की ही तरह आश्रमवासी भी भाग छूटेंगे। पुलिस की लाठी खाकर एक युवक के गिरते ही दो युवक सामने आ खड़े होते थे।

सबसे पहले गिरते हुए कंदर्प को सुरभि ने संभाला। अरुण को पुष्पा ने संभाल लिया। जनार्दन और कृष्णकांत अन्य युवकों को संभालने लगे। भीड़ में से दो तीन युवक डाक्टर निकल आये और वे भी घायलों की देखभाल करने लगे। उन पर भी पुलिस के लाठी प्रहार की पूरी संभावना थी परंतु इस समय कोई भी इस आशंका से डर नहीं रहा था। तभी अरुण के हाथ से झंडा लेकर पुलिस से बचती हुई रंजन निश्चित स्थान पर पहुंच गयी और वंदे मातरम् का घोष करके वहीं खड़ी रही।

चिढ़े हुए पुलिस कर्मचारियों ने तभी आकर झंडे को वहां से उखाड़ दिया किंतु रंजन इससे अधिक कर भी क्या सकती थी ? अपना खादी का रूमाल हाथ में लेकर ऊपर लहराते हुए वह वापस सुरभि और पुष्पा के पास आ गयी। इस युवती की वीरता से सभी के मन भरे जा रहे थे।

पुलिस का एक गोरा डाक्टर दूर खड़ा तमाशा देख रहा था। पुलिस की लाठी अब तक शांत नहीं हुई थी।

कृष्णकांत ने जनार्दन से कहा :

"अपनी कारों को भी शायद रोक दिया है। नहीं तो घायलों को जल्दी से ले जा सकते थे।"

"मैं भी यही सोच रहा हूं।"

"काका का मकान सामने ही है। सबको वहीं ले चलें?"

"हां, जल्दी से जल्दी से जल्दी इनकी परिचर्या जरूरी है।" भीड़ में से निकल कर एक डाक्टर ने कहा।

"नहीं, मैं किसी को मुश्किल में नहीं डालना चाहता। धनसुखलाल जी सरकारी पक्ष के व्यक्ति हैं।" जनार्दन बोले।

"किसी भी पक्ष के हों। घायल की परिचर्या करना तो दुश्मन का भी कर्तव्य है। ऐसे में काका मना करेंगे भला?"

"हां, हां वहीं चलो। ठीक रहेगा।" पुष्पा बोली।

"मैं तो सभी को आश्रम में ही ले जाऊंगा। वह देखो, एक कार आ गयी।"

एक बहादुर सिपाही का हाथ अब भी बाणासुर के हाथ की तरह लाठी मारते हुए संतुष्ट नहीं हुआ था। उसने जनार्दन के सिर पर लाठी मारी। जनार्दन के मुंह से निकाला :

"ईश्वर तुम्हें सद्बुद्धि ··· ···।"

वाक्य पूरा होने से पहले ही जनार्दन गिर पड़े। पास खड़े कृष्णकांत ने उन्हें संभाला न होता तो पास पड़े पत्थर के कोने से सिर जरूर फट जाता।

"राक्षस हो या कौन तुम?" पीछे से धनसुखलाल की क्रोध भरी चीख सुनाई दी। "सालो जरा तो इंसानियत रखो। यह क्या कि चुपचाप बैठे निहत्थों पर हाथ छोड़ रहे हैं। शर्म ही नहीं आती?"

साफ कपड़े और पगड़ी में सबसे अलग दिखाई देते हुए हृष्टपुष्ट धनसुखलाल को देखकर कृष्णकांत को मारने आ रहे दो सिपाही एक ओर हट गये।

एक सार्जेंट को लगा कि श्रेष्ठ से श्रेष्ठ भारतवासी भी गोरों से हीन है और गोरों की पुलिस को धमकाने का अधिकार तो दुनियाभर में किसी को नहीं। अत: उसने डंडा इस प्रकार किया जैसे धनसुखलाल को धक्का मारनेवाला हो कि तभी एक रौबीले मुसलमान ने उस सार्जेंट को पकड़कर अलग किया और बीच में खड़े होकर बोला :

"ए जानवर ! सेठ को हाथ लगाकर तो देख तू ।"

घनी दाढ़ी मूंछ वाले इस रौबीले पठान को सामने आता देख सार्जेंट ने फिर हाथ उठाया कि घोड़े पर सवार पुलिस अफसर दोड़ा दौड़ा वहां आ पहुंचा और सिपाहियों को वहां से हट जाने की आज्ञा दी।

"मुझे अफसोस है धनसुखलाल जी। अगर आपके सगे संबंधियों को किसी प्रकार की चोट लगी हो तो ।" उसने कहा।

"आपको तो अफसोस है। पर जिनके इतनी लगी है, उनका क्या बना ?" धन-सुखलाल रोषपूर्वक बोले।

"मैं उन्हें अस्पताल भिजवा रहा हूं ।"

धनसुखलाल पुराने विचारों के व्यक्ति थे—अपने काम से काम। क्लब आदि से उनका कोई लेना देना नहीं था। फिर भी जब तब अपने मौज, शौक, मेलों, उत्सवों आदि के लिए धनसुखलाल की जेब पर दृष्टि रखनेवाले पुलिस अधिका-रियों के बीच उनका सम्मान था। पुलिस अफसर उनसे सलीके के साथ बात कर रहा था।

"काका ! हम तो सभी को आपके यहां ला रहे थे। अस्पताल जाते-जाते कईयों के प्राण ही निकल जायेंगे। उन्हें तुरंत उपचार चाहिए ।"

"तो तुझे मना किसने किया था ? घर में जगह तो इतनी है, फिर सोच क्या रहा है ?"

कृष्णकांत हंसे। तभी रंजन बोली :

"कुछ को अपने घर ले चलें ?"

"यह और आई अक्लवाली। पास का घर छोड़कर सबको दूर घसीटेगी । चलो चलो ! अब्दुल। जा अपने दोस्तों को बुला ला और अंदर से खाटें बाहर लिवा ला ।"

"जी सेठ साहब !" कहकर उस गबरू मुस्लिम ने जल्दी से कुछ लोगों को एकत्र किया और सबने खाटें लाकर उन पर घायलों और बेहोश स्वयंसेवकों को लिटाकर धनसुखलाल के घर में ले जाना शुरू किया।

बेहोश अरुण को अब तक पुष्पा संभाले थी।

एकबार रंजन ने कहा :

"हाथ दुखने लगे होंगे। ला मैं संभालूं ?"

"ये इतने हैं न, उन्हें संभाल।"

अरुण को घर में ले जाने की बारी सबसे बाद में आयी। रंजन ने अपने भाई से कहा :

"इन्हें अपनी कार में सीधे घर ले चलें तो ?"

"हां, तू और सुरभि ले जाओ। जाते हुए डाक्टर साहब को बुलाती जाना।"

"हमारे घर इन्हें तकलीफ होगी ?" पुष्पा ने जरा नाराजी से कहा।

"अभी तो यहीं ले चलिये। काफी लगी है। एकबार देख लूं, फिर कहीं ले जाइयेगा।"

डाक्टर की बात का विरोध कौन करता ? उसे भी धनसुखलाल के ही मकान में ले जाया जाने लगा।

रंजन और पुष्पा ने एक दूसरे की ओर देखा और क्षणांश में ही अपनी नजरें हटा लीं। रंजन ने पुष्पा के कंधे पर हाथ रखा और दोनों सखियां जल्दी-जल्दी अरुण की चारपाई के साथ-साथ घर की ओर चल दीं।

धनसुखलाल के मकान में तात्कालिक चिकित्सालय खुल गया।

25. सुशीला

जिस पुत्र को अमृत रूपी दूध से पाला पोसा
उसी के लिए आंसू रूपी विष के प्याले।

—न्हानालाल

धनसुखलाल का मकान खूब बड़ा था। बड़े-बड़े कमरे। चाहे जितने व्यक्ति वहां समा जायें। साधनों की भी कोई कमी नहीं। पूजा के लिए तैयार सुशीला ने घायलों की व्यवस्था की। एक-एक कमरे में चार-चार पांच-पांच व्यक्तियों को लिटाया गया। डाक्टरों की संख्या भी धीरे-धीरे बढ़ने लगी। कुछ कर्तव्य भावनावश और कुछ यशप्राप्ति की इच्छा से वहां आ गये थे। एक चारपाई के पास पहुंचकर सुशीला चौंकी।

"दीदी, क्या हुआ?" पास खड़ी पुष्पा ने पूछा।

"मुझसे तो यह सब नहीं देखा जाता। उसने आंखें बंद कर लीं और जैसे उतना ही काफी न हो, उसने बंद आंखों पर हाथ भी रख लिये।

"हम सब तो हैं दीदी, फिर तुम इतनी परेशान क्यों हो रही हो? थक जाओगी और अभी तो पूजा भी बाकी होगी।"

"पुष्पा, जा जल्दी से डाक्टर साहब को इधर बुलाकर ला।"

"तुम जाओ। मैं पट्टी करवा दूंगी।"

पुष्पा के कहने पर भी सुशीला के पांव वहां से नहीं सरके। वर्षों से तपस्यारत तापसी वहीं पड़ी एक चौकी पर बैठकर बोली :

"मैं तो यहां से कहीं नहीं जाती। मेरे तो पैर ही टूट गये हैं।"

सच ही सुशीला के पैरों की सारी शक्ति समाप्त हो गयी थी।

"देखो दीदी, फिर बिमार पड़ोगी।" कहकर पुष्पा डाक्टर को बुलाने चली गयी।

सुशीला और पुष्पा के बीच बहन-बहन का ही नहीं, मां-बेटी का भी संबंध था। दोनों की मां अलग थीं किंतु धनसुखलाल के परिवार में सौतिया डाह का विष प्रवेश नहीं कर पाया था। सुशीला की सौतेली मां मरते समय पुष्पा को सुशीला के हाथों में सौंप गयी थी। सुशीला ने पुष्पा को अपनी बेटी की तरह पाला था।

बहन वे थीं ही। इस संबंध के बीच किसी प्रकार की उच्छृंखलता या अमर्यादा का कोई स्थान नहीं था। यों हर जगह, हर काल में नारी नारी ही रही है, अपनी स्त्री-सुलभ विशेषताओं सहित। सुशीला की मां की मृत्यु के बाद धनसुखलाल की विवाह के लिए कोई इच्छा नहीं थी। किंतु वंश समाप्त न हो जाय, इस भय से पुत्रप्राप्ति के लिए उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया। यों ऐसे उदाहरण भी हिंदू समाज में कम नहीं हैं, जब वंशवृद्धि के लिए पुत्रहीन पत्नी ने अपने जीते जी ही पति को दूसरी पत्नी लाने को विवश किया है।

अस्तु, धनसुखलाल की भावना को तात्कालिक परिवेश के बीच रखकर ही समझना चाहिए। पुरुष तीस वर्ष का हो, चालीस का हो या पचास-साठ का, उस समय इस प्रकार के विवाह का विरोध नहीं होता था। अस्तु सभी ने धनसुखलाल के दूसरे विवाह को सादर स्वीकार किया। उनकी दूसरी पत्नी को भी कभी ऐसा नहीं लगा कि उसके सिर पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा है। उसका नाम सुमति था।

उसकी और सुशीला की आयु में पांच छह वर्ष का ही अंतर था। सुशीला जब बारह तेरह वर्ष की थी, तभी उसका विवाह हो गया था। वर्तमान युग में उसके विवाह को अवश्य ही बाल-विवाह कहा जायेगा किंतु उस समय तो बारह वर्ष की आयु लड़कियों के विवाह के लिए अधिक ही मानी जाती थी। एक दो बार सुशीला ससुराल भी हो आयी थी। उसका पति कालेज में पढ़ता था। होनहार युवक था किंतु स्नातक होने से पूर्व ही काल के गाल में चला गया। बेचारी सुशीला विधवा हो गयी। उसके दुर्भाग्य पर आंसू भी बहे और निश्वास भी निकले किंतु तभी से उस पर पहरा भी लग गया। विवाहित काल में तो उसका चरित्र मात्र उसके या कुछ अंशों में उसके पिता और पति की चिंता का विषय हो सकता था। किंतु वैधव्य के बाद तो सारी दुनिया को उसकी चिंता होने लगी। वह कैसे बैठती है, कैसे बोलती है, क्या खाती है, कहां जाती है, सभी कुछ जानना समाज के लिए

अनिवार्य हो गया। दुखी पिता ने उसी दिन से काली पगड़ी पहनना शुरू कर दिया और मिष्ठान त्याग दिया। सुशीला को धार्मिक पुस्तकें पढ़ने का और पूजा-पाठ व्रत-उपवास करने को प्रेरित किया जाने लगा।

पुत्रेच्छा से किये गये दूसरे विवाह ने भी धनमुखलाल को पुत्र नहीं दिया। धनसुखलाल स्वभाव से तीखे अवश्य थे किंतु थे सहृदय। उन्होंने देखा कि ईश्वर ने फिर उन्हें पुत्री ही दी है तो ईश्वरेच्छा मानकर संतोष कर लिया और धीरे-धीरे पुत्री पर ही माता-पिता का प्यार बरसने लगा।

यों सुशीला के प्रति भी माता-पिता के मन में स्नेह की कमी नहीं थी। सुमति अपने से छोटी पुत्री सुशीला के प्रति भी पूरी ममता रखती थी। सुशीला के विधवा होने पर सुमति को बहुत दुख हुआ और उसके मधुर भविष्य की कल्पना करनेवाली मां के होंठों से हंसी गायब हो गयी। उसका हर प्रयत्न रहता कि लड़की को कोई बात चोट न पहुंचा दे। सुशीला ने भी अपनी मां के इस सद्भाव को अनुभव किया और मां के व पुष्पा के प्रति उसका प्यार भी दिन-ब-दिन बढ़ने लगा।

हमारे धर्मशास्त्र संस्कृत में लिखे गये हैं और धार्मिक ज्ञान की गहनता तक पहुंचने के लिए संस्कृत का अभ्यास आवश्यक है। धनसुखलाल ने सुशीला के संस्कृत अध्ययन के लिये एक प्रौढ़ विद्वान शास्त्री को नियुक्त किया जो वार त्यौहार पर घर आया करते थे।

ऐसा नहीं कि संस्कृत का अध्ययन व्यक्ति को सदा सात्विक ही बनाता है। हमारे धर्मशास्त्र संस्कृत में हैं, किंतु शृंगार साहित्य की भी संस्कृत में कमी नहीं है। भर्तृहरि के नीतिशतक और वैराग्यशतक का अध्ययन करनेवाले को पता चलता है कि उसी ग्रंथ में शृंगारशतक भी साथ ही है। नीतिशतक समाप्त करने से पहले ही विद्यार्थी बिना सिखाये ही शृंगारशतक को आद्योपांत समझ लेता है। संस्कृत साहित्य में वैराग्य के साथ-साथ विकार-पोषक तत्व भी मिल जाते हैं।

और संस्कृत साहित्यज्ञों की रसिकता किसी भी देश के रसिकों से कम नहीं। शुद्ध-अशुद्ध उच्चारणों द्वारा बढ़ाचढ़ाकर तत्वों का विश्लेषण करने वाले पंडित में किसी भी अंग्रेजी के विद्वान से कम रसिकता नहीं होती।

शास्त्रीजी प्रौढ़ वय के थे। और जो यह मानते हैं कि उम्र के बढ़ने के साथ-साथ रसिकता घटती जाती है, वे भूल करते हैं। बात इतनी सी है कि अपने

अनुभवों के कारण वे अपनी रसिकता पर अंकुश लगाये रहते हैं और समाज को भ्रम में रखकर गूढ़तापूर्वक अपनी रसिकता का उपयोग करते हैं।

शास्त्रीजी संस्कृत सिखाते कुछ खुलने लगे तो एक दिन सुमति ने धनसुखलाल से कहा :

"इस शास्त्रीजी को छुट्टी दो। सुशीला को इससे नहीं पढ़वाना है।"

"क्यों ?"

"जैसा मैं कहती हूं, वैसा करो न।"

"बिना कारण तो मैं उसे नहीं निकाल सकता।"

"अरे, वह तो बड़ा बुरा आदमी है।"

"बुरी होगी तू। बेचारे पवित्र ब्राह्मण को बदनाम करती है।"

फिर भी तीन चार दिन में ही शास्त्रीजी का घर आना बंद हो गया। उनकी जगह कालेज का एक विद्यार्थी सुशीला को संस्कृत सिखाने लगा। धनसुखलाल ने कालेज के एक प्रोफेसर से कहकर एक ऐसे युवक की मांग की थी, यह सोचकर कि व्यवहार पटु अनुभवी शास्त्री की अपेक्षा नयी उम्र का लड़का अधिक सभ्य सिद्ध होगा।

हुआ भी यही। यह विद्यार्थी बहुत ही संकोची था। आरंभ में तो अपनी समवयस्का युवती को पढ़ाने में संकोच की सीमा नहीं रही। वह शायद ही अपनी दृष्टि ऊपर उठाता था। सुमति भी कभी कभी वहीं बैठकर कुछ सीखने का प्रयत्न करती थी। एक बार उसने कहा भी :

"सुशीला। अपने ये छोटे मास्टर साहब तो लड़कियों से भी ज्यादा शरमीले हैं।"

किंतु ऐसे संकोची हृदय में ज्वालामुखी छिपा रहता है। उस विद्यार्थी का चरित्र सोने की तरह निर्मल था। संस्कार पवित्र और विचार क्रांतिकारी। अन्याय सहना उसके वश की बात नहीं थी। मनुष्य की निष्ठुरता देख उसका खून खौल उठता। और मनुष्य की मूर्खता उसे आग बबूला कर देती थी। एक आदर्श विद्यार्थी अपने अध्ययन द्वारा विचारों की जिस सीमा तक पहुंच सकता है, वह भी वहां पहुंच चुका था। उसे लगता था कि पूरे समाज में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

किंतु वह गरीब था। कम से कम बोलता था। पूरे कालेज में शांत विद्यार्थी के रूप में जाना था। कभी अपने घनिष्ठ मित्रों के बीच उसके मन की आग प्रकट हो जाती तो सभी देखते रह जाते थे। वह व्यक्तिगत संपत्ति पर व्यंग्य करता, विवाह की संस्था को वह मूर्खता कहकर भयंकर प्रहार करता, वर्तमान शासन के प्रति वह तिरस्कार प्रकट करता और धर्म को वह टांड पर चढ़ा देने योग्य व्यर्थ सामान कहा करता था। दूसरे ही क्षण वह अपने मित्रों के साथ किसी बच्चे की तरह सहज व्यवहार करने लग जाता। सभी उसे बच्चा ही मानते और उसकी मान्यताओं को बच्चों की सी अस्थिरता की संज्ञा देकर रस लेते थे।

ऐसे युवक के प्रति सुशीला और सुमति की सद्‌भावना होना स्वाभाविक ही था। किंतु एक दिन धनसुखलाल ने गुस्से में आकर कहा :

"मुझे ऐसा नादान लड़का नहीं चाहिए। कल से तुम्हारे मास्टर की छुट्टी।"

"आखिर ऐसी बात क्या हो गयी।"

"पता है, लोग क्या कहते हैं।"

"लोग तो निठल्ले हैं। उनका क्या है ? बेचारा लड़का कभी आंखें उठाकर तो देखता नहीं।"

लोगों ने बातें बनाना शुरू कर दिया था। शास्त्री में उन्हें कोई बुराई नजर नहीं आयी थी क्योंकि समाज के सामने वह धार्मिक व्यक्ति था। परंतु यह अनजान लड़का उनके लिए वांछित नहीं था। समाज ने एक निश्चिय करके धनसुखलाल तक अपनी बात पहुंचा दी।

समाज के इस अन्याय के कारण सुशीला का मन उस विद्यार्थी के प्रति और भी विचलित हो गया। सृष्टि के आरंभ से ही यह नियम चला आया है कि वर्जना के विरुद्ध मार्ग पर मनुष्य अवश्य ही अग्रसर होता है। अब सुशीला और वह विद्यार्थी एक दूसरे के अधिक निकट खिंचने लगे। सुमति को भी इस आकर्षण का आभास नहीं हुआ।

26. क्या यह पाप है ?

कथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरूषः
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।

——श्रीमद्भगवतगीता

कभी भी अपनी दृष्टि ऊपर न उठाने वाला विद्यार्थी एक दिन सुशीला की मां के सामने जा खड़ा हुआ। उसके चेहरे पर उग्रता और कशमकश थी। सुमति को लगा, उसे कुछ विशेष कहना है।

"क्यों, पढ़ा आये ?"

"आपसे एक प्रार्थना करनी है।"

"कहो, क्या बात है ?"

"आप मुझे सुशीला से विवाह करने की आज्ञा दीजिये।" अपने पूरे मनोबल को एकत्र कर विद्यार्थी ने संक्षेप में बात कह दी।

मां के हाथ से नन्हीं पुष्पा का झबला गिर गया। उसकी भौंह सिकुड़ गयीं। उसने क्रोध में भर कर कहा :

"इसी समय यहां से निकल जाओ——निकलो।"

विद्यार्थी खड़ा रहा। विधवा को विवाह का अधिकार देने के सिद्धांत को अपना आदर्श माननेवाला विद्यार्थी भूल गया कि विधवा को विवाहित देखने की अपेक्षा उसके माता-पिता उसे मृत देखना अधिक पसंद करते हैं।

विद्यार्थी बोला :

"इसमें सुशीला……"

"मुझे एक अक्षर भी नहीं सुनना। जाते हो या नहीं ?"

नीचे से धनसुखलाल की आवाज सुनाई दी।

विद्यार्थी कुछ सहमा । मां ने कहा :

"उन्हें पता चला तो तुम्हें यहीं मार डालेंगे । सुशीला सहित ।" विद्यार्थी सच-मुच डर गया । अपने लिए नहीं, सुशीला के लिए । सुशीला को उसके पिता मार डालें तो ? अभी भारत में जातिवाद की जड़ें इतनी मजबूत हैं कि जरा भी स्खलन अक्षम्य अपराध माना जाता है । विधवा विवाह तो वर्जित है ही, पुनर्विवाह के लिए तैयार बहनों और पुत्रियों को तलवार के एक झटके से टुकड़े कर देनेवालों की भी कमी नहीं है । विद्यार्थी इस सचाई से अनभिज्ञ नहीं था । वह वहां से लौट गया । माता-पिता की सम्मति न मिलने पर सुशीला को भगा ले जाने का उपाय सोचते हुए वह फिर कभी इस घर में आने की आशा लिये लौट गया ।

धनसुखलाल ने ऊपर आकर पत्नी का क्रोध से तमतमाया मुख देखकर प्यार से पूछा :

"क्या बात है ? क्या हुआ ?"

विवेक और मर्यादा के पक्षधर धनसुखलाल अकेले में अपनी पत्नी से सटकर ही बैठते थे और कभी भी उसे कोई कटु बात नहीं कहते थे ।

"होना क्या था । इस पढ़ाई-लिखाई को आग लगाने जैसी बात हो गयी ।"

"कौन-सी पढ़ाई-लिखाई ? क्या बात है आखिर ?"

"वही मास्टर । हम तो समझे थे कि बेचारा बच्चों जैसा है, भोलाभाला । पर वह तो पूरा मक्कार निकला ।"

"मैंने क्या कहा था । उस शास्त्री को आने देते तो ··· ···।"

"भाड़ में जाय तुम्हारा शास्त्री । सभी मर्दों के यही हाल हैं ।"

समस्त पुरुष जाति पर इन दोषारोपण करनेवाली पत्नी अपने पति को भी आरोप की परिधि में घेर रही है, यह अनुभव करते हुए धनसुखलाल ने पूछा :

"पर कुछ बताओगी भी, आखिर हुआ क्या ?"

"उस मास्टर को सुशीला से ··· मुआ ··· मुझे तो बोलते भी लाज आती है ··· विवाह ···"

"हैं ! क्या कहा? उस हरामखोर को आज ही जिंदा गाड़ के रहूंगा ।" धनसुख-लाल क्रोधावेश में चिल्लाये । पूरा मकान थर्रा उठा । वे भूल गये थे कि स्वयं उन्होंने दूसरी बार विवाह किया था और अपनी बेटी का दूसरा विवाह चाहने-

वाले विद्यार्थी को उन्होंने इतना बड़ा अपराधी मान लिया। उन्होंने कालेज तथा अन्य सभी संभावित स्थानों पर उस विद्यार्थी की खोज करवायी ताकि मिलने पर उसे भयंकर सजा दी जा सके।

सुशीला की पढ़ाई एकदम बंद हो गयी। माता-पिता सुशीला के सामने ही उस विद्यार्थी की नीच पाशविकता के प्रति जब तब कड़वी बातें कहा करते थे, यह मानकर कि उसमें सुशीला की सहमति रही होगी, किंतु सुशीला के मन में विद्यार्थी के प्रति वैसी कोई बात नहीं थी। वह अकेले में रो रोकर अपने भाग्य को कोसती। समाज व्यक्ति के भाग्य का बहुत बड़ा निर्णायक है। एक तरह से साक्षात ईश्वर वही है। इस दृष्टि से यह पूछना भी पाप माना जाता है कि समाज को उस सबका कोई अधिकार है भी या नहीं। यदि उसी समाज ने पुरुष व नारी के लिए अलग-अलग नियम न बनाये होते तो क्या सुशीला के लिए आवश्यक था कि वह स्वयं को अपराधी माने ?

कुछ दिन सुशीला उदास रही। कई बार रोने लगती। धनसुखलाल और उनकी पत्नी को इसमें कुछ विचित्र नहीं लगा। अपने माता-पिता के व्यवहार के कारण सुशीला का मन छलनी हुआ जाता था। उसे उस विद्यार्थी शिक्षक के परिचय के बाद ही पता चला था कि उसके भी हृदय है और अब यह जानने के बाद तो हृदय का घाव और भी गहरा उठा था। लेकिन विद्यार्थी फिर कभी दिखाई नहीं दिया।

जब सुमति ने देखा कि काफी दिन बाद भी सुशीला का मन शांत नहीं हुआ है तो उसे चिंता होने लगी। एक दिन उसने पूछा :

"सुशीला, सारे दिन रोती क्यों रहती है ?"

सुमति को क्या पता था कि वह दिन भर ही नहीं, रात में भी रोती है : सुशीला ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह और भी अधिक सिसकने लगी। मां अपनी दुखी बेटी का सिर कंधे से लगाकर उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगी।

जीवन की भी सीमाएं होती है। हंसते समय मनुष्य चाहता है कि जीवनभर क्या इसी प्रकार हंसते नहीं रहा जा सकता ? और दुख से बिंधने पर मन होता है कि जीवनभर यूं ही रोते रहा जाय तो कैसे ? किंतु आखिर आंसू थमते ही हैं। सुशीला रोती रही। मां ने उसके आंसू पोंछे। बोली :

"सुशीला। ऐसे कैसे चलेगा ?"

सुशीला ने आंख खोलकर मां की ओर देखा। दृष्टि में सारी सृष्टि के प्रति वैराग्य था और सुंदर मुख पर छायी विषाद की बदली देखकर मां का मन कचोट उठा :

"कैसी सूज गयी हैं, आंखें, मेरी बेटी की।"

और उसने सुशीला को छोटी-सी बच्ची की तरह चूम लिया।

सुशीला बोली :

"मां मुझे जहर ला दो।"

मां ने चौंक कर सुशीला की ओर देखा। चेहरा एकदम बदल गया था। वह महीने भर से रो रही थी। दुखी थी। आशा की कोई किरण उसके जीवन में शेष नहीं थी। फिर भी सुशीला के चेहरे पर कोई प्रकाश पुंज छाया था।

"काहे के लिए ?"

"मौत बिना कहीं चैन भी तो नहीं।"

'बहुत हुआ। पागल नहीं बनते।"

"नहीं दोगी तो मैं जीभ काटकर मर जाऊंगी।"

"क्या कह रही है तू यह सब ?" मां घबरा गयी थी।

"सच्ची कह रही हूं।" कहकर सुशीला ने निश्वास छोड़ा। निश्वास ने उसके सर्वांग को हिला दिया। मां ने देखा। एकाएक मां के मस्तिष्क में बिजली कौंधी। उसे लगा कि सुशीला के तन पर मातृत्व की रेखा खिंच चुकी है।

यह समझते ही जैसे उस पर बिजली गिरी। कुछ देर तक तो उसे जैसे होश ही नहीं रहा। क्या करे, ··· क्या न करे ? यह घर ··· इसकी इज्जत ··· पति ··· बेटी ··· प्यारी बेटी ··· किंतु सौतेली ··· ओफ ···। वह भागकर अपने कमरे में जा गिरी।

क्या हो गया यह ? कमबख्त मास्टर ···। उसने जीभर कर मास्टर को मन ही मन गालियां दीं। दोष भले ही पुरुष का हो मगर सहन तो नारी को करना पड़ता है। मास्टर का तो क्या है। भाग जायेगा कहीं। और वह भागे या नहीं ··· चार दिन तक उसे गाली देने के अलावा उसका बिगाड़ा भी क्या जा सकता है ? यहां तो धनसुखलाल के धर्मनिष्ठ, प्रतिष्ठित कुल की सात पीढ़ियों को कलंक लग रहा है। इससे कैसे मुक्त हुआ जाय ? अब मां को सबसे अधिक चिंता इस बात की हुई

कि इस बात की दुनिया को खबर न हो, उसके लिए क्या किया जाय ? कैसे किया जाये ?

"तुम सब कर क्या रहे हो ? धनसुखलाल आये और चिढ़कर बोले।

पति की आवाज सुनकर पत्नी घबरा गयी। इन्हें पता चल गया तो ? ··· इन्हें पता चल गया होगा तो ?

"उधर सुशीला बैठी-बैठी रो रही है। यहां तू मुंह चढ़ाये बैठी है। लड़ाई तो नहीं कर बैठीं ?" आज तक सौतेले संबंध को भी मधुर बनाये रखने में सफल धनसुखलाल को डर लगा।

"वह बेचारी कभी लड़ सकती है ?" सुमति ने कहा।

"तो तू लड़ी होगी ?"

"हां मेरी सौतेली बेटी जो है।" सुमति का मातृत्व भभक उठा। उसे पीड़ा हुई कि सुशीला उसकी अपनी बेटी क्यों नहीं है।

"मैं कब यह कह रहा हूं ? यह तो एक को रोते और दूसरे को मुंह चढ़ाये देख कर पूछ लिया।"

"हम लड़ेंगी तो भी तुम्हारे पास फरियाद लेकर नहीं आयेंगी। समझे न ?"

"पर क्या हुआ है, कुछ कहोगी भी ?"

"होता क्या ? एक किताब पढ़ते-पढ़ते दोनों को रोना आ गया।"

"तो ऐसी किताब पढ़ती ही क्यों हो ?"

"आखिर सारे दिन करें भी क्या ?"

"दो घड़ी माला फेरो, पूजा करो, गीता पढ़ो।" सुमति पति की सलाह सुनती रही। उसे पता था कि भोग-विलास में लिप्त यौवन माला फेरते हुए ऊंघने लग जाता है। क्या धर्म द्वारा ऐसा भी संभव है कि शरीर की असह्य तृष्णा छिपायी जा सके ? धर्म तो भोग-विलास से दूर रहने को कहता है। पर यह संभव कैसे हो ? जो बात पति से आज छिपायी है, उसे हमेशा कैसे छिपाया जा सकेगा ? अगर उन्हें पता चला तो जहर देकर मार ही डालेंगे—सुमति यह सोचकर कांप उठी।

बेचारी सुशीला। उसने पूर्व जन्म में ऐसे कौन से पाप किये थे कि विधवा हो गयी। विधवा के दुखों की सीमा ही नहीं है क्या ? जिस क्षण सृष्टि के अणु अणु से

सौंदर्य छिटक रहा हो, विधवा की आंखे फोड़ दी जानी चाहिए। जिस क्षण पृथ्वी का रोम रोम संगीत की लहरों पर नाच रहा हो, विधवा के पांव बांध देने चाहिए। जिस क्षण मन सपनों में डूबने लगे, उस क्षण उसके हृदय में अपने ही हाथों खंजर घोंप देना चाहिए। विवाहित जीवन······यानी भोग विलास का परवाना। और वैधव्य यानी जीवन का श्मशान। आखिर क्यों ? विवाह की छाप पर ही स्त्री व पुरुष का संबंध पवित्र और मान्य माना जाता है। लेकिन बाल विधवाओं को इस विवाह से वंचित रखने में कौन सा न्याय है ? कौन सी मानवीयता है ? समाज विधवा के अंग-अंग को कुचल देता है। यदि वह अंग तड़पता है, अन्याय की चक्की से अलग हटता है तो समाज उसे पाप मानकर शोर मचाने लगता है। आखिर क्यों ?

क्या यह पाप है ?

या कि सृष्टि की रचना करने वाली महासामर्थ्य को कागज की परत से दबा रखने के सामाजिक प्रयत्न का प्रत्याघात है।

27. समाज का बलिदान

मुझे विषैले नागों ने डस लिया है,
साधु ! तुम उनका जहर कैसे उतारोगे ?
मुझे गहरे अचूक बाणों ने बींधा है,
साधु ! तुम मन के घावों को कैसे भरोगे ?

—न्हानालाल

हिंदू समाज की कितनी माताओं ने अपनी विधवा पुत्रियों के लिए इस प्रकार चिंता नहीं की होगी ? कोई मां शायद बहुत स्पष्ट रूप में इतनी बारीकी से इस प्रकार न भी सोचे किंतु इस प्रकार की परिस्थिति में पड़ी पुत्री की रक्षा हर मां करती है। सृष्टि में कोई भी तो पाप ऐसा नहीं है जिसे कोई मां क्षमा न कर सके।

और ऐसा कौनसा मनुष्य है जो पापी को पापी कहने की स्थिति में हो ? क्या कोई ऐसा है जिसने जीवन भर कोई पाप किया ही न हो ? यदि ऐसा है तो वह अवश्य पापी पर फेंकने के लिए पत्थर उठा ले। पापी से घृणा करने का अहंकार करने वाला स्वयं महापापी है। सुमति, जैसे जैसे सुशीला के विषय में सोचती, उसके मन में सुशीला के प्रति ममता बढ़ती जाती। धीरे-धीरे उसने उस विद्यार्थी को भी कोसना बंद कर दिया।

अवसर आने पर अनुभवहीन भी हर समस्या को कुशलतापूर्वक निभा ले जाता है। सुमति सुशीला को अपनी गोदी में लिटाकर उपाय खोज रही थी। क्या किया जा सकता है ? कौनसा आसान से आसान तरीका हो सकता है इस सबसे बचने का ? क्या सुशीला को जहर खिलाकर मार डाला जाय ?

हाय ! इससे अच्छा तो मैं ही न मर जाऊं ? ममतामयी मां यह सोचते ही कांप उठी और उसने सुशीला को और भी जोर से अपने अंक में खींच लिया।

वह उसके सिर पर हाथ फेरने लगी। तभी छोटी-सी पुष्पा खेलते-खेलते वहां आ पहुंची।

बोली : "मां मैं भी गोदी में बैठूंगी।"

"देखा न, कैसी ईर्ष्यालु है। सुशीला को गोदी में सुलाया तो जैसे जल मरी ?" सुमति ने कुछ हंसकर और कुछ डांटकर कहा। बच्ची अपने प्यार का बंटवारा कैसे सहती ? मां की गोदी में घुसते हुए उसने कहा :

"पर दीदी मेरे जितनी छोटी है क्या, जो गोदी में सो रही है ?"

इस तर्क का कोई उत्तर नहीं था।

"ले भाई, तू सो जा मां की गोद में।" सुशीला ने हटने का उपक्रम करते हुए कहा।

"ना ना, तू लेटी रह। अभी तो चुप हुई है। फिर रोने लगेगी।" सुमति ने सुशीला को रोकते हुए कहा।

"अरे मां, दीदी रो रही थी ? इतनी बड़ी होकर गोदी के लिए रोती है दीदी ?" पुष्पा को क्या पता कि मां की गोदी तो मरने तक भी सभी को मीठी लगती है। सुशीला और सुमति हंसने लगीं।

"जा तू थोड़ी देर खेल न जाकर ?" सुमति ने कहा।

"मां, ऐसा करें—दीदी को तुम अपनी गोदी में सुला लो। मैं दीदी की गोद में बैठ जाऊंगी।"

महान समस्याएं बच्चों को सौंप दी जायें तो वे बड़े-बड़े विचारकों की अपेक्षा कहीं अच्छी तरह उन्हें सुलझा दें। सुशीला को पुष्पा की बात सुन इतना प्यार आया कि उसने उसे अपने अंक में खींच लिया।

सुमति ने चित्र खींचा : सुशीला मेरी गोदी में और पुष्पा सुशीला की गोदी में। …मां का वात्सल्य तो ऐसा स्रोत है जो कभी सूख ही नहीं सकता। एक मां अनेक पीढ़ियों की मां बन सकती है, सभी को अपने अंक में समा सकती है।

सुमति ने निश्चय किया, 'सुशीला को कुछ भी नहीं होगा।'

तो अब क्या उपाय है ? सुशीला के अजन्मे बालक को समाप्त करना होगा ? कैसे ?

समाज जिसे कलंक कहता है, उससे बचने के लिए मनुष्य कितने-कितने पाप

कर बैठता है ? जन्म से पूर्व ही भ्रूण-हत्या का उपक्रम किया जाता है। फिर भी वह जन्म ले ले तो उसका गला घोंट दिया जाता है। सुमति को पुष्पा का ध्यान आया। कोई पुष्पा का गला घोट दे तो ?

उसकी आंखें फट गयीं। खुद भले ही मर जाय, पुष्पा के किसी को हाथ भी नहीं लगाने देगी। तो फिर सुशीला के बच्चे को ही क्यों मरने दिया जाय ? उस बच्चे का क्या अपराध ? पुष्पा को जीवन का अधिकार क्यों है और सुशीला के बच्चे को मरना ही क्यों चाहिए ? क्या मात्र विवाह की मुहर के कारण ? यह कौन-सा न्याय है ?

नहीं, सुशीला के बच्चे को भी कुछ नहीं होगा। सुमति ने निश्चय किया।

इस निश्चय ने उसे एक नयी शक्ति से भर दिया। हंसती-खेलती अनुभवहीन सुमति एकदम बुजुर्ग हो गयी। वह चतुर बन गयी, कपट, झूठ उसके आचरण में समा गये। अपनी पुत्री की मर्यादा और जीवन रक्षा के मोहवश धोखा देने की तैयारी की। वह सुशीला को हर संभव प्रयत्न द्वारा पति की आंखों से परे रखती—दुनिया की आंखों से परे रखती।

सबसे अच्छा तरीका था कि सुशीला का उस विद्यार्थी से विवाह करा दिया जाय। वैसा संभव न हो तो उस नाजायज बच्चे को स्वीकार किया जाय। किंतु इस समाज में रहकर तो दोनों ही बातें संभव नहीं थीं—आखिर सुमति क्या करे ? सोचते-सोचते सुमति के आंखों के गिर्द काली झांई पड़ने लगीं। उसके बाल सफेद होने लगे।

उसने धनसुखलाल को जैसे-तैसे तैयार करके लंबे समय के लिए यात्रा और व्यापार के लिए बाहर भेज दिया। पुष्पा के जन्म के समय आने वाली दाई को पैसा देकर तैयार किया। एक पुराने नौकर को भी विश्वास में लेकर पैसे से उसका मुंह बंद किया। फिर उस अवांछित बालक को एक टोकरे में लिटाकर पर्याप्त धनराशि और अन्य आवश्यक वस्तुओं सहित किसी दूरस्थ बस्ती के अंधेरे कोने में रखवा दिया। जब सुशीला काफी स्वस्थ होकर घूमने फिरने लगी, तभी आसपास वालों को पता चला कि पिछले दिनों वह अस्वस्थ रही थी।

मातृत्व और पितृत्व जितना गहरा संबंध सृष्टि में कोई नहीं होता, भले ही उस संबंध पर विवाह की छाप लगी हो या नहीं। एक दिन सुशीला ने पूछा :

"मां। उसका क्या किया ?"

सुमति सुशीला का आशय समझ गयी। बोली :

"अब तू इस बात को भूल ही जा, जैसे कभी कुछ हुआ ही नहीं था।"

"कोशिश तो करती हूं पर उसका चेहरा आंखों के सामने घूमता ही रहता है ?"

"देख सुशीला, मुझसे कुछ मत पूछ और अब समझदारी से काम ले।" सुमति स्वयं भी बच्चे को भुला नहीं पाती थी।

"बस मां मुझे इतनी-सी बात बता दे कि उसका क्या किया। फिर कभी कुछ नहीं पूछूंगी।"

"उसे जीवित ही रखवाया था। बस ?"

परंतु मातृत्व में ऐसी कोई सीमा नहीं होती जिसे बस से बांधा जा सके। कुछ ही दिन बाद सुशीला ने फिर बात उठायी।

"मां। गुस्सा न हो तो एक बात पूछूं ?"

स्वयं भुलाने में असफल सुमति उसका आशय समझ गयी। आंख दिखाकर बोली :

"खबरदार जो अब कोई बात की। पता नहीं कब अक्ल आयेगी इस लड़की को।"

"अच्छी बात है, नाराज मत हो। अब मैं कुछ नहीं पूछूंगी।"

"हां, ऐसे समझ से काम लेते हैं।"

"बस मां, इतना बता दे कि उसे कहां रखा था ?"

"देख सुशीला ! मुझसे कुछ मत पूछ। मुझे कुछ पता नहीं।" फिर भी सुशीला को उसने टुकड़ों टुकड़ों में यह बात बता ही दी कि किस प्रकार दाई बच्चे को काफी रुपयों सहित एक टोकरे में शहर से बाहर रख आयी थी।

"किस ओर रखा होगा ?" परंतु सुमति ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया।

'उसका क्या हुआ होगा ?' उस नामहीन शिशु की चिंता में डूबी सुशीला फिर एक दिन पूछ बैठी।

"ईश्वर उसकी रक्षा करे। हम जिसे मारना चाहते हैं न, भगवान उसे बचा ही लेता है।"

"हैं? तब तो वह जिंदा होगा?"

"हां।"

"मैं देख नहीं सकती?"

"भाग यहां से। नालायक को जरा भी शर्म नहीं आती।" अब सुशीला ने उस दाई को फुसलाना शुरू किया। दाई को सख्त हिदायत थी कि सुशीला को कुछ नहीं बताना है। किंतु नम्रता से और कुछ पैसे देकर सुशीला ने उससे इतना जान ही लिया कि अछूतों की बस्ती की ओर जाने वाली पगडंडी के पास ही उसने बच्चे को रखा था। रास्ते में कोई नहीं मिला पर उस बस्ती की गली तक पहुंचते ही दूर से कोई आता दिखाई दिया था, अतः वह घबराहट में बच्चे को वहीं छोड़कर भाग आयी थी। इससे अधिक उसे कुछ पता नहीं था।

अब सुशीला इस उलझन में फंसी कि अछूत बस्ती में कैसे जाये? उसने उन दिनों के पुराने अखबार निकाल कर पढ़ने शुरू किये, शायद उनसे पता चल सके। किंतु उसका वह प्रयास असफल रहा।

पिता नगरपालिका के सदस्य थे। किंतु अछूत और भंगियों की बस्तियां अलग थीं, अतः उनसे भी किसी तरह कुछ जान पाना संभव नहीं था। आखिर यही लगा कि बिना स्वयं गये, कुछ पता लगाना असंभव था। और एक वैष्णव लड़की का उस बस्ती में जाना उससे भी अधिक असंभव। कई बार घूमने निकलने पर उस बस्ती की ओर मन खिंचने लगता। किंतु गाड़ीवान को उधर जाने का कारण बताया जाय? उस मोहल्ले की सीमा पर ही उसे रुक जाना पड़ता।

एक बार साहस करके उसने पिता से कहा :

"इन बेचारे अछूतों के साथ बहुत अन्याय होता है। बड़े लोगों को कुछ करना चाहिए।"

सुमति ने घूर कर सुशीला को देखा। धनसुखलाल बोले :

"इन झंझटों में तू मत पड़। बहुतों ने ठेका लिया है। वे ही अछूतों के साथ खायेंगे-पीयेंगे और अछूतों का उद्धार करेंगे। यह सब हमारा काम नहीं है।"

सुशीला ने चुपचाप निश्वास छोड़ा। अछूत को छूने मात्र से ही भ्रष्ट होने वाले

पिता का दौहित्र किसी अछूत के ही घर में पल रहा होगा। तो ?

घर के पास से जब भी कोई निम्नवर्ग की स्त्रियां निकलतीं—सुशीला बात करने का प्रयत्न करती। कभी कोई अछूत स्त्री नहीं मिली। एक दिन कुछ मज-दूरिनें उनके यहां लकड़ियां डालने आयीं। अधिकांश मजदूरिनें घर के अंदर ही लकड़ियां डालती थीं, किंतु इन्होंने लकड़ियां बाहर ही डाल दीं। सुशीला बोली :

"बाहर क्यों डाल रही हो ? अंदर डालो।"

"हम घर में कैसे आवें ?"

"क्यों ?"

"हम अछूत हैं।"

"अछूत नाम सुनकर सुशीला चौंकी, "हमेशा तो कोली, मोई वगैरह जात की मजदूरिनें आती हैं। आज अछूत कैसे ?"

"दुकानदार से उनका झगड़ा हो गया सो आज हमें बुलाया है।"

"कितनी मजदूरी मिलती होगी तुम्हें ?"

"इतनी भारी का आधा आना देता है दुकानदार।"

"बस ? इतने में कैसे चलता है ?"

"ज्यादा फेरी लगा लेते हैं। घर में करघा चलता है ?"

"काम चल जाता है ?"

"और क्या ? और काम नहीं चले तो भी क्या ? गरीब के बच्चों को सर्दी गर्मी तो लगती नहीं न ?"

"तुम्हारे बच्चे हैं ?"

"भगवान ने एक दिया है।"

"बड़ा होगा।" मजदूरिन की आयु का अनुमान कर सुशीला बोली।

"नहीं रे माई। तीनेक महीने का है।"

"और अभी से तू मजदूरी करने निकल गयी ?"

"लड़का मेरा है, पर है वह मेरी लड़की का लड़का और हमारा क्या है ? हम तो चार पांच दिन में ही काम करने लगते हैं।"

"वह तेरी लड़की के पास नहीं रहता ?"

"मेरी लड़की नहीं है। होती तो लड़का मेरे घर आता ?"

"अपना लड़का मुझे नहीं दिखायेगी ?" डरते डरते सुशीला ने पूछ लिया।

"अरे मां हमारे लड़कों में देखने जैसा क्या है ?"

"अरे तेरा किशन तो नजर लगने जैसा ही है।" दूसरी स्त्री बोली : "कभी भी तो वाहर नहीं निकालती उसे।"

"ऐसी तो कोई बात नहीं। इनके जैसी पुण्यशाली की नजर पड़े तो लड़के का जन्म ही सुधर जाय।"

"तो उसे जरूर लाना।"

"भगत से कहूंगी। उन्हें बहुत प्यारा है।"

"कौन भगत ?"

"मेरे घरवाले। भजन गाते हैं और छोटे से किशन को खिलाते रहते हैं। भगवान का नाम मुंह से निकलता रहे इसलिए उसका नाम किशन रखा है।"

"तेरा आदमी भजन भी गाता है ?"

"हां बहन। उनके भजन सुनकर तो कइयों ने शराब और मांस छोड़ दिया। कई लोग धन्ना भगत को भजन सुनाने बुलाते हैं।" साथ-वाली औरत ने धन्ना भगत का पूरा परिचय दिया।

"तब तो धन्ना भगत को जरूर भेजना। किशन को भी। मैं झबले दूंगी।"

इस प्रकार सुशीला का धन्ना भगत और किशन से परिचय हुआ। देखने से पूर्व ही उसने अनुमान लगा लिया था कि किशन उसी का लड़का है। देखने के बाद तो उसे मोह हो आया।

सुशीला भजन सुनने के बहाने धन्ना भगत को बुलवाती थी, इसमें धनसुखलाल को कोई आपत्ति नहीं थी। वह चौंतरे से नीचे बैठकर भजन सुनाते और सभी चौंतरे पर या छज्जे पर बैठकर भजन सुनते। धीरे-धीरे भगत को चौंतरे पर बैठने का सम्मान मिलने लगा।

अब सुशीला का मन सब ओर से हटकर इंद्रिय-निग्रह की ओर ही बढ़ रहा था। इसके चार पांच वर्ष बाद सुमति का भी स्वर्गवास हो गया।

मरने से पूर्व वह बोली थी :

"सुशीला। तू है तो मरते हुए दुख नहीं होता।"

"कैसी बात कर रही हो ? किसने कहा कि तू ठीक नहीं होगी ? ऐसी बात नहीं सोचते मां।" सुशीला ने कहा।

"मैं समझ रही हूं बेटी। छोड़ यह सब। पर एक बात याद रखना। आज नहीं, चार वर्ष बाद सही, मैं न रहूं तो पुष्पा को संभालना। उस दिन की बात याद है न ? तब से यह तेरी ही गोद में है।"

पुष्पा को सुशीला ही संभालती थी। पुष्पा भी मां की अपेक्षा सुशीला की ही सिर चढ़ी थी। फिर भी मां मरते समय पुष्पा को सुशीला के हाथ सौंप गयी थी। सुमति की मृत्यु के बाद सुशीला के मन में घोर वैराग्य छा गया। उसका समय किसी तपस्विनी की तरह बीतने लगा। बस दो ही प्राणियों को देखकर उसकी ममता फूट निकलती : पुष्पा और किशन।

यों कभी-कभी वह भुला दिया गया शिक्षक भी पूजा के चंदन की गंध से प्रकट होकर चुपचाप सामने देवता के आसन पर जा बैठता था।

दो वर्ष बाद सुशीला ने अखबारों में पढ़ा कि शहर में एक जनार्दन नाम के साधु पुरुष ने आश्रम की स्थपना की है। सुशीला ने सोचा : पुष्पा को उस आश्रम में भेजना चाहिए। कभी-कभी उसकी इच्छा होती कि किसी प्रकार एक बार उस जनार्दन को देखे किंतु शीघ्र ही वह अपनी इच्छा का गला घोंट देती। पर आज जब वह घायल अवस्था में उसके घर आ गया था, तो वह अपने मन को उसे देखने से कैसे रोकती ? उसने चारपाई पर पड़े जनार्दन को देखा और पहचाना। यही है वह शिक्षक--विद्यार्थी। उसका नाम भी जनार्दन था--यह सुशीला कैसे भूल सकती थी ?

सुशीला के पैर जैसे एक-एक मन के होकर वहीं गड़ गये। पंद्रह वर्ष तक उसकी नींद और उसके ध्यान को स्खलित करनेवाला मुख आज फिर दिखाई दे गया था।

28. घायलों का मेला

पहाड़ों में मोर बोल रहे हैं,
मोरनी टहुक रही है ।
मेरे मन में हूक उठती है,
और जीवन पेंगें लेने लगा है ।

——न्हानालाल

जनार्दन ने आंखें खोलीं । कोई योगी जैसे ध्यानावस्था में अपने भूतकाल को देख रहा हो । परिचित स्थान और पास ही बैठी एक नारी-मूर्ति ।

"काम, क्रोध, लोभ को खत्म कर दिया ..."

धन्ना भगत के भजन की पंक्ति अब भी उनके कानों में गूंज रही थी। देह से मुक्त आत्मा अपने भूमिशायी शव को तटस्थ भाव से देख रही है । मात्र इतना ही ध्यान था कि यह शरीर कभी उसका था । अब उसका दैहिक कर्म के साथ कोइ संबंध नहीं था । उस शरीर को गाड़ें या जला दें, उसे चिंता नहीं थी ।

उसने क्या कोइ पाप किया था ? वह अपने कार्य को कभी भी पाप की संज्ञा नहीं दे पाया था । ईश्वर ने पुरुष और नारी को एक दूसरे के लिए बनाया है। उनमें पारस्परिक आकर्षण अवश्यंभावी है। तो उस आकर्षण के स्थूल आविष्कार में पाप कैसा : क्यों समाज इसके बीच में दीवार बनने आता है ? क्यों वह कठोर नियम गढ़ता है ? और क्यों यह आग्रह करता है कि सब उन नियमों का पालन करें ?

और उसने सहज भाव से समाज के नियमों का उलंघन किया था । किंतु उसने देखा कि समाज उतना कमजोर नहीं था जितना उसने समझ लिया था । वह उसके सिर उठाने पर डरकर पीछे हटनेवाला नहीं था । विवाह न हो पाने पर सुशीला को खुल्लमखुल्ला साथ ले जाने की उसकी इच्छा पूरी न हो सकी थी। सुशीला

के लिए घर छोड़ पाना संभव नहीं था। तव उसने सोचा कि सुशीला को चुपचाप साथ ले जायेगा। किंतु यह भी सरल नहीं था। घर, समाज और शासन अनिमेष चौकीदारी कर रहे थे। अब उसकी समझ में आया कि इस प्रकार के प्रयत्न में असफल होने पर उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। उसे अपनी मृत्यु की चिंता नहीं थी किंतु सुशीला की संभावित विपत्ति उसके लिए असह्य थी। लेकिन वह किसी भी प्रकार सुशीला को बचा नहीं सकता था। उसके हृदय में पश्चाताप की आग जलने लगी।

समाज की शक्ति का अनुमान लगाये बिना और परिणाम की भयंकरता को सोचे बिना अपनी साधनहीनता की स्थिति में उसने जो कार्य किया था, वह पाप चाहे न हो, भयंकर भूल तो थी ही। उसे वैसी भूल करने का अधिकार नहीं ही था। और भूल व पाप के परिणाम में कोई विशेष अंतर तो होता नहीं। तो क्या ऐसी भूल करना पाप नहीं है? भूल और पाप में कितना अंतर है? संकुचित दृष्टि में जिसे पाप कहते हैं उसे उदार दृष्टि में भूल कहा जाता है। वह पश्चाताप से जलने लगा। सारे समाज को भस्मीभूत करने के लिये योजनाएं वनायीं। फिर इस प्रकार की जो योजनाएं अस्तित्व में थीं उनका आश्रय लिया। उस संघर्ष के बाद भी उसने देखा कि वह दुनिया के क्लेश में ही वृद्धि किये जा रहा है। मनुष्य और मनुष्य, मनुष्य और समाज, वर्ग और वर्ग सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी कुटिलतापूर्ण युद्ध परंपरा में गुंथे हैं और इस युद्ध परंपरा से त्रस्त मानव समाज के प्रति उसके मन में करुणा उपजी। वह इस दिशा में जितना सोचता रहा, उसे लगता रहा कि समाज-सुधार के लिए युद्ध और हिंसा की जगह अहिंसा, शत्रुता की जगह प्यार और स्वार्थ की जगह परमार्थ ही वरेण्य है। उसने इस दिशा में यज्ञ आरंभ करने वाले गुजरात के महातपस्वी की प्रखर तपश्चर्या को भी देखा और इस मार्ग में उसके व्यथित मन को शांति मिली। लगा, इसी मार्ग पर चलकर वह अपनी भूल का प्रायश्चित कर सकेगा। और उसने उसी जगह से अपना प्रयत्न आरंभ किया जहां से उसका पहली बार समाज से विरोध हुआ था। और इस प्रयत्न में उसने देखा कि सुशीला को देखने के बाद भी उसमें किसी विकार ने जन्म नहीं लिया।

दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला। बोलने की इच्छा के बाद भी बोला नहीं

गया। शायद आस-पास घूम रहे व्यक्तियों के कारण दोनों ही चुप थे। वैसे अपने आप को ही दोषी ठहरा कर एक दूसरे को क्षमा करने के बाद एक बनकर रहने के लिए रचे जाकर भी समाज के कारण सदा के लिए अलग हो गये पुरुष और नारी पश्चाताप की अग्नि में तपकर एक दूसरे के सामने आ पहुंचे थे और इस समय उनके पास बोलने के लिए कुछ रह भी नहीं गया था।

कुछ क्षण दोनों एक दूसरे को टुकुर टुकुर देखते रहे। एक बार फिर पुरानी धड़कनों की आवाज सुनाई दी और वह धड़कन फिर संयमित हो गयी।

अपने पुत्र के पुलिस द्वारा पिटने पर बेहोश होने की सूचना पाकर नृसिंहलाल दौड़े आये थे। उन्होंने जनार्दन की भी कुशल पूछी, "तुम्हारे भी काफी लगी है।"

"कोई खास नहीं।" उत्तर देते हुए जनार्दन ने उठने की कोशिश की।

"नहीं––अभी उठो मत।" सुशीला ने कहा। ऋषि के तपोवन में कोयल कूकी। किंतु वह कोयल मन को देह की ओर ले जानेवाली नहीं थी।

जनार्दन फिर लेट गये। नृसिंहलाल बोले :

"यह क्या है ? पट्टा तो पगड़ी जितना बंधा है।"

"यही हमारी पगड़ी है। हां कंदर्प को देखा ? कैसा है ?"

"वह और अरुण दोनों पड़े हैं। समझ में नहीं आता, क्या करें ? इनका भाग्य।"

"आज तुम कहीं दिखाई नहीं दिये ?"

"मैं तो आज छुट्टी पर था।"

अपने ही पुत्र के सामने वे लाठीचार्ज कैसे करवाते ? अतः उन्हें किसी बहाने छुट्टी लेना ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ था। एक ओर इस घटना के बाद डिप्टी सुपरिंटेंडेंट का पद पाने का लोभ था किंतु दूसरी ओर पुत्र का ही सिर फोड़ने की आज्ञा देने वाला कर्तव्य। उन्होंने लोभ को त्याग दिया।

"अरे, आ तो जाते, आते तो हमारी अहिंसा को समझ पाते।"

नृसिंहलाल यह मानने को तैयार नहीं थे कि अहिंसा से कुछ भी संभव है। वे बोले :

"अब यह बकवास छोड़ो और भगवान का भजन करो तो तुम्हारा भी उद्धार हो और युवक भी कुछ पढ़ लिखकर धंधें से लगें।"

"मैं जो करता हूं, भगवान का भजन ही तो करता हूं।"

तभी धनसुखलाल वहां आ पहुंचे। नृसिंहलाल को देखते ही गरज उठे :

"यह कोई पुलिस है तुम्हारी ? इस तरह मारा जाता है ?"

"तब क्या करें ? भैया-बापू करने से ये लोग मानने वाले हैं ?"

"न मानें तो क्या मार ही डालना चाहिए ?"

"साहब आप ही बताइये न कि हम और क्या करें ? लाठी से नहीं मानें तो गोली भी चलानी पड़ सकती है।"

"सरकार की बुद्धि ही मारी गयी है। ऐसा करते क्यों हो तुम कि लोगों को तुम्हारा सामना करना पड़े ?"

"अब यह हमारा विषय नहीं। हम तो सिपाही भाई हैं। जो आज्ञा मिले, अमल करना पड़ता है।"

"हम तो पुलिस को दोष देते ही नहीं हैं।" बीच में जनार्दन बोले।

"अब यह माथाफोड़ी बंद करो ना। सारे फसाद की जड़ तो तुम ही हो। क्यों ये जुलूस निकालते हो ? आना जाना कुछ नहीं। ऊपर से मार खाकर बैठना है। अब ये धंधे बंद करो।" धनसुखलाल ने जनार्दन को डांटा।

"बंद नहीं करेंगे तो जेल जायेंगे।" नृसिंहलाल बोले।

"जेल वेल का डर अब बेकार है।" नृसिंहलाल की धमकी का उत्तर दृढ़ता-पूर्वक दिया विमोचन ने जो इधर आते हुए इनकी बातें सुन रहा था।

सभी की दृष्टि उसकी ओर घूमी। उसकी यही मान्यता रही थी कि वह जो बोलता या लिखता है, उसका प्रत्येक वाक्य दुनिया को संग्रह करके रखना चाहिए।

"कल तक तो तुम इनका विरोध कर रहे थे। आज कैसे बदल गये ?" नृसिंह-लाल ने चौंक कर पूछा।

"सत्याग्रह के इस शिष्ट प्रयोग को देखने के बाद किस सहृदय का मन आंदो-लित नहीं होगा ? आज सुबह से ही मेरा मन इस ओर पलट गया है।"

"अरे ये भाई कौन हैं ? क्यों इतना लंबा चौड़ा बोले जा रहे हैं ?" धनसुखलाल ने अपने परिचित लहजे में पूछा।

"ये हैं लेखक विमोचन। सुबह से ही सबकी देखभाल कर रहे हैं।" किसी ने परिचय दिया।

"और मैं अब डिंडिम बजाकर सबके सामने ऐलान करता हूं कि अब से हर

सप्ताह ध्वजवंदन हुआ ही करेगा।" कहकर विमोचन ने एक ओर दृष्टि घुमायी। दरवाजे में खड़ी रंजन ये बातें सुन रही थी।

कथनी करनी एकसी हो जायें तो कवि कैसा—वाली कहावत विमोचन पर सही उतरती थी।

"डिडिम क्या बला है?" धनसुखलाल ने पूछा।

रंजन ने नृसिंहलाल के पास आकर कहा :

"मेहरबानी करके आप कोई बात मत कीजिये। यहां का शोर अंदर आ रहा है। डाक्टर कह रहे हैं कि ये बातें सुनकर कंदर्प के सिर में फिर खून आने लगा है।"

"हैं?" कहकर घबराते हुए नृसिंहलाल दौड़े।

रंजन भी कंदर्प के पास जा बैठी। पर उसकी आंखें बार बार अरुण की ओर घूम रही थीं। बेहोश सैनिक अब होश में आने लगे थे। कई तो आरंभ से ही होश में थे। जिन्हें कम चोटें आयी थीं, उन्हें घर जाने की अनुमति मिल गयी थी। और धनसुखलाल व कृष्णकांत की कारें यह कार्य कर रही थीं। कई तो धक्का-मुक्की के कारण गिर पड़े थे और जल्दी में उन्हें भी घायल समझकर ले आया गया था। आधे से अधिक घायल घर जाने की स्थिति में थे।

नृसिंहलाल कंदर्प को ले जाने के लिए और सुरभि अरुण को ले जाने के लिए आग्रह कर रही थी किंतु धनसुखलाल अभी किसी भी घायल को ले जाने देने के विरुद्ध थे और उनसे कुछ कहने की हिम्मत किसी में नहीं थी।

"हमारी देखभाल में कमी लगती हो तो अपने अर्दली और भिजवा देना। तुम पुलिस अफसरों का क्या है? और तुम्हें आने में देर क्या लगती है? चार-बार ज्यादा दौड़ाना कार को। इस समय तो जितना मांगोगे, सरकार भत्ता देगी।"

सुरभि को उन्होंने धमकाया :

"तुम्हारे भाई को हम कोई कष्ट नहीं होने देंगे।"

"पर मेरा मन नहीं मानेगा न?" सुरभि ने कहा।

"तो तुम भी यहीं रह जाओ। हमारे यहां तुम्हारे साहबी शौक पूरे नहीं होंगे, इतनी-सी तो बात है।"

"सुरभि, मैं दो चार दिन में ठीक होकर आ जाऊंगा। परेशान होने की कोई

बात नहीं है।" अरुण ने कहा।

"और भाभी, मैं भी तो यहीं हूं।" रंजन ने कहा।

सभी रंजन की ओर देखने लगे। इस परंपरावादी घर में यह मेमों का-सा आचारण करनेवाली युवती चौबीसों घंटे कैसे रह सकेगी?

"इच्छा हो तो तू भी जा न? बीच-बीच में आती रहना। यहां तू हैरान हो जायेगी।" चुप रहनेवाली पुष्पा ने कहा।

"हैरान क्यों हूंगी? तुझसे सभी की पट्टियां नही बांधी जायेंगी। फिर बार-बार दवा पिलाना। और मैं तो दीदी जब भी कहेंगी नहाकर अबोट[1] पहन लूंगी।" रंजन की आवाज आयी?

"ओ हो हो…!" धनसुखलाल रंजन की इस बात पर हंस पड़े।

"उसे यहीं रहने दो बहू। दो मिनट भी शांति से बैठेगी नहीं और इसकी बातें भी पूरी नहीं होंगी। पुष्पा और सुशीला को भी अच्छा लगेगा।"

बात ठीक थी किंतु इस समय पुष्पा ने पिता के आग्रह में साथ नहीं दिया। उसने जरा तेज दृष्टि से रंजन की ओर देखा। रंजन ने भी मुस्कराते हुए पुष्पा के सामने देखा। ऐसा करते हुए दोनों सखियों ने सोचा, कहीं वे दुश्मन तो नहीं बन गयी हैं?

"मैं भी यहीं हूं। फिक्र मत करना।" विमोचन की आवाज आयी। साहित्यकार उर्दू फारसी के शब्दों को भी पूरी विशुद्धता से उच्चारित करते हैं। फिक्र को कोई फिकर कह दे तो उन्हें बहुत अखरता है।

"अरे, आप अपना अमूल्य समय यहां नष्ट क्यों करेंगे? घायलों की सेवा का काम स्त्रियों को सौंपिये और आप अपनी साहित्य सेवा कीजिये?" रंजन ने कहा।

"साहित्य सेवा बहुत की है। आज तक यही करता रहा हूं। अब कुछ देशसेवा भी कर लूं।"

"थोड़ा लिखकर भी बहुत मानने का आग्रह कई साहित्यकारों को होता है। हर माह एक कविता और एक लेख या कहानी लिखनेवाले भी अपने आपको पूरे गुजराती साहित्य को अमरत्व देने का अभिमान देने लगें तो उन्हें वैसा करने देना चाहिए। फिर विमोचन की तो कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। अनेक व्यक्ति

1. नहाने के बाद पूजा करने तक या खाना बनाने के लिये पहने जाने वाले रेशमी वस्त्र।

यह भी कहते थे कि उसने काफी साहित्यसेवा की है। ऐसे में उन सबको झुठलाकर अपनी साहित्यसेवा को कम बताने का प्रयोजन क्या और क्यों ? साहित्यकार कभी गलत नहीं बोलते।

रंजन समझ गयी कि साहित्यकार महोदय उसी को अपनी देशसेवा का जौहर दिखलाना चाहते हैं। देशसेवा भी कई कारणों से की जाती है। इसलिए स्वयंसेवकों की संख्या काफी बढ़ जाती है। चलो, मनोरंजन के लिए एक खिलौना ही सही––सोचकर रंजन ने विमोचन को यहां रहने दिया। पर आज उसे स्पष्ट आभास हुआ कि उसकी अपनी देशसेवा भी तो विशुद्ध नहीं थी। वह भी किसी व्यक्ति के कारण ही उधर खिंच रही थी।

29. आकर्षण

अधमिची पलकें गालों पर ढुलकती हैं।
आंचल बार बार उर प्रदेश को ढकता है।
किनारी को सकेर कर भुज लता फिसल
जाती है…………कोई रसिक शास्त्रीय-भाष्य-
कार इसका वर्णन नहीं कर पाता।

—न्हानालाल

इस सृष्टि का सनातन नियम है आकर्षण। ईश्वर की खोज में रत तपस्वी हो या देश के लिए मर मिटनेवाले वीर, किसी को आकर्षण के अस्तित्व को नकारने की आवश्यकता नहीं है। धर्म, देश, राजनीति, सभी कुछ बदल जाते हैं। किंतु हर परिवर्तन के बीच पुरुष और नारी का पारस्परिक आकर्षण यथावत् बना रहता है। इस आकर्षण पर ही मानव जीवन और संस्कृति आधारित है। यह आकर्षण ही घर, परिवार, समाज और राष्ट्र के अस्तित्व का आदिस्रोत है। यही सृष्टि की कविता है, दर्शन है और धर्म भी है। यह पशुता नहीं है, वरन् पशुत्व पर विजय पानेवाला कोमल अलौकिक भाव-बोध है। फिर इसे पशुता कहकर पशुता को बदनाम करने का भी कोई कारण नहीं है। कौन कहता है कि यह आकर्षण पशुओं को भी पशुत्व से ऊपर नहीं उठा देता?

यह क्यों और कैसे होता है, कौन कह सकता है? न तो अरुण की ही समझ में आया और न ही पुष्पा या रंजन की। सभी का उपचार ठीक चल रहा था, लेकिन जाने क्यों रंजन और पुष्पा को लगता कि अरुण की देखभाल पर्याप्त नहीं हो रही। दोनों को ही जाने क्यों लगता था कि उनके सिवा कोई भी उसकी देख-भाल ठीक से नहीं कर सकता।

"यह पट्टी किसने बांधी ?" पुष्पा ने पूछा ।

"रंजनगौरी ने ?" अरुण ने बताया ।

"मना किया था तो भी मानती ही नहीं । फस्ट-एड सीखने पर भी अभी पट्टी बांधना नहीं आया ।" कहकर पुष्पा ने पट्टी खोल कर दूसरी बांध दी ।

"रंजन ने लौटकर देखा ।"

"पट्टी पुष्पा ने बदली है ना ?"

"हां, कह रही थी कि ठीक नहीं है ।"

"वह समझती है कि उसके जैसा हाथ किसी का नहीं है पर, यह आयोडिन की शीशी यहीं भूल गयी––कुछ गड़बड़ हो जाये तो ?"

अरुण सोचने लगा कि किसी और घायल की देखभाल में कोई कसर दिखाई नहीं देती फिर उसी के साथ ऐसा क्यों ?

"क्या कर रही है तू पुष्पा ?"

"क्यों ? दूसरी खुराक दे रही हूं ।"

"मैंने पिला तो दी थी ।"

"क्यों पिलायी तूने ? फिर मुझसे गड़बड़ी हो जाती है ना ?"

"गड़बड़ी कैसी ? इतनी मेहनत ही कम हुई तेरी ।"

"मेहनत की बात छोड़ । संभालने में दिक्कत होती है ।"

"सबका इतना ध्यान रखेगी तो मर जायेगी ।" हंसकर रंजन ने कहा ।

पुष्पा ने कुछ कहा नहीं । पर उसके चेहरे से लगा कि उसके सिवा कोई अरुण के मामले में हस्तक्षेप न करे तो अच्छा । अरुण परेशान कि क्यों ये दोनों युवतियां उसके लिए इतनी परेशान हैं ?

अरुण की चारपाई से सिर टिकाये बैठी रंजन से पुष्पा ने कहा :

"रंजन ! बहुत देर से बैठी है । थक गयी होगी । जरा घूम आ । मैं बैठी हूं ।"

"मैं तो जरा भी नहीं थकी ।"

"तो भी घूम आ । अभी बहुत काम पड़ा है, परेशान हो जाओगी ।" रंजन ने आंखें झपकाते हुए हंसकर गर्दन हिलायी जैसे कह रही हो : सब समझती हूं मैं ।

"आखें खुलने पर अरुण ने देखा कि दोनों युवतियां आसपास खड़ी हैं । उनकी

आवश्यकता से अधिक टहल देखकर उसने कहा : "आप लोग क्यों इतनी परेशान होती हैं ? मैं अब ठीक हूं ।"

"अभी आपको अकेले नहीं छोड़ा जा सकता ।" कहकर पुष्पा पास पड़ी कुर्सी पर जा बैठी, जैसे अब वहां से हिलना ही न हो ।

"तो मैं जरा हो आऊं ?" खड़े होकर रंजन ने अरुण से पूछा। सदैव जैसी मुस्कान इस समय भी उसके चेहरे पर खेल रही थी। अरुण कई बार चोरी चोरी उसे देखने का मोह नहीं रोक पाता था उसने हां कह दी। रंजन की चाल में कुछ ऐसा ललित्य था कि उसे जाते या आते देखने का सभी का मन हो आता था। जाती हुई रंजन की ओर उठी अरुण की आंखों को देखकर पुष्पा की आंखें ईर्ष्या से दहक उठीं ।

'छंटेल !' पुष्पा ने मन ही मन गाली दी। अब पुष्पा को अपनी सहेली में कई कमियां नजर आने लगी थीं। उसकी चुस्त वेशभूषा, उसकी मस्त चाल, उसका मुस्कराता चेहरा, उसकी चंचल आंखें, उसकी मनचाही मोहक बातें और उसका स्वच्छंद आचरण रंजन को अधिकाधिक आकर्षक बनाते थे और अधिकांश स्त्रियों के संकीर्ण मन को ये बातें रुचती नहीं। किसी नारी में कुछ विशिष्टता होने पर समाज उसे बड़ी आसानी से छंटेल कह डालता है। पुराने आचार-विचार वाली सुशीला के संरक्षण में पली पुष्पा के लिए भी रंजन के व्यवहार को देखकर इसी प्रकार सोचना स्वाभाविक था। अब तक तो रंजन का यह व्यवहार उसकी हंसी का विषय था, अब पुष्पा को उससे भय लगने लगा ।

पुष्पा अरुण के पास अधिक नहीं बैठ पाती थी। उसे बार-बार यही आशंका बनी रहती कि कहीं पिता और बहन अन्यथा अर्थ न लगा बैठें। पांच मिनट की अपेक्षा दस मिनिट कहीं बिताना संभव हो सकता है किंतु पांच मिनट की जगह एक घंटा कहीं बिताने पर कोई भी शंका कर सकता है। वह सभी के पट्टियां बांधती, दवा पिलाती, कमरे साफ करती, खाना खिलाती किंतु इसके अलावा उनसे बातें करना, हंसना, हंसाना उसके लिए संभव नहीं था। सेवा वह कर सकती थी किंतु पारिवारिक परिवेश के कारण किसी का मन बहलाने की सामर्थ्य उसमें नहीं थी। अपनी गंभीरता के कारण पुष्पा सबके सम्मान की पात्र बन जाती थी,

किंतु रंजन को देखते ही घायलों का मन जिस प्रकार पुलक उठता था, वह पुष्पा के लिए असह्य था।

रंजन सभी के पास जाती। सभी के पास कुछ देर बैठती। और इस प्रकार बातें करती जैसे उनकी पुरानी मित्र हो। कभी-कभी उनसे बहस भी करने लगती। कभी किसी को अखबार भी पढ़कर सुनाती और उनके भविष्य के कार्यक्रमों को ध्यानपूर्वक सुनती और उनके विषय में चर्चा करती। रंजन को देखकर रोगियों का आधा दर्द कम हो जाता। वे रंजन के आने की प्रतीक्षा करते रहते।

धन्ना भगत कई बार शाम को आकर भजन सुना जाते। बीमार भी ऐसे नहीं थे कि थोड़ा बहुत चल फिर नहीं सकें। अब धन्ना भगत को घर के आंगन तक आने की छूट मिल गयी थी। बीमार भी आंगन के दालान में बैठकर भजन सुनते थे। आठ दस दिन में सभी को छुट्टी मिलनेवाली थी।

एक शाम धनसुखलाल दालान में आकर बैठे और जनार्दन को सुनाकर कहने लगे :

"सुना है, तुम लोगों पर केस चलनेवाला है।"

"हम तो सजा के लिए तैयार ही बैठे हैं।" कंदर्प बोला।

"कहना आसान है। जेल की सलाखों के पीछे रहना दूसरी बात है।"

"काका साहब ! मैंने तो चक्की पीसने का भी अभ्यास किया है। हम जेल जायेंगे तो वहां की सलाखें पिघल जायेंगी।"

"जेल से लौटकर यह सब कहना कंदर्प बाबू।" धनसुखलाल ने मजाक में कहा। वैसे उन्हें विश्वास हो गया था कि वर्तमान गुजरात का युवक अब जेल के भय से परे है।

"बात भी क्या करनी है ? मुझे तो धन्ना भगत की बात याद आती रहती है, मरने का मोह भी किसलिए ? जेल भी हमें अहं को छोड़कर ही जाना है।" सुशीला दूर बैठी-बैठी ये बातें सुन रही थी। उसने क्षणभर के लिए जनार्दन के सामने देखा और दृष्टि घुमा ली। इतने दिनों तक साथ रह कर दोनों को ही विश्वास हो गया था कि उनके मन में अब कोई विकार शेष नहीं रह गया है।

"आज धन्ना भगत दिखाई नहीं दे रहे ?" धनसुखलाल ने पूछा।

"कल किशन की तबीयत ठीक नहीं थी। शायद इसीलिए नहीं आये हैं।"

अरुण ने कहा। उसके मन में धन्ना भगत के प्रति सम्मान था। वैसे उनकी धार्मिकता के प्रति उसकी कोई श्रद्धा नहीं थी। यह क्या कि हर बात में भगवान की सहायता मांगी जाये, और भले बुरे सभी कामों में भगवान की इच्छा मानी जाये ? यह तो कमजोरी है ? फिर भी धन्ना भगत के भजन अच्छे लगते थे। विशेष रूप से वीर गान।

"यानी आज भजन नहीं होंगे ? छह सात दिन बड़े अच्छे बीते।" धनसुखलाल को भजनों का कार्यक्रम बहुत पसंद आया था।

"क्यों ? कंदर्प। तू गाता है या नहीं ? लगता तो है कुछ ऐसा ही।"

"नहीं काका साहब। मेरा गाना सुनकर तो भगवान भी भाग जायेंगे।"

"गीत गाना तो नारी वर्ग को ही शोभा देता है। पुष्पा या रंजन गायें तो कैसा रहे ?" विमोचन बोला।

पुष्पा और रंजन ने दृष्टि झुका ली। सुशीला ने रंजन की पीठ पर थपकी दी, "चल लड़की तू गा।"

"नहीं दीदी, यहां नहीं। तुम्हें अकेले में सुना दूंगी।" रंजन ने सकुचाकर कहा।

"अरे हां, रंजन खूब अच्छा गाती है ? पर भाई, यह तो शास्त्रीय सुनायेगी। हमारी समझ में नहीं आयेगा।" धनसुखलाल बोले।

"कोई बात नहीं। रंजन कोई सुगम रचना सुना देना।" सुशीला ने आग्रह किया।

"नहीं दीदी। मुझे शर्म आती है।" रंजन का चेहरा वाकई लाल हो गया था।

"चल, ज्यादा बात मत बना। हजारों लोगों के बीच थियेटर में गाते शरम नहीं आती और यहां अपने घर में शरम आ रही है।" सुशीला ने रंजन को प्यार से झिड़का। सभी ने थोड़ा आग्रह किया। आखिर धनसुखलाल की डांट पर रंजन ने गाना आरंभ किया :

"पगली गोपा तू किसकी बलैया ले रही है ?
प्राणेश्वर नंदकुंवर मेरे द्वार आकर खड़े हैं···
मन में नौ रस और तन में षट्रस भरे हैं
गोपी के सिर पर भार है
जग-रूपी गौरस से भरी मोह मटकी को मात्र

कन्हैया ही उतारनेवाला है।
होश भूल गयी है, कदम अस्थिर हैं
नयनों की गहराई में जाने क्या है ?
रसिया ने रास रचाकर
सारी रात-जगाया है।
जनम जनम से तरसी राधा को युग-युग की स्मृतियां हैं
मुरली के स्वर सुन चौंक उठी मैं
वे मेरे भव उद्धारक हैं
जीवन में कई जहर फैले हैं
विष विमोचन मोहन को मैं कहां ढूंढूं ?
राधा के मुख पर आठों पहर
कृष्ण-कृष्ण के नाम का उच्चारण है।

30. प्यार

तेज के मंडप में तेज के फूल
तेज के मंदिर में रस लहराया
तेज की वल्लरी झूला झुलावे
मेरा मन भी पैंगें चढ़ा ।

रंजन के मुंह से राधाकृष्ण के प्रेम का मधुर-गान सुन धनसुखलाल बहुत ही खुश हुए। रंजन के प्रति उसकी आधुनिकता के कारण जो थोड़ा बहुत आक्रोश उनके मन में अब तक था, वह जैसे समाप्त हो गया। साथ ही सभी आधुनिकों के प्रति उनकी अवज्ञा भी कम हो गयी। वे मुक्तभाव से कह उठे :

"वाह रंजन वाह। तेरे गले में तो अमृत भरा है। ऊपर से भगवान का नाम, फिर तो कहना ही क्या।"

अन्य श्रोता भी सुन कर मुग्ध हो गये थे। अरुण तो गहरे तक आंदोलित हो गया था। यों संगीत में उसकी रुचि उतनी ही थी जितनी किसी भी मनुष्य को अवकाश के क्षणों में हो सकती है किंतु आज के गायन ने उसे विभोर कर दिया था।

नारी को ईश्वर ने कहीं इसीलिए तो इतना मधुर कंठ नहीं दिया है ? वे गाती ही रहा करें तो ?

यों ईश्वर के नाम पर वह रुका, अरे मुझे भी भगत की छूत तो नहीं लग गयी?

धनसुखलाल ने आग्रह करके रंजन से और गीत सुने। रंजन को शास्त्रीय संगीत का ही शौक अधिक था किंतु गरबे, गरबी व भजन गाने में भी उसे आपत्ति नहीं थी। सुगम संगीत गाते समय शास्त्रीय संगीत का अभ्यस्त उसका कंठ बहुत ही मिठास झार रहा था। इतना कि शायद नींद में भी सभी उसका अनुभव करते

रहे। वैसा नहीं हो पाया था तो मात्र पुष्पा के साथ। उसे सारी रात चैन नहीं मिला!

रात में रंजन ने उससे पूछा :

"यह आधी रात में क्या ले बैठी है पुष्पा ?"

"कुछ नहीं। यूं हीं नींद नहीं आ रही।"

पुष्पा कोई चित्र बना रही थी।

काफी देर बाद रंजन ने फिर पूछा :

"पुष्पा! अभी तक जाग रही है।

"हां! आंख ही नहीं मिचती।"

"ऐसा क्या बना रही है, देखूं तो?" कहते हुए रंजन उठकर पुष्पा के पास आयी।

"तुझे नहीं बताऊंगी।" पुष्पा ने हंसते हुए कागज छिपाने का प्रयत्न किया।

चित्र पर से पुष्पा का हाथ हटाते हुए रंजन बोली, "चल हट? तेरे चित्रों की तो प्रदर्शनी करनी चाहिए अब।"

"अच्छा नहीं है। कभी से कोशिश कर रही हूं पर भाव उभरता ही नहीं।"

"अरे वाह! कितना सुंदर तो है। राधाकृष्ण कितने सुंदर हैं। एकदम आधुनिक से।"

"पर तेरे संगीत का सौंदर्य इसमें नहीं उतर पा रहा। मैं उसी के लिए पच रही हूं।"

"वह तो मैं कुछ समझती नहीं। पर इतना जानती हूं पुष्पा की संगीत क्षण-जीवी है और चित्र चिरंजीवी।"

पुष्पा इन दोनों कलाओं के अंतर को सोचकर मुस्करायी। फिर बोली :

"मैं नहीं सोचती कि तेरे गीत भुला दिये गये होंगे।"

"पर पुष्पा तेरे चित्र-पुरुषों का माडल कौन होता है?"

पुष्पा कुछ चौंकी। फिर भौंह सिकोड़ कर बोली :

"मेरा कोई माडल नहीं। कल्पना में जो आ जाय——वही सही।"

"तेरी कल्पना में तो अरुणकांत ही आते हैं। नहीं?"

"धत्! मजाक के सिवा कुछ काम भी है तुझे?"

"मैं मजाक नहीं कर रही। मैं तो तेरी आंखों में ही तस्वीर देख रही हूं। तू अरुण को प्यार करती है न?"

इंकार की स्थिति में ही इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता था। रंजन के लिए तो यह कठिन नहीं था किंतु पुष्पा के संस्कार ऐसे शब्दों के प्रयोग में बाधक ही थे। वह बोली, "क्या कह रही है? दीदी सुनेंगी तो दोनों को मार डालेंगी। चल अब सो जा। मैं भी थक गयी हूं।

दोनों ही लेट गयीं।

कई बार यथार्थ की अपेक्षा स्वप्न कहीं अधिक मीठे होते हैं। यथार्थ जीवन में हमारी इच्छाएं फलीभूत होकर कभी-कभी इतनी विकृति दे जाती हैं कि आनंद का स्रोत ही सूख जाता है। किंतु सपनों में वह विकृति नहीं आ पाती। पंचतत्व हमारी इच्छा के अनुकूल हो जाते हैं। स्वप्न में प्रकाश सदैव शीतल होता है, पवन स्वप्नों को अपेक्षित रूप में उड़ने देता है और बड़े-बड़े पर्वतों की दीवारें भी उनके लिए मार्ग छोड़ देती हैं।

रंजन और पुष्पा को क्या स्वप्न आये—वही जानें। पर रंजन झुटपुटे से भी कुछ पहले ही उठ गयी। उसने देखा कि पुष्पा अभी सो रही है। उसने यूं ही खिड़की से झांका। देखा कि कोई व्यक्ति घर के बाहर साइकिल से उतर रहा था। वह घर के ओटले पर सोये घर के नौकर को उठाने ही वाला था कि रंजन ने नीचे जाकर दरवाजा खोल दिया। पूछा, "किससे मिलना है?"

"अरुण, कंदर्प और जनार्दन के लिए वारंट निकला है, यही बताने आया हूं।"

"किसने भेजा तुम्हें?"

"मैजिस्ट्रेट साहब ने। अभी-अभी पुलिस आज्ञा पत्र लेकर गयी है। सूर्योदय होते ही आयेगी।"

"मैजिस्ट्रेट आज्ञा भी देता है और सूचना भी?"

"किसी से कहियेगा नहीं। अरुण और मैजिस्ट्रेट मित्र हैं। उन्होंने तो मात्र सूचना भेजी है ताकि सब तैयार रहें।" कहकर आगंतुक लौट गया।

रंजन दौड़ते हुए अरुण के कमरे में पहुंची। अरुण के चेहरे पर मुस्कान खेल रही थी। यह कोई आनंददायक स्वप्न देख रहा हो तो? कैसे जगाऊं? आवाज देकर? झंझोड़कर? कोई और होता तो रंजन ऐसा ही करती किंतु सोये हुए

अरुण का मुस्कराता हुआ चेहरा देखकर रंजन को एक मीठा उपाय सूझ गया। खाट के पास घुटने के बल बैठकर उसने अरुण के बंद होंठों को चूम लिया और तुरंत चारों ओर देखने लगी। कोई नहीं था।

अरुण की मुस्कान गहरा गयी। उसने धीरे-से आंखें खोलीं। आंखें खोलते ही वह चौंककर उठ बैठा। स्वप्न को जागरण में साकार देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया। खाट के पास घुटनों के बल उसकी ओर टकटकी बांधे बैठी रंजन सच है या स्वप्न वाली? उसने अपनी आंखों पर हाथ फेरा। उसने सपना देखा था, यह भी सच है किंतु यह भी तो सच है कि वह अब जागा हुआ है। यह भी तो सच था कि उसने सपने में रंजन को देखा था किंतु जागने पर भी वह स्वप्न की सी ही स्थिति में बैठी है, यह भी सच है। तब चुंबन किसने लिया? स्वप्न वाली रंजन ने या सामने वाली ने?

"क्या सोचने लगे?" रंजन ने मस्ती से पूछा।

"यूं ही।"

"जागने से पहले तो हंस रहे थे? कोई सपना तो नहीं तोड़ दिया मैंने?"

रंजन ने स्वप्न तोड़ा नहीं था वरन उसे जागरण के साथ जोड़ा था। लेकिन यह सब क्या है? अरुण की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। अरुण सोचने लगा कि वह शायद काफी पहले से रंजन को प्यार करने लगा है। यह सुनकर कि रंजन ने ही ध्वजारोहण किया था, रंजन उसकी आंखों में बस कर रह गयी थी। पिछली शाम उसके गीत सुनकर, गाते समय उसके चेहरे की रेखाओं को देखकर तो जैसे उस पर रंजन को लेकर उन्माद छाने लगा था। वह रात भर रंजन को ही देखता रहा था। स्वप्न में। और अब वही रंजन जागने पर भी सामने बैठी थी। यह स्वच्छंद लड़की किसी को प्यार कर सकती है भला? किसी को करती हो पर अरुण जैसे फक्कड़ को क्यों।

"अभी तक सोच में डूबे हो? मैं अभी बहुत चौंकाने वाली सूचना लायी हूं।" अब और चौंकाने वाली बात क्या होगी? अरुण ने सोचा पर कहा यही, "कुछ भी तो नहीं सोच रहा ... ...पर... ...आप क्या सूचना लायी हैं?"

"आपके लिए वारंट निकला है।"

"ओहो। बस ? मैं तो उसकी प्रतीक्षा ही कर रहा था।" अरुण के लिए सूचना महत्वहीन थी।

"तो कंदर्प भाई और जनार्दन को भी बता आऊं ? सूर्योदय होते ही पुलिस आ जायेगी।" रंजन उठ खड़ी हुई।

रंजन का जाना अरुण को अच्छा नहीं लगा। वारंट की बात का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ था। पहले वाली उलझन अभी यथावत् थी।

रंजन ने दो ही कदम बढ़ाये होंगे कि अरुण ने पूछा :

"मुझे जगाया था ?"

"हां। क्यों ?"

"मैं उस समय जागा हुआ था ?"

रंजन के चेहरे पर लाली दौड़ गयी। अरुण यह सब क्यों पूछ रहा है ? कहीं वह जागा हुआ तो नहीं था ? कहीं उसने रंजन की चोरी तो नहीं पकड़ ली ?

"मुझे क्या पता ? मुझे तो लगा, नींद में हंस रहे थे ?"

"पर मुझे जगाया कैसे ?"

अब रंजन को विश्वास हो गया कि चुंबन वाली बात अरुण जानता है। क्षण भर उसकी सांस तेज हो गयी। अपना आंचल ठीक करते हुए वह अपनी चूड़ियों को घुमाने लगी।

फिर अपने आपको नियंत्रित कर अपनी सहज उन्मुक्तता से वह बोली :

"चालाकी सीखने लगे हैं न ? जानकर भी पूछ रहे हैं ? बताऊं—ऐसे जगाया था।" कहकर रंजन ने होंठों पर उंगली रखी और उन्हें चूमने के साथ साथ आधे चेहरे को आंचल से छिपाती हुई वहां से भाग गयी।

31. पुष्पा की निराशा

मेरा पथ किसी भी तरह समाप्त नहीं हो रहा है,
सूरज ! जरा धीमे तपो । धीमे तपो ।
जिसे खोजती हूं वह दूर चला जा रहा है,
सूरज ! जरा धीमे तपो । धीमे तपो ।

—मेघाणी

दरवाजे में ही खड़ी पुष्पा ने रंजन का चुंबन वाला संकेत देखा। उसने आंचल से रंजन का मुंह ढक कर लजाना भी देखा। बाहर जाते हुए रंजन की आंखें झुकी थीं। कमरे से भागने की जल्दी में दरवाजे तक पहुंचने से पहले उसने पुष्पा को नहीं देखा था।

"अरे पुष्पा ? तू ?" दरवाजे में खड़ी पुष्पा को देखकर रंजन ने पूछा। पुष्पा उसके लाल हो आये मुख को ही देख रही थी। उसकी तेज इच्छा हुई कि वह दसों नाखूनों से उसके गाल नोंच डाले। उसकी आखें इस समय आग बरसा रही थीं। वह दरवाजे के बीच से हट गयी। रंजन समझ गयी। उसके कंधे पर हाथ रख बोली :

"मैं समझी, तू सो रही होगी।"

देहरी से उतरते हुए पुष्पा ने रंजन का हाथ कंधे से झटक दिया। उसने हाथ में पकड़े चित्र को एकदम फाड़ दिया। इस समय उसके हाथ सब कुछ फाड़ डालने के लिये व्यग्र थे।

"अरे रे पगली। इतना सुंदर चित्र यूं फाड़ा जाता है ?" रंजन ने पुष्पा का हाथ रोकना चाहा। किंतु उससे पूर्व ही चित्र के दो टुकड़े हो चुके थे। पुष्पा के हाथ तो

उसे और भी अधिक चिथड़ाने को आतुर थे किंतु तब तक रंजन ने दोनों टुकड़े छीन लिये थे।

"सारी रात जागकर इतना सुंदर चित्र फाड़ने के लिए ही बनाया था ?" रंजन ने पुष्पा को फटकार बतायी।

"मेरा चित्र तो कभी का फट गया।"

"किसने फाड़ा तेरा चित्र ?"

"रंजन ने। तूने।"

"मैंने ? कह क्या रही है तू ? मैंने तो तेरे चित्र को हाथ तक नहीं लगाया।"

"अभी अभी। दस क्षण पहले। इसी कमरे में तूने मेरे संपूर्ण जीवन का चित्र फाड़ डाला है।"

रंजन समझ गयी। समझकर गंभीर हो गयी। उसने क्षण भर के लिए स्थिर दृष्टि से पुष्पा को देखा। फिर बोली :

"इतने दिनों से मैं पूछती रहती थी। कल भी साफ-साफ पूछा था। पर तूने कुछ कहा नहीं। फिर मैं क्या करती ?"

तभी बाहर सोया नौकर अंदर आया और घबराकर कहने लगा।

"सिपाही आये हैं। साहब से मिलना चाहते हैं।"

"जा बापू जी पूजा कर रहे होंगे। ऊपर जाकर कह आ।" पुष्पा ने कहा।

वह क्षण भर पूर्व का विषाद भूल गयी थी। अब उसे दूसरा ही डर लगा, "अब अरुण को पकड़कर जेल में बंद कर देंगे।"

रंजन जो उस तनाव में कंदर्प और जनार्दन को सूचना देना भूल गयी थी, पास के कमरे की ओर दौड़ी।

पुष्पा अकेली ही खड़ी रही। बाहर कई व्यक्तियों की पदचाप सुनकर अरुण कमरे से बाहर निकला। पुष्पा वहां विचारों में डूबी खड़ी थी।

मैं रंजन से पहले जाग जाती तो ? जाग तो रही थी। मुझे उससे पहले ही नीचे आ जाना चाहिए था। प्यार में जो जल्दी बढ़ता है, आगे रहता है। पर मैं रंजन की तरह बेशर्मी कर पाती ? कैसे कहती कि मैं अरुण को प्यार करती हूं ? रंजन से ही नहीं कह सकी तो अरुण से कैसे कहती ? मैं भी रंजन की तरह बेशर्म हो पाती तो ?

"पुष्पावती। क्या बात है ?" उसे यूं खड़े देख अरुण ने पूछा।

"कुछ नहीं। मैं तो··· ···मैं तो··· ···यूं ही खड़ी थी यहां।"

"बाहर शायद पुलिस के आदमी आये हैं।"

"हां हां। वही कहने आयी थी।"

तभी धनसुखलाल भी खड़ाऊं खटखटाते, जोर से बोलते हुए आ पहुंचे।

"कौन है ? कौन सा कोतवाल है यह ? इन सरकारी नौकरों को मुरौवत तो होती ही नहीं ?"

तब तक जनार्दन, कंदर्प और रंजन भी वहां आ पहुंचे। एक पुलिस अधिकारी ने अंदर आकर धनसुखलाल को शिष्टतापूर्वक अभिवादन किया।

"क्यों तुम्हारा यहां कुछ बाकी रह गया था क्या ? फिर मेरे घर में चोर-बदमाश भरे हैं जो इतनी बड़ी फौज लेकर चढ़े आ रहे हो ?" धनसुखलाल ने अभिवादन का उत्तर दिया।

"धनसुखलाल भाई हम तो हुकुम के गुलाम हैं। वारंट मिला है" अधिकारी ने हंसकर कहा। वह धनसुखलाल की भाषा से परिचित था।

"दो तीन आदमियों को ले जाने के लिए इतनी बड़ी फौज है ?"

"शायद कोई झगड़ा झंझट हो जाय ?"

"मैं झगड़ा करूंगा ?" यों धनसुखलाल की बोली में भी कम झगड़ालूपन नहीं था।

"नहीं जी। आप से कहां कह रहा हूं ?"

"तो क्या वे लोग झगड़ा करेंगे ? सभी तो गरीब ब्राह्मण जैसे हैं।"

"नहीं, ये भी नहीं। वो तो लोग वक्त पर फसाद मचा देते हैं। तब के लिए सावधान रहना पड़ता है।"

तभी बाहर कार का भौंपू सुनाई दिया। और कुछ ही देर में कृष्णकांत, सुरभि और विमोचन अंदर आये।

"चलो, निकासी में तुम भी शामिल हो जाओ।" धनसुखलाल बोले।

"मुझे तो अभी खबर मिली थी। डर रहा था कि सभी को ले गये होंगे।"

सुरभि अपने भाई की ओर एकटकी बांधें खड़ी थी। अरुण हंसा, "तू क्यों ऐसी दुखी हो रही है सुरभि ?"

"भैया फिर जेल जाना पड़ेगा ?"

"अरे बहू । तुम क्यों परेशान हो रही हो ? अभी जमानत पर छुड़ा लाऊंगा ।"

जनार्दन, अरुण और कंदर्प एक दूसरे को देखने लगे फिर जनार्दन बोले, "आप यह तकलीफ मत उठाइयेगा । हम जमानत दिलवाना नहीं चाहते ?"

"तुम सारे ही गांधीवादी टेढ़े हो । जमानत देने में क्या हर्ज है ?"

"हमने कोई अपराध नहीं किया है सो जमानत भी नहीं देंगे ।"

"यह तो केस चलने पर साबित होगा और जमानत भी केस चलने तक के लिये देनी है ।"

"हम केस चलाने के भी विरुद्ध हैं। जो सरकार अहिंसा की श्वेत ध्वजा फहराने पर रोक लगाती है, उस सरकार की अदालत भी न्याय कैसे कर सकती है ?"

"क्यों साहब । मैं अब अपना हुकुम बजा सकता हूं न ?" पुलिस अधिकारी ने राजनीतिक चर्चा पर ब्रेक लगाते हुए कहा ।

"अरे भाई । इन्हें नहाने-खाने भी दोगे या नहीं ?"

"जी हां । मैं एक घंटे तक प्रतीक्षा कर सकता हूं । और कुछ ?"

धनसुखलाल ने पुलिस अफसर को बैठाया और यथासंभव स्वागत सत्कार भी किया । इतनी सुबह किसी को भूख नहीं थी, अतः जाने से पूर्व तीनों को नहलाया और अपने ठाकुरजी के दर्शन करवाये, "आओ जरा भगवान को प्रणाम कर लो । उनकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता ।"

तीनों व्यक्ति धनसुखलाल के पीछे-पीछे गये । पुष्पा, रंजन और सुरभि भी साथ थीं । कृष्णकांत पुलिस अफसर से गप्पें मार रहे थे । अरुण को हंसी आ गयी :

"पत्ते हिलाने को भी भगवान ? उस बेचारे को इतना अवकाश मिल जाता होगा ?"

वर्तमान युग का युवक भगवान की सहायता के बिना काम चला सकता है। भगवान ने काफी दिन सब संभाला । अब वह भले ही आराम करें । युवक के मन में यही व्यंग्य-मिश्रित दया भगवान के प्रति है ।

पूजा गृह काफी साफ़ था । सुशीला पूजा में व्यस्त थी । धनसुखलाल ने अंदर

जाकर मूर्ति के सामाने साष्टांग प्रणाम किया। इसमें उन्हें अपने कपड़ों की कोई चिंता नहीं थी। उन्होंने मन के अतलतम से प्रार्थना की :

'मनः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व।
अनंत वीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।
प्रभो! हम तेरे चरणों की रज हैं स्वामी!'

तीनों पीछे खड़े थे। जनार्दन की आंखें बंद थीं और कंदर्प व अरुण ने भगवान या धनसुखलाल पर कृपा करने के लिए विवशतापूर्वक हाथ जोड़ लिए थे। मूर्ति-पूजा में उनकी कोई आस्था नहीं थी।

किंतु धनसुखलाल की प्रार्थना के शब्द सुनकर अरुण गंभीर हो गया। सभी में व्याप्त सर्वरूप ईश्वर की कल्पना उसे भव्य और आकर्षक लगी। खिड़की से बाहर उसने नीलाकाश में सूर्य को सरकते देखा। कितना बड़ा है। यह सूर्य? हजारों पृथ्वी एकत्र होने पर ही एक सूर्य बन सकता है। और इस सूर्य जितने कितने अन्य सूर्य आकाश में हैं? हमारा सूर्य जिनकी तुलना में एक धूलिकण जैसा है, ऐसे असंख्य महासूर्य आकाश में गतिमान हैं? और फिर भी आकाश खाली का खाली! सारे सूर्यों को तोड़कर चूरा कर दें तो भी इससे अधिक कुछ नहीं लगेगा कि सृष्टि में कोई रजकण उड़ा है। और उस सर्वव्यापी आकाश को भी अपने आपमें समानेवाला कोई महातत्व है। मनुष्य क्या उसकी चरणरज के बराबर भी है? समष्टि की बात करते हुए मनुष्य को रज मानना रजकण को सूर्य मानने की अपेक्षा कहीं अधिक बेहूदगी है।

अरुण ने आंखें बंद करके फिर सिर झुकाया। उसे लगा, वह असीम शून्य में तैर रहा है। उसके मन में गहन शांति व्याप्त हो गयी।

प्रार्थना करने के बाद धनसुखलाल ने सभी को प्रसाद दिया। तभी सुशीला ने तीनों भावी कैदियों के सामने दही और शक्कर की कटोरियां रखीं :

"यह तो चखना ही पड़ेगा। दही का तो शकुन होता है।"

वहम कहकर ऐसी बातों की हंसी उड़ाना दूसरी बात है। अन्यथा विशुद्ध भाव से कुछ भी किया जाये उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

सभी ने दही चखी। विमोचन और कृष्णकांत भी तब तक आ पहुंचे थे। उन्हें भी दही व शक्कर दी गयी। नीचे बैठे पुलिस अधिकारी को भी प्रसाद दिया गया। अब उसने तीनों के हाथ में वारंट पकड़ाया।

अब तक मकान के बाहर लोगों की भीड़ एकत्र हो गयी थी। उनके शोर के बीच कंदर्प आदि पुलिस वाहन में जा बैठे।

पीछे-पीछे धनसुखलाल और कृष्णकांत आदि भी अपनी कार में चल पड़े। पुष्पा और सुशीला खिड़की में खड़ी इन धर्म-कैदियों का जाना देख रही थीं।

कार आंखों से ओझल होने के बाद ही पुष्पा अंदर गयी। फटे हुए चित्र को उसने देखा और तकिये में मुंह छिपा कर सिसक पड़ी।

32. आशा की किरण

मेरी आंखें बरस रही हैं।
कोई इनकी धार को समेट ले।
मेरे सागर सूख रहे हैं।
कोई उनमें से मोती बीन ले।।

—न्हानालाल

आंसू न होते तो मानव जड़ होकर रह जाता। पुष्पा खूब रोयी। उसकी अपनी ही अंतरंग सहेली उसके प्यार के बीच दीवार बन रही थी। उसके क्रोध का पार नहीं था। अब क्या होगा ? कैसे अरुण को रंजन के जाल से निकला जाये ? वह रोती जा रही थी और सोचती जा रही थी। रोते-रोते मन हल्का हुआ। उसे लगा कि सिर पर किसी का कोमल हाथ घूम रहा है। पुष्पा करवट बदलकर सीधी हुई। रंजन थी।

"रो क्यों रही है ?"

"रोऊं या हंसूं तुझे क्या ?"

"क्यों नहीं है मुझे ? मेरी बहन नहीं है तू। तू दुखी होगी तो मुझे अच्छा लगेगा ?"

"तुझे जाना नहीं है ? तू सबके साथ कचहरी में नहीं गयी ?"

"मुझे नहीं जाना।"

"क्यों ?"

"तुझे भेजना है इसलिए।"

"तू जाने तेरा काम जाने। मुझे तो कहीं नहीं जाना है।"

"यह सब नहीं चलेगा। सभी को सजा होगी। जनार्दन का कुछ नहीं। वे अनु-

भवी हैं। कंदर्प के पिता बड़े अफसर हैं। पर अरुण का कोई नहीं है।"

"तू अरुण का नाम लेकर मुझे जलाने आयी है? हैं ना?"

"ऐसा होता तो आती ही क्यों? मैं तो तुझे ठंडक देने आयी हूं।"

"ठंडी तो मैं हो ही गयी हूं।"

"तो उस ठंडक में से तुझे ऊष्मा मिले, यही सोचकर मैं तेरे और अरुणकांत के बीच से हट रही हूं।"

"क्या मतलब?" चौंककर पुष्पा ने पूछा।

"जब तक तू कहेगी नहीं, मैं अरुण से नहीं बोलूंगी। जहां तक होगा, मिलूंगी भी नहीं। बस?"

"पर मैं तुझसे यह सब करने को कहां कह रही हूं?"

"तू न कहे तो भी मुझे यही करना है। पर अब संकोच जरा कम करना। तू नहीं जायेगी तो अरुण अकेले पड़ जायेंगे।"

"तेरे बिना तो मैं नहीं जा सकूंगी।"

"यों ही करती रह जायेगी। मैं तो अब घर जाऊंगी। पर इतना ध्यान रखना कि वह हम दोनों के ही हाथ से न चले जायें? कहकर पुष्पा के गाल पर चपत लगाकर रंजन द्वार की ओर बढ़ गयी।"

"रंजन! ओ रंजन।" पुष्पा चिल्लायी।

"चिल्ला मत। अभी दीदी दौड़ी आयेंगी।"

"देख रंजन, मैं नहीं जा सकूंगी और ···।"

"मैं भी नहीं जा सकूंगी। अरुण के लिए इतनी पागल हो रही है तो जरा उसके पास बैठकर हिम्मत बढ़ा। मेरी प्रतीक्षा मत करना।" कहते हुए रंजन कमरे से बाहर हो गयी। किंकर्तव्यमूढ़-सी पुष्पा बैठी एकटक दरवाजे को देखती रही।

रंजन ने यह क्या किया? क्या कहा? कुछ देर बाद उसे इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही मिल गया:

रंजन ने मुझको अरुण वापस दे दिया है।

उसने फाड़े हुए चित्र के दोनों टुकड़ों को पास पास रखकर देखा। कागज भले ही फट गया मेरा चित्र तो साबुत बच गया।

वह लगभग दो घंटे यूं ही विचारों में डूबी बैठी रही। खुली आंखों से भी वह

आसपास का कुछ भी नहीं देख रही थी। पता नहीं क्या क्या विचार उसके मन में आ जा रहे थे।

एकाएक वह चौंकी, अरे मैं जिसके चित्र बना रही हूं ? वह तो जेल में अकेले बैठे हैं। मैं यहा बैठी-बैठी क्या कर रही हूं ?

उसने जैसे अपने को समेट लिया। तभी किसी ने आकर कहा :

"दीदी खाना खाने बुला रही हैं।"

"चल, आ रही हूं। बापूजी आ गये या नहीं ?"

"जी नहीं, वे तो कचहरी से काम खत्म होने पर लौटेंगे।"

पुष्पा जल्दी से सुशीला के पास पहुंची।

"रंजन कहां है ? तुम दोनों खाना खा लो।" सुशीला ने कहा।

"वह तो नहीं है।"

"कहां चली गयी ? उसे ठहरने को कहा था न ? शांत होकर तो वह बैठ ही नहीं सकती। कचहरी गयी होगी।"

"नहीं। वह तो घर चली गयी है।"

"बड़ी झक्की लड़की है। तुझे जाना है या नहीं ?"

"हां।"

"तो जल्दी तैयार हो। मैं भी चलूंगी।"

"मंदिर के अलावा कहीं भी न जानेवाली सुशीला आज कचहरी के लिए तैयार हो गयी, यह पुष्पा की समझ में नहीं आया। अकेले जाना उसे अच्छा नहीं लग रहा था। अब बहन का साथ मिलने पर वह स्वस्थ अनुभव कर रही थी।

कचहरी के सामने हजारों लोग एकत्र थे। सभी उत्तेजित थे। सबको शांत रहने की सलाह देते हुए स्वयंसेवक भी उस भीड़ के शोर में वृद्धि कर रहे थे। बीच बीच में सिपाही वहां आकर भीड़ को व्यवस्थित करने का प्रयत्न कर रहे थे।

भीड़ अशांत थी किंतु अशिष्ट नहीं। दो युवतियों को आते देख सबने रास्ता छोड़ दिया। सुशीला और पुष्पा अदालत के ठसाठस भरे विशाल कक्ष में पहुंचीं। कोई जगह न पाकर दोनों दरवाजे के पास ही खड़ी हो गयीं।

अरुण की दृष्टि रह रहकर इधर-उधर कुछ खोज रही थी। तीनों अभियुक्तों को कुर्सी दी गयी थी। धनसुखलाल, कृष्णकांत और सुरभि भी पास ही बैठे थे। अन्य

संभ्रांत व्यक्ति भी थे। वकीलों को तो वहीं होना ही था। बहुत लोग खड़े थे। जनार्दन और मैजिस्ट्रेट के बीच हो रहीं बातें दरवाजे तक सुनाई नहीं दे रही थीं। अरुण ने सुशीला और पुष्पा को दूर खड़े देखकर सुरभि से कहा। सुरभि ने कृष्णकांत को बाताया और वे जाकर उन दोनों को अपनी कुर्सी के पास ले आये। उन्होंने सुशीला को खाली कुर्सी पर बैठा दिया। एक अन्य सज्जन ने अपनी कुर्सी पुष्पा के लिए छोड़ दी। एक अन्य सज्जन ने कृष्णकांत के लिए अपनी कुर्सी छोड़ी तो वे सधन्यवाद उन्हें भी उसी कुर्सी पर बैठने को कह, स्वयं भी उसके साथ बैठ गये।

धनसुखलाल जनार्दन को समझा रहे थे। दो एक वकील कंदर्प और अरुण से कुछ कह रहे थे। न्यायाधीश अपनी हथेलियों पर चेहरा टिकाये चुप बैठे थे।

कुछ देर में वे बोले :

"हां तो आप लोगों ने क्या निश्चय किया है?"

कक्ष में शांति छा गयी। सभी के कान एकाग्र हो गये।

जनार्दन ने खड़े होकर कहा :

"मैंने अपना निश्चय महानुभाव को आरंभ में ही बता दिया था। न्यायालय का अपमान करने की हमारी जरा भी इच्छा नहीं है। हम तो बस उस सत्ता के विरोधी हैं, अतः उसके प्रतिनिधि न्यायासन के कार्य में हम कोई भाग लेने में असमर्थ हैं।"

"अरे पर जमानत देने में क्या हर्ज है?" धनसुखलाल बीच में बोले।

"मैं तो जमानत की बात भी छोड़ रहा हूं। आप लोग बस इतना लिख दें कि अगली पेशी पर हाजिर हो जायेंगे।"

"हम ऐसा कुछ भी नहीं स्वीकार करते।" अरुण ने खड़े होकर कहा।

"हम उसे भी स्वीकार नहीं कर सकते।" कंदर्प ने कहा।

नृसिंहलाल कनपटी सहलाने लगे।

मैजिस्ट्रेट ने परेशान होकर अपनी विवशता दर्शायी, "आप लोग जमानत नहीं देंगे। पेशी पर आने की बात भी स्वीकार नहीं करेंगे। फिर मैं आपको कैसे छोड़ पाऊंगा?"

वे किसी भी प्रकार तीनों अभियुक्तों को मुक्त करना चाहते थे किंतु अभियुक्त स्वयं ही बाधाएं खड़ी कर रहे थे।

"आप जो ठीक समझें, करें।" जनार्दन बोले।

अंततः मैजिस्ट्रेट ने कुछ सोचकर लिखा और पढ़कर सुनाया :

"ये विद्वान लोक-नायक अभियुक्त न्याय कार्य में जरा भी सहायक नहीं हैं, अतः उन्हें जमानत पर अथवा बिना जमानत मुक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं खेदपूर्वक उन्हें पूर्ण शांति स्थापित होने तक कैद में रखने की आज्ञा देता हूं।"

'वंदे मातरम्।' जयघोष हुआ। मैजिस्ट्रेट बिना किसी ओर देखे पिछले द्वार से अपने चेंबर में चले गये। जिसे जिससे मिलना था, मिलने दिया गया।

अंदर ले जाये जाते समय अरुण ने पुष्पा के पास आकर पूछा :

"रंजनगौरी नहीं आयीं?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"पता नहीं।"

"वह तो दिखती ही इतनी चंचल है। वैसे किसी का कहीं जाना वह सह नहीं सकती।" कृष्णकांत ने कारण बताया।

सबके जयघोष और स्नेहियों के आंसुओं के बीच अभियुक्तों को पुलिस वाहन द्वारा ले जाया गया।

आंखों से आंसू पोंछते हुए पुष्पा सोच रही थी :

'आखिर रंजन को ही याद किया।'

33. किशन की अस्वस्थता

आंसू ! वह तो अब खून में बस गये हैं
रुदन से कोई घाव नहीं होता
रो कर मर ही क्यों न जाऊं, न कोई सुनने वाला है
न किसी को मेरी मृत्यु की कोई चिंता है।

—कलापी

सुरभि, सुशीला और पुष्पा की आंखें आंसुओं से भर गयीं। दंडित वीर हंस रहे थे। उनके मन गर्व से भरे थे। उन्होंने अवांछित शासन के अस्वीकार का सुंदर प्रयत्न किया था। किंतु नारी हृदय को क्या कहिये ? उसे तो दुख और सुख में समान रूप से रोना आता है। कृष्णकांत भी कुछ उदास थे। आर्थिक विपत्ति ने उनकी हंसी में बाधा नहीं दी थी किंतु आज उनकी हंसी उड़ गयी थी। उन्होंने सिगार पीना कम कर दिया था। कुछ दिनों से तो एकदम ही नहीं पी थी। किंतु इस समय उनके भारी मन को किसी आश्रय की आवश्यकता थी। धनसुखलाल की व्यग्रता छिप नहीं पा रही थी। वे चाहे जिस तिस के साथ तेजी से बढ़ बढ़कर बोल रहे थे और प्रकट करना चाह रहे थे कि उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ है। नृसिंहलाल तो एक कुर्सी पर ढेर ही हो गये थे।

आरोपियों ने जमानत न देने की हठ की और अब जेल में थे। अदालत से विदा होते समय चार बज गये थे। कृष्णकांत, सुरभि और धनसुखलाल सुबह से ही भूखे थे। सारा समय मैजिस्ट्रेट से विवाद करने और अधिकारियों से कोई जुगाड़ बैठाने के प्रयत्न में ही बीत गया था।

धीरे-धीरे लोग बिखरने लगे। सभी की इच्छा जेल की ओर जाने की थी।

"काका। आप चलिये। मैं जरा पुलिस स्टेशन हो आऊं।"

"स्टेशन अधिकारी से मैं बात कर चुका हूं। कोई दिक्कत नहीं आयेगी। दोनों मेरे साथ चलकर कुछ खा-पी लो और आराम करो। बाद में हम सब ही साथ आयेंगे।" धनसुखलाल बोले।

'नहीं काका! रंजन अकेली है। मैं घर जाऊंगा।"

"उसे तेरे घर से लेते चलेंगे। कार में कितनी देर लगती है?"

कृष्णकांत ने अधिक प्रतिवाद नहीं किया। घर जाकर कुछ भी बहाना बना देने की बात सोचकर उन्होंने सहमति दे दी। वे स्वयं कार में आगे बैठे। अन्य चारों जैसे-तैसे पीछे बैठ गये। तभी सामने से आती कार में रंजन दिखाई दी। साथ में कोई अपरिचित पुरुष था। रंजन ने रूमाल हिलाया।

"रंजन थी?" पुष्पा ने पूछा।

"हां। पर गयी कहां है?" सुशीला ने प्रतिप्रश्न किया।

"पुलिस चौकी गयी होगी।"

"चौकी तो उधर है और वह इधर गयी है।" धनसुखलाल ने पुष्पा की भूल सुधारी।

"अब?" सुरभि परेशान हुई।

"चलो उसके पीछे चलते हैं। समझ नहीं आ रहा, देखकर भी वह रुकी क्यों नहीं?" परेशान कृष्णकांत ने शोफर को कार पीछे ले चलने की आज्ञा दी।

किंतु रंजन की कार की गति काफी तेज थी। कृष्णकांत ने अपने ड्राइवर से स्पीड बढ़ाने को कहा। रंजन की कार के काफी निकट पहुंचने पर उन्होंने पीछे से काफी हार्न दिया किंतु कार नहीं रुकी। अंतत: शहर के छोर पर एक मोड़ के निकट उसकी कार की गति कुछ धीमी हुई। तभी पास पहुंचकर कृष्णकांत ने पुकारा :

"रंजन।"

आगे वाली कार के ड्राइवर ने कार को रोका तो रंजन ने चिढ़ कर कहा :

"अक्ल है या नहीं? क्यों रोक रहे हो"

और रंजन की कार फिर बढ़ चली। रंजन का यह व्यवहार किसी की समझ में नहीं आ रहा था। गली-कूचों से निकलते हुए धनसुखलाल घृणापूर्वक बोले :

"यह कौनसी जगह है? बाघरियों की बस्ती है या भंगियों की?"

और उन्हें चौंकाने वाला उत्तर दिया पुष्पा ने :

"बापूजी यह अछूत बस्ती है।"

"क्या ?" धनसुखलाल बदहवास से बोले।

"हां बापूजी। इधर ही तो धन्ना भगत का घर है।"

"अरे तो इधर जाने की क्या जरूरत ? सारे कपड़े धोने पड़ेंगे मुझे।"

"क्या करते ? रंजन के पीछे-पीछे आना पड़ा।"

तभी रंजन की कार रुकी। उसके पीछे दूसरी कार भी रुकी। धन्ना भगत के घर के चौंतरे पर कई स्त्री पुरुष खड़े थे।

"रंजन। यहां कैसे आयी तू ?" धनसुखलाल ने पूछा।

"अभी कुछ मत बोलिये काका। बेचारा किशन। सब कह रहे हैं कि आखरी घड़ी है।" कार से उतरते हुए रंजन बोली। रंजन के साथ कृष्णकांत के पारिवारिक डाक्टर भी उतरे और झपटकर रंजन के पीछे पीछे धन्ना भगत की झोंपड़ी में चले गये।

"हाय हाय। बच्चा बेचारा इतना बीमार है ?" सुशीला नीचे उतरते हुए अनायास बोल पड़ी।

"अरे मांजी। बोलिये मत। इतना तेज बुखार है कि तलवा फट जाय। छाती और पैर में डाम दिये तब भी असर नहीं हो रहा है।"

सुशीला की आंखें फटी रह गयीं। दो दो डाम ? इतने कोमल बच्चे का यह इलाज ? वह भीड़ के बीच से होती हुई अंदर चली गयी। पीछे-पीछे पुष्पा भी। धनसुखलाल परेशान खड़े रहे, इन लड़कियों को यह क्या हो रहा है ? वैष्णव पुत्रियां अछूत के घर में जाते जरा भी नहीं हिचकिचा रही हैं ?

"काका ! अंदर आइये न। भगत को अच्छा लगेगा ?" कृष्णकांत बोले।

"नहीं भाई। मैं यहीं ठीक हूं। यह सब तुम्हीं लोगों को मुबारक।"

कृष्णकांत ने अंदर झांक कर देखा। भीड़ जमा थी। डाक्टर ने हाथ पकड़ पकड़ कर लोगों को हटाया, तब कहीं अंदर जा पाये। कुछ लोग डाक्टर और रंजन को देखकर स्वयं ही हट गये। भीड़ में से अलग अलग स्वर उभर रहे थे :

"बेचारे भगत का भाग्य।"

"अच्छों को भगवान भी जल्दी बुलाता है अपने पास।"

"लड़का बचेगा नहीं।"

"कोई छाया है।"

"नहीं रे, नजर लगी है।"

"छोकरा था भी नजर लगने जैसा ही।"

किशन एक गुदड़ी पर सोया था। एक गूदड़ी ऊपर उढ़ाई हुई थी। भगत मन ही मन कुछ गुन रहे थे। डाक्टर ने शीऽऽ करके सबको चुप किया।

"भगत जी। डाक्टर को लायी हूं।" रंजन ने कहा।

"सबसे बड़ा डाक्टर तो भगवान है और सबसे बड़ी दवा है उसका नाम। आपने क्यों इतनी तकलीफ की बहन?" बच्चे के सिर पर हाथ फेरते हुए भगत बोले।

"बुखार तेज है न? डाक्टर की दवा से जल्दी ठीक हो जायेगा।"

"भगवान ने ही दिया है बहन। वह नहीं बचायेगा क्या? हे नाथ मैंने तो इसे तेरे चरणों में रख दिया। अब इस गरीब भगत को मरते समय रुलाना हो तो तू जाने।" भगत के होंठ कांपे।

"दादा! भगवान कहां है?" किशन बुदबुदाया।

"बेटे, जहां भी देखो भगवान है। भगवान कहां नहीं है मेरे लाल? मेरे दीनदयाल।"

"दीनदयाल।" किशन ने दोहराया।

"हां हां बेटा। बोल दीनदयाल।"

"दीनदयाल दादा। दीनदयाल। भगवान ··· दिखते हैं क्या ··· दादा?"

"हां बेटा।"

"मुझे दिख रहे हैं।" किशन ने कहा और मुस्कराने लगा।

अंधे भगत की करुणाभरी श्रद्धा डाक्टर को विगलित किये दे रही थी। उसने नीचे बैठकर किशन की नब्ज पकड़ी। हाथ पकड़ते ही चेहरा गंभीर हो गया और उसने रंजन की ओर गर्दन हिलायी।

यह देखते ही सुशीला के तो जैसे प्राण ही निकल गये। वह चक्कर खाकर जमीन पर गिर गयी। पास खड़ी पुष्पा ने उसे पकड़ लिया। कृष्णकांत भी दौड़े हुए आये। सुशीला का शरीर तन रहा था। एक स्त्री ने बाहर जाकर धनसुख-लाल से कहा, "बहन अंदर बेहोश हो गयी हैं।"

सुनकर धनसुखलाल अंदर दौड़े। इस समय वे भूल ही गये कि वह किसी शूद्र की कुटी है और उसमें जाना धर्मभ्रष्ट होना है। यों भी किसी बीमार की देख-भाल करना उनके लिए कठिन था किंतु इस समय तो वे एकदम ही घबरा गये थे। एक अछूत स्त्री से वे कहने लगे, "अरे जल्दी से पानी लाओ।"

डाक्टर ने सभी को कुटी से बाहर निकाला। दो एक स्त्रियां अपने आंचल से सुशीला को हवा करने लगीं। सुशीला का शरीर जब भी ऐंठ रहा था और गले से रुदन उसके अनजाने ही फूट रहा था।

"क्या हुआ बहन ?" भगत ने रंजन से पूछा।

"सुशीला बहन को मूर्छा आ गयी है ?"

"अरे अरे। ये यहां कैसे आ गयीं ?"

"किशन को देखने। काका भी आये हैं और भैया भाभी भी।"

"क्या कह रही हो बहन ? गरीब की झोपड़ी में पूरा रजवाड़ा ? प्रभु। प्रभु यह तेरा बच्चा तेरी शरण में है।"

सुशीला कुछ स्वस्थ हुई। उसका रोना बंद हो गया और उसने आंखें खोल दीं। धनसुखलाल को चैन आया। डाक्टर ने कहा :

"इन्हें बाहर ले जाइये ! यहां की भीड़ ये सहन नहीं कर सकी हैं।"

"हां हां चलो।" कहकर धनसुखलाल अनाड़ी की तरह सुशीला को उठाने लगे।

"आप छोड़िये काका। मैं और सुरभि ले जायेंगे।"

"हां भाई। मैं तो अब बूढ़ा हो चला हूं।"

सुशीला उठ बैठी। कृष्णकांत, सुरभि और डाक्टर ने उसे सहारा देना चाहा।

"अरे नहीं। मैं अपने आप उठ जाऊंगी।" सुशीला ने किशन की गुदड़ी की ओर देखते हुए उठने का प्रयत्न किया किंतु उसे फिर चक्कर आ गया। उसने तत्काल कृष्णकांत के कंधे का सहारा लिया।

"मैं किशन को देखूंगी।"

"नहीं बहन। फिर मूर्छा आ जायेगी।" डाक्टर ने कहा। वह अब तक दादा और पोते के प्रभु स्मरणवाले प्रसंग को भुला नहीं पाये थे और समझ गये थे कि उसी कारण सुशीला भी बेहोश हुई थी। अत: वे सुशीला को दूर ही रखना चाहते थे।

"डाक्टर साहब अब मुझे कुछ नहीं होगा। मैं बिलकुल ठीक हूं।" सुशीला आगे

बढ़कर रंजन के पास बैठी। उसकी इच्छा हुई कि बच्चे का सिर गोदी में ले ले। किंतु बड़ी कठिनाई से उसने अपने आपको रोका। वह किशन के चेहरे पर दृष्टि गड़ाये रही।

"बाबा कोई रो रहा था। क्या ?" किशन ने पूछा। बुखार की बेहोशी के बीच कभी-कभी उसे कुछ होश आता था।

"बेटा रोने की क्या बात है ? भगवान तो हंसते और हंसाते ही रहते हैं। देखा न। बिना मां के मेरे किशना को भगवान ने आज मां भी दे दी। एक नहीं, चार-चार।"

सुनकर क्षणभर के लिए सुशीला को लगा कि उसकी धड़कन बंद हो गयी।

इस समय धनसुखलाल की स्पर्श्य-अस्पर्श्यवाली भावना फिर से सिर उठाने लगी थी। धन्ना भगत के प्रति उनके मन में सम्मान था। भगत की इस समय की बातें भी इस सम्मान को बढ़ा रहीं थीं, किंतु इतने वर्षों के संस्कार के सामने यह भावना इतनी बड़ी नहीं थी कि उनके जतिभेद को मिटा पाती। भले ही वह भक्त है, किंतु छूने योग्य तो नहीं ही है। भले ही वह कितना ही पवित्र क्यों न हो, उसके यहां बैठा तो नहीं जा सकता। उसकी देह से तो अपनी देह को बचाना ही होगा। वे सोच रहे थे कि जितनी जल्दी हो सके, सभी इस भ्रष्टखाने से निकल चलें। तभी किशन आंखें खोलकर चारों ओर देखने लगा। उसने पूछा :

"बाबा ! सब भजन सुनने आये हैं ?"

"नहीं बेटा। तुझे देखने आये हैं।"

"पर बाबा, सबको नहाना पड़ेगा न ?" प्राय: ही धनसुखलाल के यहां जाते रहने के कारण किशन को उनके यहां की परिपाटी मालूम थी अत: उसे चिंता हुई।

धनसुखलाल की धर्मभीरूता उड़ गयी। किशन की अंतिम बात सुन कर वे गंभीर हो गये। सुशीला से भी नहीं रहा गया। उसने किशन के सिर पर हाथ रखा।

किशन ने चौंककर सिर अलग कर लिया और बोला :

"मांजी। क्यों छू रही हो ? सारे कपड़े ..." कमजोरी के कारण वह वाक्य पूरा नहीं कर सका। उसने आंखें बंद कर लीं।

ऐसे समय में भी स्पर्श में दोष है क्या ? पहली बार धनसुखलाल के मन में

अपनी रूढ़ि के विरुद्ध शंका उठी। यों पुराने संस्कारों को छोड़ते समय मन में संघर्ष तो होता ही है। उसी व्यग्रता में वे बाहर चले आये।

रंजन बोली :

"दीदी। अब आप जाइये काका घबरा रहे हैं। आज आप सबने काफी हिम्मत की।"

"हम तो तेरे पीछे-पीछे चले आये और आना अच्छा ही हुआ। कचहरी के चक्कर में किशन को भूल ही गये थे। अब तू चल रही है न ?" पुष्पा ने कहा।

"नहीं रे। मैं तो इसका बुखार उतरने तक यहीं रहूंगी। भगतजी कैसे तो बर्फ घिसेंगे और कैसे क्या करेंगे ?"

"तो मैं भी यहीं रह जाऊं ? बारी-बारी से बच्चे को संभालेंगे।" सुशीला ने कहा।

डाक्टर ने गंभीरता से सुशीला को वहां रुकने के लिए मना किया। धन्ना भगत ने भी कहा :

"मां ! आप तो सब जगदंबा स्वरूप हैं। मेरे घर आपके पांव पड़े यही मेरे किशन का धन्यभाग। आप जाइये। आपका आशीर्वाद किशन की रक्षा करेगा।"

सुशीला बड़ी कठिनाई से वहां से उठी। रंजन सभी के साथ दरवाजे तक आयी और भाभी से बोली :

"मेरे लिए चिंता मत करना भाभी। किशन का बुखार उतरते ही आ जाऊंगी। रात नौ बजे तक न आऊं तो कॉफी भिजवा देना।"

सुशीला ने डाक्टर को एक ओर बुलाकर पूछा :

"डाक्टर साहब अब आपको क्या लगता है ?"

"कुछ नहीं आपको तो जरा ···"

मैं अपनी बात नहीं कर रही। बच्चे के लिए पूछ रही हूं।

"उस समय तो नाड़ी डूबती-सी लग रही थी। पर अब कुछ आशा बंध रही है ?"

"डाक्टर साहब कोई कसर न उठा रखियेगा। मैं आपको मुंहमांगा इनाम दूंगी। बच्चा बच जाना चाहिए।"

"आपका संतोष ही मेरे लिए बड़ा इनाम है। कृष्णकांत और आपके परिवार के लिए मुझे कुछ कहना नहीं पड़ेगा।"

"आप रात-भर बच्चे के पास रह सकें तो ?"

"सो तो मुझे रुकना ही होगा। रंजन बहन मुझे छोड़नेवाली नहीं हैं।"

"सुशीला ने जेब से कुछ रुपये निकालकर डाक्टर को देने चाहे किंतु डाक्टर ने हाथ नहीं बढ़ाया और मरीज की ओर घूम गये।

दोनों कारें चलने लगीं तो रंजन ने भाभी से कहा, "भाभी कार जल्दी ही वापस भिजवाना। यहां जरूरत पड़ सकती है ?"

34. धर्म संकट

मनस्ताप के आंसुओं। आओ आओ। जरा देखो कि इस मानव देह को क्यों सहेज रखा है ? और कहां कैसे इसे नित्य गुजारा जाता है। वैसे यह तो निश्चित है कि जो पल बीत गया सो बीत ही गया।

—बलवंतराय

कृष्णकांत धनसुखलाल के मकान की ओर से लौटे। धनसुखलाल ने सभी से उतरने का आग्रह किया किंतु कृष्णकांत नहीं रुके।

"तुझे ज्यादा नहीं रोकेंगे। ऐसी क्या जल्दी है ?"

"रात काफी हो गयी है। फिर आपको अभी नहाना भी है। मैं फिर आऊंगा।" बच्चे की बीमारी की परेशानी में पड़े धनसुखलाल नहाने की बात भूल ही गये थे। शायद वे ठाकुरजी के दर्शन करने सीधे अंदर ही चले जाते। किंतु कृष्णकांत ने उन्हें नहाने का ध्यान दिला दिया था अत: उन्होंने अधिक आग्रह नहीं किया। कृष्णकांत ने एक कार वहीं से रंजन के पास भिजवा दी और एक में वे तथा सुरभि घर की ओर चल दिये।

"सुशीला, पानी तैयार ही होगा। पहले तू नहा ले। फिर मैं नहा लूंगा।" धनसुखलाल ने पांव अंदर की ओर बढ़ाते हुए कहा।

"दीदी की तबियत ठीक नहीं है। अभी न नहायें तो।" पुष्पा ने पूछा।

"जैसी इसकी मरजी। कोई खास बात नहीं है। बाद में इसके बिस्तर धन्ना भगत के यहां भिजवा देना।" धनसुखलाल कह तो गये किंतु उन्हें स्वयं लगा कि वे कहीं कुछ गलत हैं।

सुशीला ने भौंह जरा टेढ़ी की।

बेचारे शूद्र। हमारे उतरे कपड़े उन्हें दिये जायेंगे? पर वह बोली यही, "मैं नहा लूंगी।"

पर वह गलत बोल रही थी। उसका मन उसी के शब्दों पर उबल रहा था। क्यों उसे छूने के बाद नहाऊं? और किसी को छूकर तो नहीं नहाते?

किंतु उसके पुराने संस्कारों ने तर्क किया, आखिर इन लोगों का काम भी तो ऐसा ही है ना? फिर विज्ञान भी तो बीमारी के कीटाणुओं के फैलने की बात कहता ही है। तभी हमारे धर्म में भी इसे जरूरी माना गया है।

पत्थर कहा है धर्म और विज्ञान ने। हम स्वयं अछूत होते तो? सारी दुनिया की गंदगी मिटानेवालों को हमने अछूत कहकर छिटका दिया है। क्यों? गंदा काम है इसलिए... उनका आभार मानना तो दूर--किसी दिन अगर वे कह बैठे कि संभालो अपना काम--तो क्या होगा? तो हम सभी को अछूत बनना पड़ेगा।

कुछ तो पिता की प्रसन्नता के लिए और कुछ पुराने संस्कारों के कारण वह नहायी। किंतु नहाते हुए उसे लग रहा था कि इस प्रकार वह पूरी अछूत जाति का अपमान कर रही है... और उनमें भी धन्ना भगत और किशन जैसे...

कौन? किशन कौन? ... उसे अपने पुत्र की याद हो आयी। निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता था कि किशन वही था या...। किंतु मां हर स्थिति में यही चाहती है कि उसकी संतान जीवित रहे।

कमजोरी के वशीभूत हो या मानवीय संवेदना के कारण, उसने एक बार रूढ़ि तोड़ी थी और उसी रूढ़ि ने आज उसे इस मनःस्थिति में ला खड़ा किया था। परंतु जिस बालक में वह वर्षों से अपने बच्चे की छाया देखती रही थी... आज अपने हाथों उसका अपमान होते देख वह झुलस गयी। ... सब ढोंग है। मैं इतनी पवित्र कहां से हो गयी कि उसे छूकर मुझे नहाना पड़े?

उसने नहाकर पूजा भी की। संध्या आरती भी की। किंतु उसे हर क्षण लगता रहा कि प्रतिमा उसकी ओर कटाक्ष कर रही है। भगवान के सामने जाने के लिए पवित्रता आवश्यक है किंतु मौत के जबड़े में फंसे उस बच्चे को छूने से वह पवित्रता नष्ट हो गयी क्या? किसी की सेवा तन-मन को पवित्र बनाती है या मात्र स्नान?

"बापूजी! ज्यादा देर तो नहीं है? खाना परसवा दूं?" पुष्पा ने पूजा पर बैठे पिता से पूछा।

"पंद्रह मिनट में आ रहा हूं। थोड़ा-सा पाठ बचा है।" धनसुखलाल गीता का यह अध्याय पढ़े बिना खाना नहीं खाते थे। आज अनायास ही बहुत कुछ घट गया था। उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उन्हें कभी अछूतों की बस्ती में जाना पड़ सकता है। उससे भी अधिक यह है कि उनकी लड़की ने अछूत को स्पर्श किया था··· फिर उन्होंने अपनी लड़की को ··· इस सबने उनकी अब तक की धार्मिकता को डगमगा दिया था।

गीता पढ़ते-पढ़ते वह सोचते जा रहे थे। कहां जान-बूझकर छुआ था? मजबूरी में··· आपत्तिकाले धर्मोनास्ति ··· भगत और किशन को कब से ही तो जानते हैं—बेचारे गरीब ··· बेसहारा ··· ऐसे में वहां जाकर क्या बुरा किया। पर जाना ही काफी हो गया क्या? ··· क्यों नहीं उससे उनकी यह झोपड़ी छुड़वा दी जाये? ··· कहीं अच्छी जगह ··· अच्छी हवा में ··· क्यों नहीं हम खुद उसके सिर पर बर्फ भी रख पाये ···और अपने इन विचारों का मुंह बंद करने के लिए वे जोर-जोर से गीता-पाठ करते जा रहे थे।

'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

वे इसी वाक्य पर रुक गये। ईश्वर के लिए कोई देह अपवित्र नहीं है और हम पामर व्यक्तियों के लिए यह भेदाभेद? भगवान सबके मन में बसते हैं। पापी मनुष्य ईश्वर के उसी मंदिर को छूने में हिचकिचाता है? उसी से दूर भागता है? यह धर्म है या अधर्म? तो क्या आजतक का सारा आचार-विचार झूठ था?

"बापूजी पाठ हो गया?" पुष्पा ने आकर पूछा।

"थोड़ी देर है।" विचारों से जागकर धनसुखलाल ने दो तीन श्लोक और पढ़े और फिर अटक गये?

'मन्मना भव मद्भ्यक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'

भगवान कहते हैं। मुझे भज। मुझे नमस्कार कर। अछूत को छूकर जो भाव उत्पन्न होते हैं ··· नहाने की जो वृत्ति जागती है ··· वही क्या प्रभु को नमस्कार है? नहीं तो।

हे स्वामी! मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा। अंधे को सहारा दो नाथ।

आ हा हा ··· भगवान तुझ आंखोंवाले अंधे को सहारा दें ··· पर तूने कभी किसी वास्तविक अंधे को भी सहारा दिया है ?

धनसुखलाल ने जैसे-तैसे पाठ समाप्त किया। आज उन्हें अपने सारे अतीत से ही असंतोष हो रहा था। अहं को ब्रह्म तक पहुंचानेवाले धर्म में यह स्पर्शास्पर्श कहां से आ गया ?

रात भी देर तक उनका मानसिक युद्ध चलता रहा। वे धर्मनिष्ठ थे, आचार-विचार के पक्के थे, किंतु मन की सरलता के कारण दुराग्रही नहीं बन पाये थे। और इसीलिए कृष्णकांत के परिवार के प्रति उनके मन में पर्याप्त स्नेह और ममता थी। यों किसी के भी पुराने संस्कार एक ही दिन में समाप्त हो भी नहीं सकते। अत: धनसुखलाल का द्वंद्व भी स्वाभाविक ही था।

किंतु धनसुखलाल के लिए जो अशक्य था, सुशीला ने संभव बना दिया। रात सोचते-सोचते उसे विश्वास हो गया कि वैधव्य की तरह ही छूतछात भी हिंदू समाज का एक कलंक ही है। वह रातभर सो नहीं सकी। उसने चार बार तो नौकरों को भिजवाकर किशन की तबियत पुछवायी। हर बार यही सूचना मिली :

"वैसी ही है।"

बार-बार वही उत्तर सुनकर वह व्याकुल हो गयी। मन हुआ कि स्वयं ही जा कर देख आये, पर यह उचित नहीं था। पिता क्या सोचेंगे ? लोग क्या कहेंगे ? एक दिन में यह परिवार अछूतों की बस्ती में क्यों घूमने लगा ? और इस अनपूछे प्रश्न का समाधान करना असंभव था।

सुबह उसे नींद आ गयी। स्वप्न में भी उसी बस्ती का चित्र आंखों के सामने खड़ा रहा। तभी किसी औरत ने आवाज दी। सुशीला घबराकर उठी, किशन कैसा होगा ?

"रंजन बहन नीचे खड़ी हैं ?"

"तो ऊपर क्यों नहीं आती ? जा बुला ला।"

"कह रही हैं, नहाये बिना ऊपर कैसे आयें ?"

सुशीला स्वयं दौड़कर नीचे गयी।

"किशन कैसा है रंजन ?"

"ठीक है। बुखार उतर गया। भाभी को वहां छोड़कर घर जा रही हूं। सोचा

तुम्हें बताती जाऊं। रातभर परेशान रही थीं। चार बार आदमी आया था।"

"अच्छा किया तूने आकर। अब ऊपर चल।"

"तुम तो छूओगी नहीं। दूर बैठाओगी।"

"आंगन तक तो भगत जी भी आते ही थे। चल आ। चाय पी ले। रात भर जागी है।"

अंदर ले जाकर सुशीला ने रंजन को एक तख्त पर बिठाया। पुष्पा भी पास ही एक चटाई बिछाकर बैठ गयी। सुशीला चाय बनाकर लायी और भूल से उसने कप तख्त पर ही रख दिया।

रंजन हंसी, "अरे दीदी। मुझे छू लिया न ? अब नहाना पड़ेगा।"

"अरे तू कहां से आ रही है ?" ऊपर से धनसुखलाल ने पूछा।

"किशन की खबर देने आयी थी काका। ये दीदी मुझे छू गयी।"

रंजन के पास तख्त पर बैठकर सुशीला ने उसे डांटा, "अब चाय पीना शुरू करेगी या बक-बक ही किये जायेगी ?"

"किशन ठीक है न ?" धनसुखलाल ने पूछा।

"हां काका।"

"अच्छा हुआ। भगवान ने भगत की सुन ली।" कहते हुए धनसुखलाल लौट गये।

रंजन चाय पीते-पीते बोली, "भगवान ने सुन ली। पर आदमी न तो सुनता है, न उन्हें छूता है। दीदी ! तुम तो अब नहाओगी न ?"

"क्या करूं ? रिवाज जो ठहरा। बापूजी को बुरा लगेगा।"

"काका के कारण ही नहाती हो तो बात अलग है।"

मन हुआ कि कह दे, सच कह रही हूं। वैसा न हो तो मैं नहीं नहाती। किंतु वह चुप रही।

रंजन के जाने पर सुशीला नहाकर पूजाग्रह में गयी। पिता पूजा कर रहे थे। पुष्पा बोली :

"बापूजी। दीदी ने एक गड़बड़ कर दी।"

"कैसी गड़बड़ ?"

"बापूजी। ऐसा हुआ कि मैं मानता मान बैठी।" सुशीला ने कुछ सकुचाते हुए कहा।

"काहे की ?"

"उसे—किशन को पैर छुआने की।"

"किसके ?"

"अपने ठाकुर जी के।"

पूजाग्रह का वातावरण एकदम गंभीर हो गया। कुछ क्षण कोई कुछ नहीं बोला। फिर धनसुखलाल बोले :

"ठीक है। सामने सीढ़ी लगवा देंगे तो बाहर ही बाहर से मंदिर में आ सकते हैं फिर जिसे भी दर्शन करने हो, करे। मैं मिस्त्री को बुलवा कर कह दूंगा।"

सुशीला और पुष्पा की जैसे सांस ही रुक गयी।

अछूत को ठाकुरजी के दर्शन करवाने के लिए धार्मिक पिता यह सब कर रहे हैं ?

35. मनोव्यथा

अरी सखी ! प्रिय मेरे सपनों में आते हैं
और मन के एकांत में आग लग जाती है ।
क्या कहूं सखी । यह मन की
लगी बड़ा दुख देती है । आशा
की बेल फैलकर फिर कुम्हलाने लगती है ।

—न्हानालाल

कृष्णकांत रंजन की प्रतीक्षा में बैठे थे। उसके घर पहुंचते ही बोले :

"देख एक रात जागरण करने का बढ़िया फल मिल गया।"

"कैसा फल भैया ?" भाई के पास ही बैठकर उसने पूछा।

"अखबारों में चर्चा भी होने लगी है। तुझ पर रेखाचित्र लिखे जाने लगे हैं।"

रंजन भौंह चढ़ाकर हंसी :

"वह कौन सी बला है भैया ? और कौन मूर्ख है लिखने वाला ?"

"अरे रे, बेचारे ने पूरे दो कालम भरे हैं। साथ ही फोटो भी छपा है। फिर भी उसे मूर्ख कह रही है ?"

रंजन ने पत्र हाथ में लिया और एक नजर देखते ही दूर फेंक दिया। "यह तस्वीर ? धत् ।"

"बुरी क्या है ? पत्र का कहना है कि तूने अछूतों की सेवा का व्रत लिया है। ऐसे में तेरा चित्र हब्शियों जैसा ही होना चाहिए। अछूतों और हब्शियों की स्थिति में फर्क ही क्या है ?"

"मेरा फोटो तुमने दिया था क्या भैया ?"

"अपना फोटो तूने ही दिया होगा। मैं क्यों देने लगा ? मेरा रेखाचित्र छपता तो मैं अपनी फोटो देता।"

"पर मेरी यह फोटो छापकर ही उसका नाम रेखाचित्र रखा है क्या ?"

"नहीं रे। तेरी तो खूब प्रशंसा की है। मैं सुनाता हूं।"

एक संपन्न परिवार की लड़की का महान त्याग।

एक धनाढ्य परिवार की पुत्री द्वारा धारण किया हुआ वेश :

राजनीतिक झंझावत में जूझते युवकों को जीवन भर की चमचमाती चकाचौंध दिखाकर यह बताने वाली कि वास्तविक वस्तुस्थिति कहां केंद्रित है, एक वीर वीरांगना का यह संक्षिप्त परिचय है :

"अरे रंजन। यह चच्चा और छछ्छा और झझ्झा क्या बला हैं ?"

"अब भैया फेंको न इसे। लिखने वाले का दिमाग कहीं चरने चला गया लगता है।" कहते हुए रंजन ने भाई के हाथ से अखबार खींचकर फेंक दिया।

"अपने मित्र की यह आलोचना ?"

"मेरा कौनसा मित्र ?"

"वही, विमोचन।"

"मेरा मित्र कैसे ? वह तुम्हारा मित्र है। तुम ही उसे सबसे पहले घर बुलाकर लाये थे।"

"क्या करता ? उसकी बातें बड़ा मनोरंजन करती हैं, इसीलिए ले आया था पर बाद में तो तेरा ही मित्र बन गया।"

"बन गया मेरा मित्र।" कहकर रंजन ने मुंह बिचका दिया।

"अरे ले। साहित्यकार महोदय खुद ही चले आ रहे हैं।" खिड़की की राह विमोचन पर दृष्टि जाते ही कृष्णकांत बोले।

"भैया कह देना मैं सो गयी हूं। और सचमुच मुझे नींद आ रही है। बारह बजे उठकर जाऊंगी तब भाभी को भेजूंगी।" कहकर रंजन कमरे से बाहर चली गयी।

धीर, गंभीर गति से विचार में डूबी अपनी झुकी आंखों से किसी को खोजते हुए लंबे तड़ंगे साहित्यकार महोदय हाथ में एक पुस्तक और अखबार की प्रति लेकर पहुंचे।

"आइये आइये साहित्यकार महोदय।"

"चाहे जिस तिस को साहित्यकार कहकर हम लोगों ने इस शब्द को कितना सस्ता बना दिया है ?" विमोचन की मान्यता थी कि ऐसा नियम बन जाना चाहिए कि उस जैसे इक्का दुक्का गुजरातियों के अतिरिक्त किसी को भी साहित्यकार न कहा जाय।

"अरे भाई। अभी कहां ये शब्द सस्ता हुआ है ? मुझसे तो कई बार बोला ही नहीं जाता। जीभ को पूरी तरह ट्विस्ट करवा देता है।"

"रंजनगौरी नहीं हैं ? मैं दो तीन जगह उन्हें खोज आया हूं। अंत में पता चला कि घर गयी हैं ?"

"हां आ तो गयी है, पर रात भर के जागरण के कारण सो गयी।"

"बहुत अच्छा। आराम करने दीजिये। मैं बैठा हूं।" विमोचन निश्चित होकर बैठ गया। कृष्णकांत सोचने लगे कि एक हास्य-लेखक ने गोंद का वर्गीकरण किया था, उसमें गौंदिया साहित्यकारों को भी स्थान दिया गया था या नहीं। साहित्यकारों का यह उपद्रव कोई नया तो है नहीं।

कुछ देर बाद कृष्णकांत बोले, "रंजन आप पर बहुत नाराज हो रही थी।"

"क्यों भला ? उन्होंने मेरा रेखाचित्र पढ़ा ?"

"उसने तो अपना चित्र देखते ही अखबार फेंक दिया कि जिसमें चित्र ऐसा हो, रेखाचित्र कैसा होगा ?"

यही उसने सोचा था।

"यह भूल हो गयी। मुझे उनकी रसवृत्ति को समझना चाहिए था। आजकल पत्रों में चित्र साफ उभरते ही नहीं। मैं उससे क्षमा मांग लूंगा।"

"अब वह तो उठते ही बारह बजे चली जायेगी।"

"कहां ?"

"वह भगत है न ? उनके यहां ?"

"अच्छा ? तब तो मैं भी कल की ही तरह उनके साथ जाऊंगा।"

"आप कल उसके साथ थे ?"

"जी हां। अन्यथा मैं वह रेखाचित्र कैसे लिख पाता ?"

"आप कहां से उसके साथ हो लिए थे ?"

"कचहरी में उन्हें नहीं देखा तो पुष्पा बहन से पूछ लिया। उन्होंने बताया कि रंजनगौरी घर गयी हैं। उन्होंने कोई कारण नहीं बताया तो मुझे चिंता होने लगी। मैं सब छोड़-छाड़कर यहां भागा तो देखा, रंजनगौरी बैठी रो रही थीं। पता नहीं क्यों। मगर मेरे आने पर खुश हो गयीं।"

"मुझे कुछ पता ही नहीं। मैंने आपको कचहरी में खोजा था।"

"मैं कल वापस आता लेकिन रंजनगौरी ने कचहरी में आने से इंकार कर दिया। रंजनगौरी को याद आया कि धन्ना भगत का किशन बीमार है अतः उसे देखने जाना चाहिए। मैं भी साथ चला गया। वहीं से प्रेस पहुंचकर मैंने रंजनगौरी का रेखाचित्र तैयार करके कल ही अखबार में छपवाया।"

'रंजनगौरी' शब्द का अधिकाधिक उच्चारण करते हुए विमोचन ने रेखाचित्र का इतिहास बताया।

जिस समय विमोचन रंजन का नाम जप रहा था रंजन सोने का प्रयत्न कर रही थी। कहा जाता है कि प्रयत्न करने पर कुछ असंभव नहीं, किंतु एक नींद है जो नहीं मिल पाती। पुष्पा को अरुण की देखभाल का काम हंसते हुए सौंपने के तुरंत बाद रंजन को एकांत की खोज में घर भागना पड़ा था। उसने सोचा, आंसू ही उसके भार को हल्का कर सकते हैं। और हुआ भी यही। घर पहुंचकर अपने कमरे में पांव रखते ही आंसू बांध तोड़कर बह चले थे।

किसके लिए? क्यों? किसी और को इस प्रकार रोते देख रंजन कितना हंसती। अब तक वह सोचती रही थी कि नारी की स्वतंत्रता ही उसके लिए पर्याप्त है। इसीलिए वह सभी से मिलकर मिठास बिखेरते और मिठास समेटते हुए अनेक पुरुषों के मन में आग लगा देती थी और फिर भी स्वयं स्थिरचित्त रहती थी। आज से पूर्व उसे कभी नहीं लगा था कि नारी के लिए पुरुष अनिवार्य है। यों पुरुषों के प्रति उसके मन में कोई द्वेष भी नहीं था। अतः वह जिस प्रकार स्त्रियों से मिलती थी, उसी सहजता के साथ पुरुषों से भी मिलती थी। वह पुरुषों और स्त्रियों के लिए समान रूप से प्रिय थी। कृष्णकांत की ही तरह उसके स्वभाव में कटुता का लेश नहीं था अतः उसका कोई विरोधी नहीं था। हां, उसे यह मालूम नहीं था कि उसने अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण बेचारे कई युवकों को अपना दीवाना बना दिया था।

भाई-भाभी के मुंह से विद्रोही अरुण के विषय में सुनकर उसे काफी कौतूहल हुआ था। उसी आधार पर उसने कल्पना में ही अरुण की जो आकृति गढ़ी थी, मिलने पर भी उसे वैसा ही पाकर उसे आश्चर्य और आनंद हुआ था। ऐसे विद्रोहियों के साथ रहने की सभी की इच्छा होती है। रंजन की भी हुई थी। और कई दिन तक निकट रहने पर उसने चाहा था कि वह इसी प्रकार सबसे अलग ही रहे और सबसे अलग रहकर वह मात्र रंजन को ही अपने निकट चाहे। रंजन के मन में तब पुरुष के प्रति प्यास जागी थी। अपने स्वतंत्र जीवन में किसी का प्रवेश देखकर चौंक पड़ी। लगा वह बंधती जा रही है।

और कई बंधन इतने मीठे होते हैं कि उनसे मुक्त होने का मन नहीं होता। जी करता है, यह बंधन और कसता ही जाये।

और जब उसने देखा कि पुष्पा के मन में भी वही अरुण आसन जमाये बैठा है तो उसे लगा कि नारी जीवन में पुरुष के अस्तित्व के बिना सिर्फ अंधकार है और उसके मन में अरुण की कामना जागी। उसी कामना के वश हो वह जुलूस के साथ गयी। उसने ध्वजा रोपी, घायलों की देखभाल की और जब उसने देखा कि पुलिस अरुण को ले जाने के लिए बाहर खड़ी है तो वह सुध-बुध खो बैठी और पकड़ी गयी। अरुण और पुष्पा दोनों के हाथों उसकी चोरी पकड़ी गयी थी। उसने पुष्पा की मनोव्यथा को अपनी ही व्यथा की तुला पर तोला और अप्रत्याशित उदारता के आवेश में आकर वह अपनी सहेली के लिए एक भयंकर त्याग कर बैठी।

किंतु उसका फल ? रंजन के अंतर को शून्य ने आ घेरा। उसमें खड़े रहने भर की भी शक्ति नहीं रही। वह जैसे तैसे घर तो पहुंच गयी किंतु वहां पहुंचते ही उसके धैर्य का बांध टूट गया। मनुष्य हृदय की भाषा तीन ही माध्यमों से व्यक्त होती है, वाणी, संगीत, और आंसू। अरुण को छोड़ना जितना आसान था, उसकी याद को भुलाना उतना ही कठिन। आंसू रुकने पर उसने ऊपर देखा तो पाया कि सारा घर ही जैसे खंडहर हो गया है।

तभी उसने अपने दीवाने विमोचन को देखा। एकांत से तो भूत की बस्ती भी भली। रंजन ने उससे खूब बातें कीं। खूब हंसी और बहुत कम हंसनेवाले विमोचन को भी हंसाया। उसे लगा कि यदि उसने अपने मन को कहीं डुबोया नहीं तो हृदय फट पड़ेगा। विमोचन के साथ सदा बातें करते नहीं बैठा जा सकता था।

तभी रंजन को धन्ना भगत की याद आयी। साथ ही किशन भी याद आ गया। वह बीमार था। पता नहीं क्या बीमारी थी उसे ? अंधा भगत कैसे उसे संभालता होगा ? देख आया जाये। जल्दी से तैयार होकर रंजन चल दी। विमोचन भी साथ गया। वहां मौत से जूझ रहे किशन को देखकर जब रंजन डाक्टर को बुलाने निकली तो विमोचन ने इस अवसर को हाथ से जाने देना उचित नहीं समझा। उसने किशन की बीमारी में रंजन द्वारा की गयी देखभाल को अछूतोद्धार का नाम देकर रंजन पर एक रेखाचित्र लिखकर छपवा दिया। और आज उसी का सुपरिणाम देखने सुबह-सुबह आ पहुंचा था।

किंतु रंजन उसे देखकर अपने कमरे में जा छिपी थी। रातभर जागी थी। थकान भी थी अतः सोचा कि नींद आ जायेगी। आंखें बंद करते ही आंखें मलता हुआ अरुण उससे पूछने लगा :

"आपने मुझे जगाया था ?"

"हां, क्यों ?"

"मैं उस समय जाग रहा था ?"

चित्र आगे बढ़ा :

"पर आपने मुझे जगाया किस तरह ?"

जैसे किसी तिलस्म के जोर से कोई भिखारी किसी राजकुमारी के कक्ष में पहुंच कर घबराते हुए यह पूछ रहा हो। और रंजन ने अपनी लज्जा से घबराकर शैतानी-पूर्वक होंठों पर उंगली रखकर बताया, "उंह देखो, ऐसे जगाया था।" उस समय के हवाई चुंबन की आवाज रंजन ने स्पष्ट सुनी। वह घबराकर उठ बैठी। यह कैसे चलेगा ? जिसे छोड़ना चाहें, वह आंखों के सामने से हटता ही नहीं।

वह चारों ओर कुछ खोजने लगी। किसका सहारा लेकर वह इस सबसे उबर सकती है ? उसे दिलरुबा दिखाई दिया। पर क्या होगा इससे ? यह तो फिर उसी सबमें डुबो देगा। उसने एक जासूसी पुस्तक उठायी। दो-तीन पंक्तियां पढ़ते न पढ़ते जुलूस में झंडा लिये चल रहे अरुण की पदचाप सुनाई देने लगी। अरुण के हाथ से झंडा लेकर दौड़ने तक का दृश्य भी वह शांति से देखती रही। किंतु बेहोश अरुण को धनसुखलाल के मकान में ले जाते देख उसने पुस्तक फेंक दी।

खुली आखों में भी वही सब ? और वह एकांत से घबराकर बाहर आयी। उसने सोचा कि इस तरह अकेले में रहकर अपने आप से लड़ने की अपेक्षा तो विमोचन से बात करना कहीं सरल है।

रंजन को बाहर आते देख विमोचन ने चेहरा दयनीय बना लिया।

36. बदलते रंग

एक दीपक दिप दिप कर मुंद रहा है। पानी में ज्वार चढ़ा है।
एक चंद्रमा आकाश में लहरा रहा है। पानी में ज्वार चढ़ा है।
एक कुमुद खिलते खिलते बंद हो रहा है। पानी में ज्वार चढ़ा है।

—न्हानालाल

जीवन में कई नाटक करने पड़ते हैं। विमोचन ने चेहरे पर दयनीयता ओढ़ ली। इस तरह भी यदि रंजन का प्यार मिलता हो तो विमोचन को आपत्ति कैसी ? पर रंजन ने अपने भाई की ओर देखा तो लगा, वह हंस रहे हैं।

"भैया, हंस क्यों रहे हो ? क्या बात है ?"

"विमोचन ने किसी सब्जी पर कविता लिखी है। कौन-सी सब्जी है वह विमोचन ?"

किसी भी कवि से इस प्रकार की बात कहना उसका सबसे बड़ा अपमान है। कवि ऐसे क्षुद्र विषयों की ओर देखते ही नहीं। वे तो सिर्फ आकाश की ओर देखते हैं या फिर पाताल की ओर। रोज दिखने वाले पदार्थों का उनके लिए कोई अस्तित्व नहीं।

विमोचन फिर गंभीर हो गया। रंजन बोली :

"हैं ? हां ठीक भी है। फूल पर तो पहले ही लिख चुके थे। अब फल आने ही चाहिए।"

"नहीं नहीं। कृष्णकांत मेरी बात नहीं समझे।" प्रायः ही लोग कवियों का मंतव्य नहीं समझ पाते।

"अरे हां याद आया। लचकाती कारेली या मचकाती कारेली या फिर शायद लचकाती और मचकाती दोनों तरह की कारेली···ऐसा ही कुछ था।" कृष्णकांत

ने याद करके कहा। कृष्णकांत और रंजन, दोनों हंस पड़े। पर रंजन ने हंसते-हंसते विमोचन का पक्ष लेकर कहा :

"तुम भी भैया गड़बड़ करते हो। वह लड़कियों वाला गीत होगा।"

"हां हां वही। मैं इन्हें समझा रहा था कि कारेली।[1] सब्जी के लिए नहीं, कां रे अली[2] का संक्षिप्त रूप है। उल्टे ये तो हंसने ही लगे।" विमोचन ने आपनी पीड़ा बतायी।

कवि सिर्फ कवि ही नहीं होते, वे जो चाहे कर सकते हैं। वे कविता के साथ-साथ कहानी, नाटक, उपन्यास, आलोचना और भाषा विज्ञान सभी कुछ लिख सकते हैं। और जो वे स्वयं लिखते या जानते हैं, वह सभी को बताने की परोपकारी वृत्ति ही साहित्यकार को जन्म देती है। कारेली 'कां रे अली' का संक्षिप्त रूप है, यह अन्वेषण करते ही विमोचन इस ज्ञान प्रसरण के लिए उद्यत हो गये। शायद ही विमोचन का कोई परिचित बचा हो जो इस ज्ञान-प्रकाश से वंचित रहा हो। एकबार तो वह गाड़ी में टिकिट कलक्टर को भी इस शब्द का रहस्य समझाने लगा था।

विद्वानों के सान्निध्य में समय बीतना कठिन नहीं होता। बारह बजते ही रंजन उठी तो विमोचन ने कहा :

"मैं भी आपके साथ ही चल रहा हूं।" क्या करती रंजन ? उसे स्वीकार करना पड़ा।

कार में बैठे विमोचन का पूरा शरीर हिल रहा था। उनकी गर्दन हिलती जा रही थी और आंखें चारों आर घूम रही थीं। रंजन ने पूछा :

"विमोचन भाई। तबियत तो ठीक है आपकी ?"

"हां, हां तबियत तो ठीक है।"

"मुझे लगा कि आप कुछ बेचैन हैं।"

"नहीं, वैसी तो कोई बात नहीं ··· पर ··· एक बात कहनी थी।"

"तो कहिये ना।"

"बुरा तो नहीं मान जायेंगी ?"

1. करेला

2. क्यों री सखी।

"बिलकुल नहीं।"

"तो कहता हूं। पर देखिये, बुरा नहीं मानेंगी ?"

"मैं विश्वास दिलाती हूं। और तो क्या ?"

विमोचन की जीभ तालु से चिपक कर रह गयी। जिस बात को कहने के लिए अवसर की तलाश थी, अवसर मिलते ही वाणी दगा दे बैठी।

बड़ी कठिनाई से वह बोला :

"नहीं, फिर कभी।"

"ऐसी क्या बात है ? आपको मेरी सौंगध ? जो कहना चाहते हैं, कह डालिये।" रंजन ने कहा। अब विमोचन ने अपनी सारी शक्ति समेट कर अपने कवि के विरुद्ध सहज भाषा में कहा :

"रं···जन···गौरी।···मैं···आपको चाहता हूं।"

"आपका आभार मानती हूं।"

"कारण ?"

"आप जैसे विद्वान मुझे चाहें, यह क्या कम सम्मान है ?"

किसी विद्वान साहित्यकार का प्यार पानेवाली नारी सचमुच ही सम्मान की पात्र है। विमोचन की अस्थिरता कुछ कम हुई। विमोचन को अपने कवित्व के प्रति सकारण गर्व हुआ। उसे विश्वास हो गया कि कवित्व सभी प्रकार की सफलता की कुंजी है। रंजन की अधिक निकटता पाने की इच्छा से उसने कहा :

"मेरा अहोभाग्य।"

"कैसे ?"

"मेरा उद्देश्य सिद्ध हो गया।"

"मैं कुछ समझी नहीं।"

"मैं अब तुम्हें पा सकूंगा।" विमोचन में अब काफी हिम्मत आ गयी थी। यों यह कहना भी गलत ही है कि उसमें हिम्मत नहीं थी।

"यह आपने कैसे सोच लिया ?"

"तुम मुझे चाहती हो, इसीलिए।"

"मैंने ऐसा कब कहा ?"

"अभी तो कहा है न कि मैं तुम्हें चाहता हूं, इसमें तुम अपना सम्मान समझती हो।"

"वह तो ठीक है। लेकिन मैं आपको चाह कैसे सकती हूं? मेरी हैसियत ही क्या? मुझ में इतनी हिम्मत नहीं है।"

"तुम अपना मूल्य कम मत आंको। विवाह के बाद हम हमेशा साथ रहेंगे। मैं तुम्हें लेखन आदि में सहायता दूंगा।" विमोचन ने हिम्मत बढ़ायी रंजन की।

"अरे नहीं विमोचन भाई। आप मेरा साथ ढूंढेंगे न, तो आपकी कविता रौद्र रस से चलकर करुण रस में डूब जायेगी। मैं आपको ललित छंद रचना के बीच नहीं छोड़ पाऊंगी।" रंजन ने हंसकर कहा।

तभी विमोचन का आफिस आ गया। रंजन ने गाड़ी रुकवाकर विमोचन का ध्यान उस ओर मोड़ा। अप्रसन्न विमोचन उतर तो गया किंतु उतरते हुए बोला, "आप जैसा समझती हैं, वैसा नहीं है। मैं आपको समझा सकता हूं। कहें तो साथ चलूं—आगे बात कर सकेंगे।"

"नहीं, फिर कभी। एकदम तो मैं घबरा ही जाती हूं।"

"कोई बात नहीं। फिर कभी सही।"

दोनों अलग हुए। विमोचन की आशा अभी समाप्त नहीं हुई थी। रंजन का समय भी जरा ठीक से कट गया था। उसे विमोचन पर क्रोध नहीं आया। पुरुषों के संपर्क में रहते हुए इतनी संवेदनशीलता संभव भी नहीं।

धन्ना भगत के घर पहुंचकर रंजन ने भाभी को घर भेज दिया। किशन की तबियत काफी ठीक थी। डाक्टर एकबार आकर देख गये थे। सुशीला ने भी किशन की तबीयत पुछवायी थी। रंजन को बाहर आया जान धन्ना भगत परेशान हुए :

"अरे बहन। यह क्या कर रही हो? हम पर कितनी दया करोगी?"

"क्या हुआ बाबा? हमें कोई काम भी तो नहीं है। यहां तो मुझे खूब अच्छा लगता है। आपकी बातों से बड़ी शांति मिलती है।"

"अरे बहन। मुझ पापी की बात में ऐसा क्या है? भगवान का उल्टा-सीधा नाम लेता हूं और इस किशन की तरफ देखकर दिन बिताता हूं।"

"बाबा ! आपको बहुत तकलीफ होती होगी । आंखों के लिए दुख होता होगा न ?"

"आदत पड़ गयी है । और जिन आंखों से भगवान को न देखा जा सके, वे आंखें रहें तो क्या और न रहें तो क्या ?"

इसी तरह की बातों में रंजन अरुण की याद को भुलाने का प्रयत्न कर रही थी। किंतु सारे ही दिन तो विमोचन की बकवास या धन्ना भगत की बातें नहीं चल सकतीं। धन्ना भगत शांत थे अतः रंजन को बार-बार अरुण का ध्यान हो आता।

'क्या पागलपन है यह ?' वह बुदबुदायी।

बीच में सुशीला और पुष्पा भी आ गयीं।

"अरे तुम लोग कैसे ?"

"क्यों किशन को देखने।"

"कैसे आ सकीं ?"

"देख आ गयीं न ?"

"काका को पता चलेगा तो ?"

"और उन्होंने ही हमें भेजा हो तो ?" सुशीला ने प्रतिप्रश्न किया। यह रंजन के लिए चौंकानेवाली बात थी। पिछले दिन उसके पीछे आते हुए यहां आ फंसना और बात थी किंतु यों चलकर आना असंभव था। ऊपर से धनसुखलाल स्वयं अपनी लड़कियों को भेजें, यह तो रंजन को एकदम असंभव लगा।"

"सच कह रही हो दीदी ? मुझे विश्वास नहीं हो रहा।"

"और जब मैं किशन को अपने ठाकुरजी के दर्शन करवाऊंगी तब तो मानेगी?"

कुछ देर वहां रुककर पुष्पा ने उठने का उपक्रम किया :

"दीदी ! चलो ना। फिर देर हो जायेगी।"

"कहां जाना है ?" रंजन ने पूछा।

"चौकी पर !"

"क्यों ?"

"सबसे मिल आयें।" पुष्पा ने कहा।

"सबसे, यानी अरुणकांत से।" हंसते हुए ही रंजन ने पूछा किंतु अपना ही प्रश्न उसे शूल की तरह छेद रहा था।

सुशीला ने स्थिरता से रंजन के सामने देखा। फिर पुष्पा की ओर। झोपड़ी के धुंधले प्रकाश में भी पुष्पा के चेहरे की लाली छिपी नहीं रह सकी। सुशीला के चेहरे पर कठोरता आ गयी। उसे अपने अतीत की पुनरावृत्ति दिखाई दी।

लड़की इतनी बड़ी हो गयी——करे भी क्या? और सुशीला अपनी कठोरता को पचा गयी। कुछ ठहरकर उसने रंजन से पूछा :

"रंजन! तूने अरुण का नाम कैसे लिया?"

"वह तो पुष्पा से ही पूछो दीदी।"

"दीदी, चलो यह तो बेशर्म है।" कहकर पुष्पा खड़ी हो गयी।

दोनों के जाने पर रंजन का मन उसे कचोटने लगा।

पुष्पा मिलेगी और मैं मिल भी नहीं सकती।

किशन को फिर हल्का बुखार हो आया था अतः डाक्टर को बुलाने और बुखार उतरने तक वहीं रुकने में शाम बीत गयी। किंतु रात में घर लौटते हुए उसका मन वश में नहीं रहा। वह जानती थी कि रात में जेल के अंदर जाने की अनुमति नहीं मिल सकती। उसे यह भी पता था कि जेल की कोठरियां ऐसी नहीं होतीं कि रास्ते चलनेवालों को अंदर वाला व्यक्ति दिखाई दे सके। फिर भी उसने गाड़ी उस ओर ले ली।

जेल के पास ही उसने गाड़ी रोक दी। दस के टकोरों ने रात्रि की निस्तब्धता का भान कराया। जेल के एक ओर जेलर के रहने की व्यवस्था थी और दूसरी ओर थाना। बीच में लोहे के सींकचों से बने पिंजरों में अरुण और उसके साथी जमीन पर पड़े होंगे——रंजन ने कल्पना की। उसे क्रोध आया। मन ही मन बोली,

'इन सब कैदखानों को तोड़ डालना चाहिए।'

एक पहरेदार ने आवाज दी, "कौन है?"

रंजन को यथार्थ की प्रतीति हुई।

"नागरिक।" बंदूक के डर से शोफर ने उत्तर दिया और गाड़ी आगे बढ़ा दी।

अरुण को जेल में बंद करनेवाली सत्ता की प्रजा बनकर रहना, और प्रजा बनकर इस प्रकार भागना रंजन को अपमानजनक लगा। उसने सोचा, भारत में जितने पुरुष हैं, स्त्रियां उनसे कम नहीं हैं। सोलह करोड़ स्त्रियों में से एक करोड़ भी यदि एकत्र हो जायें तो स्वराज्य हाथ में ही है। पर एक करोड़ पुरुष ही इसके

लिए तैयार नहीं तो स्त्रियों की क्या बात की जाय ? स्त्रियां तो स्वयं ही अपने घर और पर्दे में कैद होकर बैठी हैं।

कहीं ये कैदखाने स्त्रियों के इन नामहीन कैदखानों के ही तो प्रतीक नहीं हैं ?

घर पहुंचकर रंजन बिस्तर में ढेर हो गयी। पड़े पड़े वह सोचती जा रही थी :

नारी जाति को जेल में बंद रखनेवाला है पुरुष। लेकिन स्त्रियां क्यों इस जेल से बाहर नहीं निकलतीं ? स्वयं क्यों उसकी ओर दौड़ी चली जाती हैं ? हर विवाह एक जेल खड़ी कर देता है…

"रंजन।"

कृष्णकांत बाहर से बुला रहे थे। इस समय भाई क्यों बुला रहे हैं ? वह उठकर बाहर आयी।

कृष्णकांत शायद ही कभी परेशान दिखाई देते थे।

"देख तू जरा सुरभि के पास बैठ। मुझे जाना पड़ेगा।"

"कहां ?"

"जेल में आग लगी है। जनार्दन, अरुण, कंदर्प, सभी वहां हैं।" रंजन सिहर उठी।

"मैं भी चलूंगी भैया।"

"सुरभि भी कह रही है। पर तुम घर ही रहो।"

"नहीं भैया। घर पर नहीं रहा जायेगा।" कहकर रंजन ने चप्पल पहने और बाहर निकली।

सुरभि का रंग उड़ गया था। एकमात्र भाई। जेल में भी आग से घिर गया… वह रो भी नहीं पा रही थी।

"चलो भाभी।" कहकर रंजन ने हाथ पकड़ कर भाभी को खड़ा किया और तीनों चल दिये।

मार्ग में रंजन ने पूछा :

"तुम्हें कैसे पता चला भैया ?"

"काका का टेलीफोन आया था। पुलिस का भी।"

देखते-देखते कार जेल तक पहुंच गयी। वहां भीड़ और शोरगुल का पार नहीं था। मनुष्य के हाथों न टूट सकनेवाला कारागृह प्रचंड अग्नि शिखाओं में स्वयं अपनी आहुति दे रहा था।

लपटें खिड़कियों और जालियों में से अपनी राक्षसी जिह्वाएँ बाहर फेंक रही थीं। लकड़ियां जहां-तहां से चटक-चटक कर गिर रही थीं। लोह-खंड गिर रहे थे। सारी इमारत राख बनकर बिखरती जा रही थी। लाल पीली अग्नि की फुहार ऊपर उड़ रही थी और अग्नि का सुवर्णरंगी झरना प्रचंड वेग से बह रहा था। सौ फुट दूर से फेंके जा रहे सारे पानी को पीकर भी अग्नि की प्यास नहीं बुझ रही थी। आग मानव और जल की हंसी उड़ाते हुए रात्रि के श्याम फलक पर विचित्र रंगों से यमपुरी का चित्र अंकित कर रही थी।

प्रकृति पर वश न चले तो अपने ही अवलंब पर अग्नि झपट पड़ती है। यह भी नहीं सोचती कि वह भी समाप्त हो गया तो अपना अस्तित्व भी नहीं रहेगा। उसे ऐसा करने में जरा भी दुख नहीं होता।

मनुष्य भी पागल ही है। इसी प्रकृति का एक अंश। अन्यथा वह आत्मघाती होता? अपनों की ही गर्दन रेतना? एक दूसरे की छाती में कटार घोंपता? क्या अंतर है अग्नि के अंधत्व और मानव के अविचार में?

होगा? कुछ तो अंतर होगा ही। अन्यथा सुरभि की चीख क्यों निकलती?

धुएं के बादल के बीच एक खिड़की में एक मानवाकृति दिखायी दी। भीड़ चीख पड़ी। पुरुष के हाथ में कुछ था। पुरुष ने उसे कस कर छाती से चिपका रखा था। छोटे से बच्चे को इस प्रकार छिपाये खिड़की की राह मार्ग खोजते उस व्यक्ति को अग्नि ने देख लिया। उसने अपनी राक्षसी जिह्वा बढ़ाई। यह पुरुष अग्नि से घिर गया। क्षणभर को लपट वापस लौटी। मानो सभी को अपने भविष्य का परिचय दे रही हो। और अगले ही क्षण उसने और भी बड़ी लपट फेंकी।

उस व्यक्ति के पांव डगमगाये। उसकी गर्दन एक ओर ढुलक गयी। उसने बच्चे को छाती से और भी अधिक दबा लिया और वह खिड़की से कूद पड़ा।

सारे जन-समूह की श्वास रुक गयी। मात्र कार में बैठी सुरभि की चीख सुनाई दी :

"भैयाऽऽऽ"

अग्नि की लपटें आकाश तक उठ रही थीं। सभी का आह्वान करते हुए वह सौ-सौ मुखों से हंस रही थी।

मनुष्य संबंधों को वह नहीं पहचानती।

37. अग्नि स्नान

ये सारे फूल तो घड़ी भर को ही खिलने वाले हैं।
आखिर तो अग्नि शिला पर ही पांव रखते आगे बढ़ना है।

—न्हानालाल

मात्र तीन ही घंटे हुए थे जब रंजन वहां पूर्ण शांति देखकर घर गयी थी। समझदार व्यक्ति कई बार ऐसे कार्य करते हैं, जिनकी कोई तुक समझ में नहीं आती। जब अरुण को देख पाना संभव ही नहीं था तो अरुण को घेरे खड़ी दीवारों को देखकर क्या मिल जाता ? यों अरुण भी दीवार के पार कुछ खोजता रहा था। दो दिनों से उसने रंजन को नहीं देखा था और उसकी दृष्टि रंजन को खोजती फिर रही थी। किंतु उसकी भौतिक आंखों को क्या पता कि रंजन जेल की दीवारों के पार से उसे देख रही थी। अरुण उस समय जनार्दन और कंदर्प के साथ हिंसा-अहिंसा के दर्शन की चर्चा में उलझा था।

"हिंसा के बिना भारतवर्ष की स्वतंत्रता असंभव है।" कंदर्प ने जोर देकर कहा।

"तो फिर यह भले ही पराधीन रहे। खून रंगी स्वतंत्रता के बिना भी भारत का काम चल सकता है।" जनार्दन ने कहा।

"यह आपकी अपनी बात हो सकती है, किंतु नया भारत तो स्वतंत्रता की ही प्रतीक्षा में है। अहिंसा से मिले तो जरूर ले लो और न मिले तो हमें कहियेगा। हम तो हिंसा से भी स्वतंत्रता लेने को तैयार हैं।" कंदर्प ने कहा।

"यों इतिहास भी कहता तो नहीं कि हिंसा बगैर कभी किसी को स्वतंत्रता मिली है।" अरुण ने कंदर्प का पक्ष लिया।

"इतिहास तो मात्र तथ्यों का साक्षी है। किंतु यह कहना कि जो भूतकाल में

नहीं हुआ है, भविष्य में भी नहीं हो सकता, इतिहास के प्रति अन्याय है। हमें तो मार्गदर्शन लेकर नया इतिहास गढ़ना है।" जनार्दन बोले।

"मानव हृदय में ऐसा है क्या जिस पर हमें श्रद्धा हो सके ? बिना भय के कोई कुछ देने वाला नहीं है।" कंदर्प ने प्रतिवाद किया।

"तू कौन से भय से इस जेल में आया है ? तू कहता है कि तू फांसी पर चढ़ने को तैयार है। इसमें तेरा कौनसा स्वार्थ है ?" जनार्दन ने पूछा।

"भय न सही, स्वार्थ तो है ही।"

"कौनसा स्वार्थ ?

"देश की स्वतंत्रता का।"

"उससे तुझे क्या मिलेगा ? शायद उससे पहले ही तुझे फांसी हो जाय। मृत्यु के बाद मिलने वाली स्वतंत्रता तेरे लिए किस काम की ?"

"मेरे भाई उसका उपभोग करेंगे।"

"तेरे कोई भाई है क्या ? मेरा तो ख्याल है कि तू अपने माता पिता की अकेली संतान है।"

"मैं सहोदर भाइयों की बात नहीं कर रहा हूं। मेरे देश-बांधव ही मेरे भाई हैं।"

"और यह तेरा देश कहां से आया ?"

"मेरी भावना में से।"

"उसी भावना के कारण तूने अपने घर की सीमा को बढ़ाकर भारतवर्ष की सीमा में एकाकार कर दिया। यही न ? तो ऐसा करते समय तुझे किसी को मारना पड़ा था क्या ?"

"बेशक नहीं। लेकिन मैं समझ नहीं पा रहा कि आप कहना क्या चाह रहे हैं।" कंदर्प ने उलझन में पड़कर कहा।

"जनार्दन जी कहना चाह रहे हैं कि देश को अपना मानने में हमें हिंसा नहीं करनी पड़ती। ठीक है। किंतु इसी हमारे देश को बेड़ियों में जकड़ने वाले विदेशियों का क्या हो ?" अरुण ने पूछा :

"मैं भी तो यही पूछ रहा हूं कि जिस भावना ने तुम्हारे घर को देश की सीमा में मर्यादित कर दिया, उसी भावना को कुछ और विशाल बनाया जाय तो ?"

"शायद हम एशियाई भावना स्थापित कर सकें ?" अरुण ने कहा।

"हां। और यह कदम अनुचित नहीं है। भूगोल और संस्कारों की सीमा का छोर नहीं है। किंतु इस कदम के बाद हम अगले कदम में क्या सारी पृथ्वी को अपना नहीं बना सकते ? हम देशाभिमानी बनकर एशियाभिमानी बनें तो उसके बाद उसी अभियान में सारी पृथ्वी को समोते क्या देर लगेगी। गुजराती होकर हमें भारतीय कहलाने में आपत्ति नहीं। भारतीय होकर हम एशियाई व संस्कृति पर भी अभिमान कर सकते हैं तो फिर मानव संस्कृति के प्रति अभिमान संजोने में हमें क्या आपत्ति हो सकती है ? यह हमें असंभव क्यों लगता है ?"

"तो यही कहिये न, कि हम अंग्रेजों को हम पर राज्य करते रहने दें।" कंदर्प ने रोष में भरकर कहा।

"मैं तो यही चाहता हूं कि कोई किसी पर राज्य करे ही नहीं। सभी मिल जुलकर संसार के काम चलावें।"

"हमें कोई वैसा करने देता है क्या ? कोई भी यह नहीं पूछता कि हम अपने देश में ही खुश हैं या नहीं। तो फिर संसार की तो बात ही क्या ?"

"इसीलिए तो हम स्वतंत्रता मांग रहे हैं। मांगने पर नहीं मिली, अत: हम उनका तंत्र निरर्थक कर डालने के प्रयत्न में हैं।"

"वह हिंसा के बिना संभव नहीं।"

"भारत को यही असंभव संभव कर दिखाना है। हिंसा बिना, यानी दुश्मन बने बिना कैसे लड़ा जा सकता है, भारत यह बतायेगा। और उसी आधारशिला पर मानव महाराष्ट्र खड़ा होगा।"

"पर यह रोशनी कैसी है ?" तीनों चौंककर खड़े हुए।

"तीनों को कैदियों की सामान्य कोठरियों से निकाल कर मकान के एक कमरे में रखा गया था। धनसुखलाल व कृष्णकांत ने इसके लिए काफी दौड़-धूप की थी। साथ ही नृसिंहलाल व अरुण के पिता ने भी अपने बच्चों के आराम की दृष्टि से दबाव डाला था। अस्तु ऊपर की मंजिल में आफिस के पासवाले हवादार कमरे में उन्हें जगह मिल गयी थी।

कमरे के सामने खुला बरामदा था। और बरामदे के उस पार जेलर का आवास था। बरामदा जाली से बंद था। आफिस और इनके कमरे के बीच एक गलियारा था जिसे बंद कर देने मात्र से ही अभियुक्त कैदी बन जाते थे। बरामदे के सामने

की खिडकी से ही एक लपट दिखाई दी। तीनों ने जाली के पास जाकर देखा, आग की लपट बढ़ती जा रही थी।

"पता नहीं क्या जल रहा है।"

"कोई पास भी है या नहीं ?"

आपस में यही कहते-सुनते वे खड़े-खड़े देखते रहे।

सारी दुनिया सो रही थी। आग ने अन्य खिड़कियों से भी झांकना शुरू कर दिया।

"अरे कोई भी नहीं है क्या ?" जनार्दन घबराये।

"यह तो आग लगी है।" अरुण बोला।

"अरे सिपाहीऽ। चौकीऽऽदार।" कंदर्प ने पुकारा।

किंतु कंदर्प की पुकार नीचे सुन पाना कठिन था। आग की लपटें चतुर्दिक फैलती जा रही थीं।

"अरे कोई भी नहीं देख रहा क्या ?" कंदर्प घबराया।

"सब कुछ जलजाने पर भी नीचे सिपाहियों को खबर नहीं पड़ेगी। बड़ी अजीब तरह से आग लगी है।" जनार्दन ने कहा।

"और यह दोष भी हमें ही दिया जायेगा।" तिरस्कारपूर्वक हंसकर कंदर्प ने कहा।

"भले ही दिया जाय। सारा देश जला डालने के आरोप के सामने एक मकान जलाने का आरोप क्या माने रखता है ?" अरुण ने कहा।

तभी सामने के मकान से एक चीख सुनाई दी।

"अरे कोई बच्चा है।" कंदर्प बोला। उसके मुख पर दृढ़ निश्चय तैर आया। उसने जाली पर एक धक्का मारा। किंतु जाली उसे चिढ़ाती-सी स्थिर खड़ी रही।

अरुण के चेहरे पर भी वही भाव थे। उसने कहा, "कंदर्प यह जाली टूटने पर ही हम निकल सकते हैं। वहां कोई बच्चा फंसा है।"

अरुण ने भी जाली पर धक्के दिये। किंतु कोई असर नहीं हुआ। तीनों ने मिल-कर जोर लगाया किंतु एकाध सरिये के हल्के से मुड़ने पर निकलना तो कठिन ही था। उन्होंने दूसरी ओर के द्वार पर लातें मारीं। किंतु सरकारी मकान के बंद द्वार यूं ही कैसे खुल जाते ?

बच्चे की चीख फिर सुनाई दी। जनार्दन तो असहाय से खड़े रहे किंतु कंदर्प की उग्रता बढ़ती गयी। उसने दांत पीसकर दोनों हाथों से जाली को झकझोरा। वह इसी प्रयास की आवृत्ति करने को था कि अरुण ने जोर से जाली पर धक्का मारा। पूरी चौखट ही दिवाल से निकल गयी और दूसरे धक्के में जाली नीचे जा गिरी। तीनों मुक्त थे। कानून की दृष्टि में उन्होंने एक और अपराध किया था।

बाहर से हल्का शोर सुनाई देने लगा था।

"मैं यहीं रहूंगा।" जनार्दन ने कहा।

"ठीक है। हम भी देखकर वापस आते हैं।"

"हां जल्दी करो।" जनार्दन ने कहा और दोनों युवक बाहर निकल गये। आग सामने की खिड़की से दिखाई दे रही थी। वे सोच ही रहे थे कि उस खिड़की से कैसे जायें कि उन्हें एक खंभा दिखाई दिया। उस पर से सामनेवाले मकान का रोशनदान पकड़ा जा सकता था। अरुण खंभे पर चढ़ गया। पीछे-पीछे कंदर्प भी पहुंचा। उन्होंने रोशनदान के शीशे के पार देखा, आग और अधिक फैल चुकी थी। मात्र थोड़ा-सा अंश ही बचा था। दोनों कमरे में कूद पड़े। उसी समय एक सात वर्ष का बच्चा दोनों से लिपट गया।

"मुझे बचाओगे ?" उसने पूछा। उसकी आंखों में मृत्यु का आतंक था। वह बेहोश ही होने को था कि मनुष्यों को देखकर उसमें जीवन की आशा जाग उठी थी।

अरुण ने उसे गोद में उठाया और पास की सीढ़ी की ओर बढ़ा। वहां पहुंचते ही एक तेज लपट उधर बढ़ी और अरुण पीछे हट गया।

"अपन रोशनदान के ही रास्ते इसे ले चलें।" कंदर्प ने कहा। अभी तो यह संभव था। अरुण को भी यही उचित लगा।

"हां कंदर्प। इसे जनार्दन के पास छोड़ आवें।"

"पर मेरी मां और बहन का क्या होगा ?" बच्चे ने कहा।

"उन्हें भी लाते हैं।" अरुण ने उसे आश्वासन दिया। रोशनदान की चौखट पकड़कर कंदर्प ने बच्चे को पीठ पर लिया और बाहर निकल गया। वह दौड़कर बच्चे को जनार्दन के पास ले गया। उसी क्षण जनार्दन के कंधे पर किसी सिपाही ने हाथ रखा। उसने कंदर्प को देखा। कंदर्प ने जाली के पास ही बच्चे को छोड़ा

और जनार्दन की ओर इशारा करके कहा, "वह खड़े हैं न, वहीं जाओ। मैं तुम्हारी मां को लेकर आ रहा हूं।"

"मेरी बहन को भी।" बच्चा अपने पास सोयी बहन को नहीं भूला था। अंग्रेज बच्चे माता-पिता से अलग ही सोते हैं। इन्हें सोता छोड़कर इनकी आया चुपचाप किसी शोफर या बटलर से मिलने चली गयी थी। आग लगने पर बच्चे अकेले ही थे। बच्चा आया को खोजते हुए कमरे में फंस गया था और मां को जगाने गयी पांच वर्ष की बच्ची उससे अलग हो गयी थी। बच्चा उसे कैसे भूलता ?

"हां, उसे भी ला रहा हूं।" कहकर कंदर्प दौड़ गया।

जनार्दन के पास खड़े सिपाहियों में से एक कंदर्प के पीछे दौड़ा। किंतु कंदर्प तो कभी का रोशनदान से अंदर कूद चुका था। तभी उस रोशनदान को भी अग्नि ने लील लिया। लौटने का एकमात्र द्वार भी बंद हो गया। जीना तो पहले ही जल रहा था।

अरुण के सामने एक यूरोपियन महिला अपनी रात्रिकालीन वेशभूषा में खड़ी थी। बाल बिखरे, आंखें फटी हुईं। अंदर कूदते ही उस महिला ने कंदर्प का हाथ पकड़कर पूछा :

"मेरा बेटा।"

"वह सुरक्षित है मां।" कंदर्प ने कहा। किसी भी अंग्रेज को देखते ही जिस के हाथ कसमसाने लगते थे, दांत किटकिटाने लगते थे, वही कंदर्प आज एक बच्चे को आग के जबड़ों से निकालकर बाहर छोड़ आया था और एक अंग्रेज मां की व्यथा देखकर व्याकुल हो गया था।

प्रकृति के लिए––ईश्वर के लिए––मनुष्य मनुष्य ही है। वह हिंदू हो या मुसलमान या ईसाई। सब कृत्रिम बातें हैं। सर्वोपरि है मात्र मानवता।

"पर अब हमें यहां से निकलना है। चारों ओर आग फैल चुकी है। जल्दी करो। मेरे पीछे-पीछे चलो।" अरुण ने कहा।

"पर मेरी बेटी ?" मां के लिए पुत्र और पुत्री में अंतर नहीं था।

"उसे भी ढूंढ़ेंगे।" कहकर अरुण आगे बढ़ा।

पूरा कमरा आग और धुएं से भर गया था। उन्हें अधिक से अधिक सात मिनट हुए होंगे। इतने में ही सब कुछ लपटों की चपेट में आ गया था। जैसे-

तैसे तीनों कमरे से बाहर आये। मगर हर ओर आग ही आग दिखाई दे रही थी। दो तीन कमरों में देखा। बच्ची कहीं नहीं मिली।

अब वहां खड़े रह पाने की भी स्थिति नहीं थी। अग्नि ने प्रचंड रूप धारण कर लिया था। वह विद्युत वेग से पूरे मकान में घूम रही थी। खिड़कियां, दरवाजे, दीवारें सभी कुछ टूट-टूट कर गिरने लगे थे। बाहर भी शोर मचा था। नीचे उतरने के सब रास्ते बंद हो चुके थे। अरुण और कंदर्प ने एक दूसरे की ओर देखा। दोनों की आंखों में मृत्यु की परछाई दिखाई दी।

अरुण ने कहा, "कंदर्प। तू भाग जा।"

"भाग जाऊं! तुम्हें छोड़कर? यह नहीं हो सकता।" कंदर्प ने निर्भय होकर कहा।

"तो इन्हें कैसे निकालें?"

"वह खिड़की अभी बाकी है। देखें कुछ हो सकता है क्या?" कंदर्प एक मात्र बची हुई खिड़की पर चढ़ा। उसे देखकर नीचे खड़ी भीड़ ने पुकार की। कुछ लोग जाल लेकर उधर पहुंचे और खिड़की के नीचे जाल फैलाकर कंदर्प को कूदने के लिए संकेत करने लगे। खिड़की पर पानी भी फेंका जाने लगा।

कंदर्प ने अंदर जाकर कहा, "हम सब बच जायेंगे। चलो यहां से कूदें।"

"पहले आप कूद जाइये।" अरुण ने अंग्रेज महिला से कहा।

"अपनी बेटी को छोड़कर? नहीं, मैं उसी के साथ ही जल मरूंगी।"

"देखिये, अब वक्त नहीं है। ईश्वर की इच्छा होगी तो आपकी बच्ची भी बच जायेगी। यहां रहकर तो आप उसे बचा नहीं सकेंगी।"

"नहीं, नहीं, नहीं। मैं यहां से नहीं जाऊंगी।" किंतु तभी उसकी आंखों में स्थैर्य आया। उसने बड़ी नम्रता से कहा :

"पर भाई। आप कौन हैं? आप क्यों नहीं जाते? जाओ बचो।"

"आपको छोड़कर हम हिल भी नहीं सकते। आप यहां रहेंगी तो तीनों ही जल मरेंगे। चलेंगी तो तीनों बच जायेंगे।"

"अरे नहीं। अपने लिए मैं तीन हत्या होने दूंगी? चलो। मैं कूदती हूं।" कह कर उसने खिड़की से नीचे झांका। तभी उसे फिर अपनी बेटी याद आ गयी।

"ओ भगवान मैं उसे छोड़कर कैसे जाऊं ?" कहते हुए वह खिड़की पर ही बैठ गयी।

अब आग इस खिड़की तक भी पहुंचने लगी थी। समय नहीं था। कंदर्प ने मन कठोर करके उस महिला को बलपूर्वक धकेला। गिरते गिरते महिला के हाथ का धक्का कंदर्प के पैर को लगा और संभल न पाकर वह भी महिला के पीछे गिर गया। गिरते गिरते उसने आवाज दी :

"अरुण भाई। जल्दी।"

अरुण जैसे ही खिड़की पर पैर रखने जा रहा था कि उसे अपने पीछे एक चीख सुनाई दी। धुंए में कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। किंतु चीख पास ही सुनाई दी थी। अब उसे बचाये बिना कैसे जा सकता था ? वह वापस लौटा। उसकी सांस घुटने लगी। आंखें मिचने लगीं। वह जैसे-तैसे वापस लौटा। पता नहीं कितनी दूर। तभी कोई उससे टकराया।

"ओ मां! मैं हूं।" किसी बच्ची की घबरायी हुई आवाज थी। अरुण ने बच्ची को उठा लिया। पता नहीं कैसे वह इस कमरे में आ गयी थी। बच्ची ने डरकर अपना सिर अरुण की छाती में गड़ा दिया। उसे लगा कि वह मां की नहीं-किसी अनजान की गोद में है।

अरुण बच्ची को लेकर खिड़की की ओर दौड़ा। तभी आग ने अपना विशाल फन उधर फेंका। वह कुछ ठिठका। तभी अग्नि ने अपनी पूरी शक्ति लगाने के लिए एक बार अपनी लपट को वापस खींचा और अरुण खिड़की पर पहुंच गया।

किंतु अग्नि का तांडव सर्वग्रासी बन चुका था। उस खिड़की पर अग्नि नाच रही थी। अन्य कोई मार्ग था ही नहीं। अगले ही क्षण अग्नि उन्हें दोनों ओर से घेरने लगी—समझकर अरुण खिड़की पर चढ़ा। एक भयंकर गुब्बार उनके पीछे-पीछे आया और बाहर से भी अग्नि ने अपनी जीभ लपलपायी। अरुण ने सिर फेर लिया। वह लपट उससे सहन नहीं हुई और उसने आंखें मीचकर बच्ची को छाती से और भी चिपका लिया। तभी वह होश खो बैठा। उसके पैर लड़खड़ाये और वह नीचे गिर पड़ा।

सुरभि चीख कर बेहोश हो गयी। किंतु जनता तो चीख भी नहीं सकी। स्तब्ध समुदाय क्षण भर को होश खो गया।

बेहोश अंग्रेज युवती होश में आयी । उसका पति आग की सूचना पाकर इधर आया था । उसने अपनी पत्नी को गिरते देखा था और जाल से बाहर निकालकर वह उसे सहारा दिये खड़ा था ।

वह महिला जाली की ओर दौड़ी । बच्ची जीवित थी । किंतु वह एकाएक चीखी :

"अरे अरे, जल्दी करो । यह तो बहुत जल गये हैं । अस्पताल ले चलो इन्हें ।"

भीड़ को चीरते हुए धनसुखलाल और कृष्णकांत की कार आगे बढ़ी । बेहोश अरुण को कार में लिटाया गया । अंग्रेज अफसर ने भी उसे उठाने में सहायता दी। उसकी पत्नी बच्चों को गोद में लिये हुए कार के पास खड़ी अरुण को देख रही थी कार के चलते ही वह रो पड़ी । उसने अपने पति को बताया :

"इन दोनों भारतीयों ने हमें वाचया ।"

पास ही एक सिपाही खड़ा था । बोला :

"पर साहब । वे तो अपने कैदी हैं । भाग रहे हैं ।"

छोटी-सी अंग्रेज बच्ची चिल्लायी :

"चुप हरामखोर । किसे कैदी कहता है ?"

38. आंख की गहराई

उस एक अश्रुमय लय में मन एकदम डूब गया
था और सृष्टि के समस्त पदार्थ श्मशान
की तरह निर्जीव प्रतीत होने लगे थे ।

—कलापी

कई दिनों की बेहोशी के बाद अरुण जागा। बेहोशी के बाद पहली बार उसने सोचा, मैं हूं। और उसने अपनी आंखें खोलीं। कुछ समझ में नहीं आया। उसने फिर आंखें मींच लीं।

'मैं कहा हूं।'

इस प्रश्न का उत्तर कौन दे सकता है ? आंखें।

अरुण ने फिर आंखें खोलीं। बार बार खोलीं।

क्या बात है ? आंखें खुलती क्यों नहीं ? अरुण कुछ अकुलाया। उसने पलकों को कुछ देर स्थिर किया।

तो भी दिखता क्यों नहीं ? क्या बात है ?

उसने जल्दी से हाथ उठाकर आंखों पर फेरा। हाथ में दर्द हुआ। किसी ने धीरे से उस हाथ को वापस बिस्तर पर रख दिया।

पट्टी तो है नहीं, फिर भी दिखता क्यों नहीं ?

अरुण ने सिर घुमाया ? शायद दूसरी ओर ठीक से दिख जाय। पर उधर भी अंधकार।

लगा, वह अथाह सागर में डूब रहा है। उसकी सांस घुटने लगी। डूबता व्यक्ति हाथ पैर मारकर जिस तरह ऊपर आने का प्रयत्न करता है। अरुण भी हाथ और सिर हिलाकर चारों ओर के अंधकार से निकलने का प्रयत्न करने लगा।

कोई कोमल स्पर्श उसे रोक रहा था। पर यह स्पर्श किसका है? उसकी सांस रुकने लगी। धड़कन बढ़ गयी। पलकें तेजी से खुलने मिचने लगीं।"

"ओ मां! मैं कहां हूं?" अंततः उसकी चीख निकल ही गयी। कभी न झुकने वाला वीर इस समय अपने को एकदम असहाय महसूस कर रहा था।

तीन चार कंठों की सिसकियां सुनाई दीं।

उसने फिर आंखें फाड़कर रोने वालों को देखना चाहा, किंतु व्यर्थ। अंधकार ही अंधकार।

"मुझे दिखाई क्यों नहीं देता?" उसने फिर पूछा। कोई उत्तर नहीं। सिर्फ सिसकियों को चीह्नने का निष्फल प्रयत्न करते हुए उसकी चीख निकल पड़ी :

"अरे मेरी आंखें···?"

इस बार भी कोई नहीं बोला। अरुण अस्पताल के एक कमरे में पड़ा था। और उसके आत्मीयों ने उसे घेर रखा था। आज तक वह बेसुध था। दो एक दिन से कुछ आशा बंधी थी। और इस आशा में कि किसी भी क्षण अरुण को होश आ सकता है, कोई भी वहां से हट नहीं रहा था। किंतु सभी घबराये हुए थे कि होश आने पर क्या होगा, वह क्या कहेगा सोचेगा, उसे कैसे क्या उत्तर दिया जायेगा।

आखिर वह क्षण आ पहुंचा था। सभी के प्राण अवरुद्ध से हो उठे थे। डाक्टर ने अरुण की आंखों के बचने की आशा छोड़ दी थी।

और प्राणों की भूखी आग मात्र आंखें छीनकर अरुण को जीवित छोड़ गयी थी। किंतु अरुण को यह पता चलेगा तब?

और अब वह जान गया था कि असकी आंखें खो गयी हैं।

कठिनाई से अपनी रुलाई पर नियंत्रण करते हुए आखिर कृष्णकांत ने कहा :

"नाउ अरुण! ओल्ड ब्वाय! फेस इट ब्रेवली।"[1]

अरुण ने कृष्णकांत की आवाज पहचानी। उसने कृष्णकांत को देखने का प्रयत्न किया। किंतु आंखें अपना दायित्व भूल चुकी थीं। अरुण ने हाथ लंबा किया। किंतु हाथ कुछ देख सकता है? उसने हाथ को वापस बिस्तर पर पटक दिया। पल दो पल के लिए उसने कृष्णकांत के वाक्य का अर्थ समझने की चेष्टा की। और फिर बोला,

1. अरुण अब इसे साहसपूर्वक झेलो।

"यानी मेरी आंखें चली गयीं ? क्यों "

किसी ने कभी भी अरुण को इतनी दयनीयता से बोलते नहीं सुना था। इतना ही नहीं, इस समय उसकी आंखे के कोनों में आंसू चमक उठे थे।

आंख देखना छोड़ दें। रोना तो नहीं छोड़ सकतीं न ?

सब उपस्थित व्यक्ति रो रहे थे। कृष्णकांत ने भी अपने आंसू छिपाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। कंदर्प उठकर बाहर भाग गया। धनसुखलाल दुपट्टे से आंखें पोंछने लगे। जनार्दन ने अपने आंसू पोंछने की भी चिंता नहीं की। अरुण के पिता तो पुत्र की चिंता में बिस्तर से ही लग गये थे। सुशीला और सुरभि एक दूसरे से लिपटी रो रही थीं। बिस्तर के पास बैठी पुष्पा भी अरुण की तड़प नहीं सह सकी और घुटनों के बीच सिर छिपाकर सिसक उठी।

कुछ दूर बैठे धन्ना भगत बोले :

"बेटा अरुण ! यूं मत घबरा। भगवान ने ही आंखें दी थीं। उसी ने ले लीं। उसकी मर्जी। अपना क्या वश ?"

इस वाणी ने अरुण के रहे सहे बांध को भी ढहा दिया। वह फूट पड़ा :

"पर आंखों के बिना मैं जीऊंगा कैसे ? मुझे जिंदा क्यों रखा ?"

"भगवान तुझे सौ बरस की उमर दे बेटे। जीना मरना क्या अपने हाथ में है ? प्रभु की इच्छा के बिना तो पत्ता भी नहीं हिलता।"

"पर ऐसी जिंदगी। यह न हो तो भी क्या है ?"

"देख बेटा। भगवान ने तेरी दो आंखें ली हैं न ? तेरे अंग-अंग में आंखें खुल जायेंगी। बंद आंखों से जो दिखे, वही सच्चा दिखना है। खुली आंखे तो और भी उलझाती हैं। अच्छा बेटा, अब तक का देखा तुझे कुछ नहीं दिखता क्या ?"

आंखों के अंधेरे में भी उसने उछलती-कूदती रंजन को देखा, गंभीर पुष्पा को देखा, ममतालु बहन को देखा, और गौरवशाली बहनोई को देखा। यह कैसे हुआ ? मेरी आंखें तो फूट गयीं ना? फिर यह सब मुझे कैसे दिख रहा है ? ··· ···

तभी वहां छोटे-छोटे पैरों की टपटप सुनाई दी। अरुण ने बंद आंखों से भी किसी बच्चे को दौड़ते देखा।

कौन होगा ? आंखों ने अपने पुराने स्वभाववश फिर देखने का प्रयत्न किया। ··· घोर अंधकार।

"मम्मा। मम्मा। जाग रहे हैं। आओ।" किसी नन्हे मुख ने अंग्रेजी में कहा।

एक छोटी-सी अंग्रेज बालिका का चित्र अरुणा की आखों के सामने उभरा। किसी ने शीऽऽ करके बच्ची को जोर से बोलने से रोका।

"अच्छा मम्मा। मैं धीरे बोलूंगी। मुझे इनके पास जाने तो दो।"

"कृष्णकांत, कौन आया है ?"—धीरे से अरुण ने पूछा।

कृष्णकांत के उत्तर देने से पूर्व ही वह बच्ची बोल उठी :

"अरे यह तो मैं हूं। अभी से भूल गये ? अरे हां, तुम तो खूब जल गये थे न? मैं तो जल्दी ठीक हो गयी। मैं तो तुम्हें देखने रोज आती थी पर पापा और मम्मा तुम्हारे पास आने ही नहीं देते थे। अब मैं रोज तुम्हारे पास आऊंगी। तब मैं कैसे चिपट गयी थी न, तुम से ?" बच्ची बोलते-बोलते हंस पड़ी। उसकी बातों का कोई छोर ही नहीं था।

अरुण की आंखों ने अग्नि-स्नान का दृश्य देखा। घटनाओं की कड़ियां जुड़ती गयीं। जिस बच्ची को बचाते समय वह बेहोश हुआ था, और उसने आंखें खो दी थीं, वही बच्ची थी यह। अरुण को बच्ची पर दुलार आया। यह तो प्राणों के मूल्य पर बचायी गयी बच्ची थी।

"इसे मेरे पास लाओ न।" अरुण ने कहा।

पुष्पा ने अपनी कुर्सी पर बालिका को बैठा दिया।

"अरे बेबी। कहां है तू ?" अरुण ने पूछा।

"यह रही कुर्सी पर। देख नहीं रहे ?"

"यहां आ पलंग पर।"

बालिका जल्दी से पलंग पर चढ़ बैठी। अरुण हाथ फैलाकर बच्ची के शरीर पर फेरने लगा।

"अब तुम ठीक हो गये न ?" बालिका ने पूछा।

"तू पूछ कर क्या करेगी ?"

"अपने घर ले जाऊंगी।"

"क्यों ?"

"अपने खिलौने दिखाऊंगी। और देखो, फिर हम आग आग खेलेंगे। तुमने मुझे बचाया था न, वैसे ही मैं अपनी गुड़िया को भी बचाऊंगी। पर भाई तुम्हारे

जितना नहीं जलेंगे।" बच्ची ने गंभीरतापूर्वक अपनी योजना अरुण को बतायी।

पहली बार अरुण को हंसी आयी। उसने धीरे से बच्ची के गाल पर चपत लगायी और फिर उसकी कोमल देह पर हाथ फेरने लगा। बच्ची को लगा, हाथ अंधेरे में कुछ टटोल रहा है।

"ऐसे कैसे कर रहे हो ? जैसे दिखता ही नहीं हो ?"

बच्ची के माता-पिता उस पर दांत पीसने लगे। वे सुबह शाम अरुण को देखने आते थे। पूरे परिवार को आग से बचाने वाले इन भारतीयों का उपकार ये अंग्रेज दंपत्ति कैसे भूल सकते थे ? अंग्रेज राक्षस नहीं होते। भले ही उनके राज्यतंत्र में राक्षसत्व आ घुसा हो।

"सच कह रही है तू। मुझे दिखाई नहीं देता।" अरुण ने लाचार स्वर में कहा।

"इधर आ नालायक लड़की।" मां ने बालिका को पुकारा।

पर बच्ची तो अरुण के सामने तरह तरह से मुंह बना रही थी। कभी वह एक आंख बंद करती, फिर उसे खोलकर दूसरी बंद करती। कभी दोनों बंद करके खोलती। सभी बच्ची की वानर-क्रीडा को देख रहे थे।

"तुम सचमुच नहीं देख सकते ?"

"सच। न तुझे, न किसी और को।"

"मैं तो एक आंख से भी देख लेती हूं। और मेरे दो आंखें हैं। एक तुम्हें दे दूं तो काम चल जायेगा ?"

इस बार बालिका की मूर्खता पर कोई हंसा नहीं। सच्चा हिंदू या मुसलमान या इसाई कौन है ? बालक। वह नहीं, जिसके परिचय के साथ धर्म का प्रमाण-पत्र चिपका हो। किंतु हमारी व्यवस्था कुछ ऐसी है कि बच्चा जैसे-तैसे बड़ा होता जाता है, हिंदू या मुसलमान या इसाई न रह कर अंततः इन धर्मों के एक आवरण मात्र में लिपट कर रह जाता है। धर्म की आत्मा तो जाने कब कहां उड़ जाती है।

डाक्टर के आने पर बातें रुक गयीं। आते ही डाक्टर ने सबको डांटा कि रोगी को इस समय पूरे आराम की आवश्यता है। उन्होंने कहा कि इस समय भीड़ लगाने की बजाय दो एक व्यक्ति ही बारी-बारी से वहां रहें तो ठीक है। सभी बाहर चले गये। कंदर्प और पुष्पा ने रात के आरंभ में दो घंटे बैठने का निश्चय किया। सभी ने रात की बारी निश्चित की और वहां से चले गये।

किंतु वह अंग्रेज लड़का जिसे कंदर्प ने आग से बचाया था, कंदर्प का पक्का दोस्त बन गया था। उसने अपने माता-पिता से कहा, "आप जाइये मैं इनके साथ घर आ जाऊंगा।"

"बहुत परेशान करता है तू इन्हें। जरा भी नहीं छोड़ता।" पिता बोले।

"इन्हें जरा बाक्सिग सिखानी है।" लड़के ने अपने दायित्व के महत्व को समझाया। सभी हंस पड़े।

कंदर्प ने भी हंसकर कहा :

"हां, कवायद तो तूने मुझे सिखा दी। अब बाक्सिग बाकी है। पर टाम। यह सब तुझसे सीखकर तेरे पिताजी से ही लड़ने वाला हूं।"

"जरा बड़ा तो होने दो मुझे। मैं किसी को भी लड़ने ही नहीं दूंगा।"

बाक्सिग के दांव खेलते मित्रों को छोड़कर पुष्पा अंदर आयी। अरुण एक हाथ पर दूसरे हाथ की अंगुलियां फिरा रहा था। पुष्पा की चूड़ियों की खनक सुनकर उसके मुख पर प्रसन्नता की हल्की सी रेखा कौंधी। पुष्पा ने उसे देखकर उसका अधर में झूलता सा हाथ धीरे से बिस्तर पर रख दिया। पर अरुण ने दो तीन क्षण तक उसका हाथ नहीं छोड़ा। पुष्पा ने रोमांच अनुभव किया किंतु संकोचवश शीघ्र ही अपना हाथ खींच लिया।

"रंजनगौरी।" अरुण ने धीरे से पुकारा।

पुष्पा की भृकुटि तन गयी। चेहरे पर चुपचाप आया आनंद का भाव उड़ गया। पुलक का रंग बदल गया। उसने बोलने का प्रयत्न किया किंतु एक बार तो कंठ से बोल फूटे ही नहीं। फिर प्रयत्नपूर्वक उसने उत्तर दिया :

"रंजन नहीं है।"

"कौन ? पुष्पा बहन ?" अरुण ने पूछा।

"हां।" बेमन पुष्पा ने कहा।

अरुण ने गहरी सांस छोड़ी। पुष्पा को वह सांस गहरे तक रेत गयी, इतनी सेवा की मैंने और होश में आते ही रंजन। और रंजन नहीं है तो इतनी गहरी सांस।

यह आवश्यक नहीं कि मात्र बदले की आशा से ही सब सेवा करते हैं। किंतु बदले में निश्वास सुनकर पीड़ा स्वाभाविक ही है।

"रंजनगौरी शायद आती नहीं हैं। क्यों ?"

"नहीं। आती तो है, पर जल्दी ही लौट जाती है··· कभी कभी।"

"अच्छा।"

··· ··· ···

··· ··· ···

"रंजन को बुलाऊं ?"

"नहीं नहीं। कोई काम नहीं है मुझे। उनकी इच्छा न हो तो क्यों तकलीफ दी जाय ?"

तभी कंदर्प ने आकर तबियत पूछी। पुष्पा दूर जा बैठी।

कुछ देर बाद अरुण ने पूछा :

"पुष्पा बहन गयीं ? बहुत मेहनत करती हैं न ?"

पुष्पा जाने की तैयारी में थी।

39. उदारता का प्रतिदान

बहन ! अच्छा हुआ, तुम आ गयीं ! आओ आओ।
जरा गले मिल लूं। छाती से लगा लूं।
अरी बहना ! तेरे और मेरे जीवन का आधार
एक ही है। प्राणनाथ परदेस में हैं ! और यह
पंखी देह भी वहीं उड़ जाना चाहती है।

—न्हानालाल

"मिस्त्रीजी ! क्या बात है ? एक सीढ़ी लगाने में इतनी देर ?" धनसुखलाल मिस्त्री को डांट रहे थे। मिस्त्री एक बड़ी-सी सीढ़ी को रंद्धे से चिकनाते कारीगरों का काम देख रहा था।

"साहब ! आज ही तैयार हो जायेगी। मेरे रहते देर कैसी ? आप तो सब जानते ही हैं।" हाथ की चिलम कोने में छिपाते हुए मिस्त्री ने उत्तर दिया।

"आज शाम से पहले सीढ़ी नहीं लगी तो मैं एक भी पैसा नहीं दूंगा।"

"अरे साहब। आपसे मैंने पैसे कब मांगे ? आपका काम हो जाय, वही मेरे लिए बड़ी बात है।"

धनसुखलाल ने आगे बढ़कर घर में प्रवेश किया। वे कृष्णकांत को भी किशन की दर्शन करवाने की अपनी व्यवस्था दिखाने अस्पताल से साथ ले आये थे।

धनसुखलाल के आगे बढ़ते ही मिस्त्री ने चिलम वापस ले ली। यह देख कृष्णकांत को हंसी आ गयी।

"क्यों रे, हंस कैसे रहा था ?" अंदर पहुंच कृष्णकांत को बैठाते हुए धनसुखलाल ने पूछा।

"नहीं तो काका। कोई खास बात नहीं है।"

"तुझे यह बूढ़ा काका पागल लगता होगा। हैं न ?"

"नहीं काका कैसी बात करते हैं ? मुझ से गलती हो गयी हो तो मैं माफी मागता हूं।"

"अब मुझे तुम नये लोगों की यही बात अच्छी नहीं लगती। बात बात में गलती और बात बात में माफी। यह क्या ?"

कृष्णकांत को आया जान सुशीला व पुष्पा भी वहीं आ बैठीं। कृष्णकांत ने कहा :

"पर काका ! अब तो आप भी कुछ कुछ आधुनिक होने लगे हैं।"

"नहीं भाई ! मुझे तो यह स्वच्छंदता पसंद ही नहीं है। जिस तिस का खा लो। न नहाना, न धोना, न पूजा-पाठ। स्त्री पुरुष की कोई मर्यादा नहीं। शादी नहीं करना और इधर-उधर भटकते फिरना——यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता।"

"तब तो काका मैं भी आधुनिक नहीं। आपकी सारी शर्तें मुझे मान्य हैं। बस पूजा पाठ ही तो नहीं करता।"

"अब तू अपनी बात छोड़। तुझे क्या, तेरे तो बाप को भी मैं जानता हूं। और सब ठीक, पर इस चक्कर में रंजन कुंआरी ही रह गयी।"

"काका ! उसके लिए मैंने एक वर खोज रखा है।"

"कौन है ?"

"एक कवि है।"

"ऐसा बकवासी मत खोजना। क्या नाम है उसका ?"

"विमोचन।"

"रंजन ने हां की ?"

"यही तो मुश्किल है काका। वह तो शादी ही नहीं करना चाहती।"

"मेरे यहां भी यही हाल है। जिसके लिए कहो, पुष्पा की बस ना ही ना है। तुम्हारे देखा-देखी उसे पढ़ाया तो यह फल मिला।"

बारह वर्ष की आयु में लड़कियों के विवाह करनेवाले माता-पिता के लिए उनका बाईस-तेईस वर्ष तक अविवाहित रहना असह्य ही है।

"पुष्पा के सामने आप इसके विवाह की बात करेंगे तो यह जमीन में ही गड़ जायेगी।" कहकर कृष्णकांत ने पुष्पा की ओर देखा।

"क्यों पुष्पा। अस्पताल नहीं गयी ?" पुष्पा कमरे से भाग रही थी।

"नहीं।"

"क्यों ?"

"यूं ही। अब मेरी जरूरत नहीं।" कहते हुए पुष्पा का हृदय फटने लगा। वह तुरंत वहां से चली गयी।

अपने कमरे में जाकर उसने मेज की दराज से अपने ही फाड़े चित्र के दोनों टुकड़े निकाले। एक टुकड़े में कृष्ण की मोहक आकृति और दूसरे में उसकी बलैयां लेती राधा और उस पर हंस रही एक नारी। पुष्पा ने दोनों टुकड़ों को जमा कर पूरे चित्र को देखा।

हवा आयी और कृष्ण का चित्र उड़ गया।

राधा अकेली रह गयी। सब हंसी उड़ा रहे हैं। पुष्पा ने मन में सोचा।

कितने निर्दयी थे कृष्ण। गोकुल से जाने पर राधा से मिले ही नहीं।

हां। महाभारत का स्रष्टा कृष्ण, यादवों का कृष्ण कितना क्रूर था। कितना सुंदर! पर कितना निर्दय।

पर राधा को देखो। बलैयां लेना बंद ही नहीं करती। कृष्ण है ही नहीं, फिर क्यों पागल बन रही है ?

हां प्रेमी मन के पागलपन की सीमा नहीं। इनकी दुनिया ही अलग होती है। पुष्पा भी ऐसी ही कोई दुनिया बसा रही थी।

पर वह भी कम अभिमानी थोड़े ही थी ? कृष्ण के पीछे नहीं ही गयी। क्यों जाती ? इतनी सस्ती होती है क्या नारी ?

पुष्पा ने किसी की पदचाप सुनी और चित्र ढक लिया। पर कृष्ण वाला अंश बाहर ही पड़ा था। रंजन आयी थी।

"अरे रंजन तू ?"

"अस्पताल में तू थी नहीं, वहीं से आ रही हूं।"

रंजन रोज ही एक दो बार अस्पताल जाती थी। और अरुण को देखकर, कभी दूसरों से ही उसके विषय में पूछकर लौट जाती थी। पुष्पा हर समय अरुण के पास ही रहती थी। उसने जी-जान से अरुण की सेवा की थी। कृष्णकांत के संबंध के कारण धनसुखलाल के परिवार के लिए भी वह पराया नहीं था। फिर जुलूस में

घायल होने पर भी वह उनके यहां रहा था, अतः थोड़ा-बहुत परायापन यदि शेष था, तो वह भी समाप्त हो चुका था। धनसुखलाल के मन में इन आश्रमवासियों के प्रति ममता जाग गयी थी। कृष्णकांत व सुरभि आदि की उपस्थिति में पुष्पा के यहां रहने पर उसके पिता को कोई आपत्ति नहीं थी। सुरभि तो विशेष रूप से पुष्पा की सहायता मांगती रही थी क्योंकि रंजन ने वहां बैठने या संभालने की जिम्मेदारी ली ही नहीं थी। रंजन का यह विचित्र व्यवहार बड़प्पन या दुख सहने की असमर्थता मानी जाती थी। केवल पुष्पा ही जानती थी कि रंजन वहां नियमित रूप से क्यों नहीं आती। रंजन उसी समय अस्पताल जाती थी, जब पुष्पा वहां होती थी। आज पुष्पा को वहां न पाकर रंजन उसे खोजने उसके घर आयी थी। उसे यह अच्छा नहीं लग रहा था कि अरुण उसकी या पुष्पा की सेवा-सुश्रुषा के बिना यों अकेला रह जाय।

उसने पूछा :

"तू आज गयी क्यों नहीं ?"

पुष्पा रंजन की ओर सीधे देख रही थी। बोली :

"बस, नहीं गयी।"

"कारण ?"

"मेरी वहां कोई आवश्यकता नहीं है।"

"किसने कहा यह तुझसे ? चल उठ, जल्दी कर। तुझे याद कर रहे हैं।"

"कौन ?"

"अरुणकांत और कौन ?"

"तुझसे कहा होगा, क्यों ?"

"मैं तो बोलती ही कहां हूं ? कंदर्प ने कहा था।"

"अच्छा। पर रंजन, तू बहुत दुबली हो गयी है।" लगातार रंजन को घूरते हुए पुष्पा बोली।

"खूब। तुझसे तो मैं मोटी ही हूं।" कहकर रंजन ने अपने हाथ पर दृष्टि घुमायी।

हां उसकी चूड़ियां कुछ ढीली लग रही थीं। साथ ही लगा कि उसका ब्लाउज भी ढीला हो गया है।

"क्यों, ठीक कह रही हूं न मैं ?" पुष्पा ने पूछा।

"ठीक ही सही। पर आज तेरे मुंह से बोल कैसे निकल रहे हैं ? खैर, छोड़ यह सब। जाना है या बातें ही करती रहेगी ?"

"मैं नहीं जाऊंगी।"

"तो कौन जायेगा ?"

"तू।"

"क्या मतलब ? मुझे तो जाना नहीं है। ज्यादा करेगी तो मैं इतना भी नहीं जाऊंगी। फिर ?"

"फिर क्या ? अभी तो इतनी ही दुबली हुई है। फिर तो मर ही जायेगी।"

"अब बकवास बंद कर। मेरे मरने की तू बिलकुल चिंता मत कर।"

"करती तो नहीं, पर किसी के लिए चिंता करनी पड़ रही है।"

"किसके लिए ?"

"अरुणकांत के लिए। तू मर गयी तो वह भी जीनेवाले नहीं हैं।"

"क्या बक-बक कर रही है ? अभी होश तो कल आया है। इतने में तुझे सब कह दिया ?"

"हां।"

"चल झूठी। डाक्टर ने बोलने तक को मना कर रखा है। फिर इतने लोगों के बीच वह यह सब कहेंगे ?"

"मैं सच कह रही हूं कि अरुणकांत ने यही कहा है।"

"गलत। मैं औरों से पूछूंगी।"

"किसी को भी पता नहीं है।"

"तो अरुणकांत से ही पूछूंगी।"

"वह तुझसे भी नहीं कहेंगे। यह तो निशब्द बात थी।"

"तो तू कैसे समझ गयी ?"

"छोटा बच्चा भी इतना समझ सकता है। देख, कल मैं उनके पास गयी तो वह समझे कि रंजन आयी है। उन्होंने रंजन कहकर पुकारा पर वहां तो मैं थी। यह जानकर अरुणकांत ने इतनी गहरी सांस छोड़ी कि मेरी मरने की इच्छा हो आयी।"

"पता नहीं तेरे मन में कौन सा भूत आ बैठा है कि इतनी ईर्ष्यालु हो गयी है तू।"

"खैर तेरा जो जी चाहे कह। मैं अब जाऊंगी नहीं।"

रंजन कुछ देर चुपचाप वहां बैठी रही। फिर उसके मन में एक नया विचार आया——

पुष्पा को पसंद था आंखवाला अरुण। हो सकता है बिना आंख का अरुण पसंद न हो।… …

चारपाई पर पड़े अरुण को रंजन दूर से चुपचाप देख लिया करती थी। नेत्रहीन अरुण को पास ज़ाकर देखने का रंजन को साहस नहीं होता था। एकाएक उसके मन में सहानुभूति का ज्वार उमड़ा——

क्या आंखों के साथ ही सब कुछ चला गया? प्यार भी? माता-पिता, भाई-बहन एक नेत्रहीन को छाती से चिपकाकर रखते हैं और प्यार-प्यार रटने वाली प्रेयसी का प्यार आंखें जाते ही समाप्त? औरों को आंख, हाथ पैर बिना भी प्यार किया जा सकता है। किंतु जिसे प्रेम कहते हैं, वहां अखंड सौंदर्य ही अपेक्षित है। तो कौनसा प्यार महत् है? क्या प्रेम सौंदर्य पिपासा मात्र है?

"क्या सोचने लगी?" पुष्पा ने पूछा।

"कुछ नहीं। तेरी बात समझ में नहीं आती।"

"उदार होने का अधिकार क्या तुझ अकेली को ही है?"

"मैंने कहा ऐसा? और मैं भी कब से उदार हो गयी?"

"अरुणकांत को मुझे सौंपने के समय से। अब मैं तुझे वापस लौटा रही हूं।"

"आंखों के न रहने पर?" रंजन ने व्यंग्य किया। किंतु पुष्पा को वह चुभा नहीं। वह कुछ और ही सोचने लगी थी।

आंखें रहतीं तो जरूर अरुण मेरी सेवा देखते। और मैं भी कहां रंजन से कम सुंदर हूं? वह तो उन्होंने उसे पहले देखा था, इसलिए… …।

पुष्पा को चुप देख रंजन ही बोली:

"देख, फिर मैं वापस नहीं लौटाऊंगी। अब भी सोच ले।"

रंजन ने पुष्पा की विचार श्रृंखला तोड़ी।

"सोच लिया है।"

"तो मेरे साथ चलकर ही सौंप।"

"चल ··· पर एक शर्त है।" पुष्पा ने कहा।

"कौन सी शर्त ?"

"कुछ नहीं, वह तो यूं ही। चल।" कहकर पुष्पा धीरे से हंसी और चलने को तैयार हुई।

रंजन के मन ने कहा :

'स्वार्थी।'

40. अपने अपने रास्ते

परदेसी पंछी आओ ।
तुम्हारे लिए यहां बहुत जगह है ।
आओ, मन के द्वार खुले हैं
तुम मन-मंदिर में ही रहो ।

—न्हानालाल

पुलिस-स्टेशन पर आग लगने का प्रश्न विवाद का विषय हो गया था। सरकारी पत्रों का निश्चित मत था कि आग सत्याग्रहियों ने ही लगायी है। सरकार विरोधी पत्रों ने युक्ति दी कि मात्र तीन महान कैदियों को समाप्त करने के लिए सरकार या उसके स्वामिभक्त सेवकों ने यह आग लगायी थी। सरकारी पक्ष ने जोर दिया कि सत्याग्रहियों को कुचल देना चाहिए क्योंकि उनके हाथों पुलिए स्टेशन जैसी सुरक्षित इमारत ही नहीं बच सकी तो और क्या बच सकता है ? और सरकार-विरोधी पत्र चिल्ला रहे थे कि जो सरकार अपने कैदियों के जीवन को सुरक्षित नहीं रख सकी, वह प्रजा की रक्षा क्या खाक करेगी ?

पुलिस विभाग में भी उथल-पुथल मची थी। पुलिस के गुप्तचर विभाग के बड़े अधिकारियों ने कई व्यक्तियों की गवाहियां लेकर मोटी-मोटी फाइलें तैयार करके केस बनाया था। कैदियों पर आग लगाने के आरोप को सिद्ध करने की सरकारी वकील की पूरी तैयारी हो गयी थी। कैदी बागी थे, उन्होंने सरकारी आज्ञा की अवहेलना की थी और जनता की भावनाओं को उकसाया था। सही या गलत रूप में वे जनता के प्रिय थे। अवश्य ही उनका जाल सर्वत्र फैला होगा। उन्हें पूंजीपति और प्रतिष्ठित परिवारों की सहायता प्राप्त थी। यही नहीं, वे

शूद्रों के साथ भी संबद्ध थे। अस्तु, निश्चय ही उनका षड्यंत्र काफी फैला हुआ होगा।

तीनों कैदियों को साथ रखा गया था, अच्छी जगह रखा गया था। उन्हें मिलने-जुलने की पर्याप्त छूट दी गयी थी। वे ऐसे मूर्ख नहीं थे कि इतनी सुविधाओं का लाभ न उठाते। आग लगने से कुछ ही घंटे पूर्व कैदियों के साथ काम करने-वाली रंजन एक कार में जेल के पास रुकी थी और पुलिसवाले के आवाज देने तक वहां से हटी नहीं थी। स्वयं रंजन ने भी इस कथन की पुष्टि की थी। कैदियों ने स्वयं ही जाली तोड़ना स्वीकार किया था। फिर उन्होंने उस अंग्रेज बालक को बचाया था तो उसके बाद कंदर्प क्यों पुलिस को देखकर भाग गया ?

अधिक स्वाभाविक तो यही था कि पुलिस को आग की सूचना देकर सहायता मांगी जाती ? किंतु वे तो अपराधी थे।—तभी कंदर्प पुलिस को देखकर भागा था। उन्हें अपराधी सिद्ध करने के लिए इतना ही पर्याप्त था।

गुप्तचर विभाग के अधिकारियों और सरकारी वकील की इन दलीलों के विरुद्ध एक ही बाधा थी कि उस मकान में रहनेवाला पुलिस अधिकारी चार्ली कैदियों के विरुद्ध कोई भी बात सुनने को तैयार नहीं था। उसका यही कहना था कि जिन्होंने प्राणों की बाजी लगाकर मेरी पत्नी और बच्चों को बचाया, उन्होंने आग लगायी हो, यह मैं मान ही नहीं सकता।

"पर आप किस आधार पर कहते हैं कि कैदियों ने ही आपके परिवार को बचाया था ? आप तो घर में ही नहीं थे।"

"तो आप मेरी पत्नी से पूछिये।" घर जाकर चार्ली की पत्नी को भयंकर दुर्घटना से बच जाने पर बधाई देते हुए जांच अधिकारी ने पूछा :

"क्या आप बता सकती हैं कि आग किस प्रकार लगी ?"

"नहीं, मेरी समझ में कुछ नहीं आया ?" जेन चार्ली ने उत्तर दिया।

"ऐसी सुरक्षित जगह पर आग लगने के पीछे क्या कोई षड्यंत्र नहीं हो सकता ?"

"हो सकता है।"

अधिकारी खुश हुआ और उसने आगे पूछा।

"यही हुआ है। आप जरा अच्छी तरह सोचकर उत्तर दें तो इसी क्षण अपराधी पकड़े जा सकते हैं।"

"मैं सोचकर ही उत्तर दूंगी।"

"आप एक भयंकर राजनीतिक बगावत को दबाने में सहायक हो सकती हैं।"

"जानती हूं।"

"हमारे पास ऐसे प्रमाण हैं कि जनादन, अरुण और कंदर्प ने रंजन की सहायता से आग लगायी थी।"

"वह आप जानें। मुझे इस विषय में कुछ पता नहीं। मैं तो आग लगने के बाद ही की सचाई जानती हूं।"

"आपने आग लगने के बाद अरुण और कंदर्प को अपने मकान में देखा था?"

"हां।"

"इसीलिए तो पूछ रहा हूं कि आप यह कैसे कह सकती हैं कि इन लोगों ने आग नहीं लगायी?"

"नहीं, नहीं नहीं। मैं पूरे विश्वास से कह सकती हूं कि इन लोगों ने आग नहीं लगायी। आप इस तरह उलझानेवाले प्रश्न मुझसे मत पूछिये।" जेन उत्तेजित हो गयी थी किंतु जांचकर्ता भी इस प्रकार की उत्तेजना का लाभ उठाने के अभ्यस्त होते हैं।

"आप विश्वासपूर्वक यह कह ही कैसे सकती हैं? आपने यदि उन्हें आग लगने से पूर्व देखा होता तो आपकी बात मानी जा सकती थी।"

"मैं कभी भी मान ही नहीं सकती कि मेरे बच्चों की जिंदगी बचानेवाले आग लगायें।"

"यह आपकी मान्यता है, सचाई नहीं।"

"यही सचाई है। जिसने आग से मेरे लड़के को बचाया, मुझे जलने से बचाया और मेरी बच्ची को छाती से चिपकाकर अपनी आंखें उस आग में झोंक दीं, उन्हीं साहसी युवकों ने आग लगायी है, आप मुझसे यही कहलाना चाहते हैं? शर्म की बात है आपके लिए। सचमुच मुझे आपकी बुद्धि पर अफसोस है।"

"इस तरह उत्तेजित होने का कोई कारण नहीं है। मिस्टर चार्ली! सुनिये।

यह स्त्रियों का हीरो-वरशिप कांप्लेक्स (वीर पूजा की प्रवृत्ति) है।"

"चार्ली, यदि इन लोगों के विरुद्ध केस चला तो मैं तुम्हारी नौकरी छुड़वा दूंगी।"

"पर उससे केस रुक थोड़े ही जायेगा।" हंसकर चार्ली ने पत्नी को उत्तर दिया।

"मैं अच्छी तरह जानती हूं कि कचहरी में क्या कहना है। ऐसा अत्याचार नहीं चल सकता।"

"हम अत्याचार करना चाहते भी नहीं हैं। हम तो सत्य मालूम करना चाहते हैं।" जांच-अधिकारी ने कहा।

"तो मैंने जो कहा है, वही सच है। आप लोग झूठी बातें गढ़कर सचाई को बदनाम मत कीजिये।"

"आपको बचाना भी यदि कोई संयोग ही हो तो ? आपने जब इन्हें पहली बार देखा, तब इनके चेहरे कैसे थे ?"

"फरिश्तों जैसे।"

"सो तो इन लोगों की पहले से ही तैयारी है। मुख पर नम्रता और कोमलता, शहद सी मीठी बोली, और नमस्कार में जुड़े हाथ। आपने एक बात पर ध्यान दिया ? यह तो सचाई है न कि कंदर्प ने आपको खिड़की में से धक्का दिया था ?"

"हां, मुझे जलने से बचाने को।"

"यह भी भले ही आपकी मान्यता हो किंतु धक्का मारनेवाली बात एकदम सच है। अब आगे बढ़ें। आपने देखा था, भीड़ ने नीचे जाल फैला रखा था।"

"हां।"

"आपके गिरने से पूर्व ?"

"हां।"

"तो इसी प्रकार आप यह भी विश्वासपूर्वक कह सकती हैं कि कंदर्प ने भी जाल देखा था ?"

"हां।"

"उसने आपसे कहा था क्या कि जाल दिखाई दे रहा है ?"

"नहीं ।"

"तब आप किस आधार पर कह रही हैं कि उसने आपको बचाने के लिए ही धक्का दिया था ?"

"यानी आप यह कहलाना चाहते हैं कि उसने मुझे धक्का देकर मारने की कोशिश की थी ?" जेन की आंखें क्रोध से लाल हो उठी थीं।

"यह हो सकता है। देखिये, मेरा यह प्रश्न काफी महत्वपूर्ण है। जिस समय आप गिरीं, उसी समय एक और घटना हुई। आपने कंदर्प को भी साथ ही घसीट लिया था। वह कहता है कि उसने आपकी इच्छा के विरुद्ध धक्का दिया था और आप ···।"

"देखिये, अब मैं आपको किसी बात का उत्तर नहीं दूंगी। मैं आपको उत्तर देने के लिए विवश भी नहीं हूं। न्यायाधीश जो पूछेंगे, बताऊंगी। और चर्ली। तुम आज ही इस नौकरी से त्यागपत्र दे दो।" कहकर जेन पास बैठी बच्ची को साथ ले अंदर चली गयी और तुरंत ही तैयार होकर अरुण को देखने अस्पताल के लिए चल दी।

जेन ने समाचार-पत्रों में सारी घटना प्रकाशित करवाकर कंदर्प और अरुण की मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। उसने उन दोनों की इतनी प्रशंसा की कि उन पर वीर-काव्य लिखे जाने लगे। दोनों पक्षों के पत्रों को जेन का पत्र तो छापना पड़ा किंतु प्रत्येक ने उस पत्र को लेकर अपने मतानुसार संपादकीय में चर्चा की।

जनता के पक्षवाले पत्रों ने कंदर्प और अरुण को भारत के सामान्य जन का प्रतिनिधि बताया। सरकारी पक्ष के पत्रों ने अरुण और कंदर्प के शौर्य को अपवाद रूप बताकर दो-तीन पंक्तियों में बात समाप्त कर दी। उन्होंने इस बात को ऐसा रूप दिया जैसे एक अंग्रेज महिला की ऐसी ईमानदारी ही पूरे प्रसंग का रहस्य है और जिस जाति में ऐसी महिलाएं हैं, उसका शासन अक्षुण्ण रहना ही चाहिए।

किंतु इस सबके कारण उलझन और बढ़ गयी। जेन और उसके बच्चों की साक्षी सरकारी पक्ष के विरुद्ध जा रही थी, अतः सारे जोड़-तोड़ के बाद भी पक्ष कमजोर था। मैजिस्ट्रेट रहीम ने अग्नि दुर्घटना के बाद बिना जमानत अभियुक्तों को मुक्त कर दिया था और यह स्वीकार कर कि वह अरुण का मित्र है,

उसने मुकदमा आगे बढ़ाने में अपनी असमर्थता प्रकट की थी। साथ ही उसने सरकार को सलाह दी थी कि इस प्रकार अपने प्राणों के मूल्य पर भी पराये स्त्री बालकों को बचाने वाले वीरों के विरुद्ध केस समाप्त कर दिया जाना चाहिए। रहीम प्रतिदिन अस्पताल जाकर अपने बालसखा की देखभाल में हाथ बंटाता था।

एक सुबह उसे आदेश मिला कि कई कारणों पर विचार करने के बाद सरकार ने कृपा करके अरुण, कंदर्प और जनार्दन के विरुद्ध मुकदमा वापस ले लिया है। सरकार जो भी करती है, कृपा पूर्वक ही करती है। रहीम बाकी डाक यूं ही छोड़ अस्पताल दौड़ गया। उस समय वहां अन्य कई आश्रमवासी भी उपस्थित थे। कृष्णकांत और धनसुखलाल भी वहीं थे तथा जेन व उसकी बच्ची गरट्रड भी आ गयी थी। गरट्रड अपने रहते अरुण पर मात्र अपना ही अधिकार मानती थी। उसे पुष्पा का भी वहां अधिक बैठना अच्छा नहीं लगता था।

रहीम ने अरुण के पास पहुंचकर बताया :

"तुम्हारे विरुद्ध केस वापस ले लिया गया है। आज से तुम्हारी छुट्टी।"

सुनकर सभी प्रसन्न हुए। गरट्रड तो तालियां बजाकर कूदने लगी।

"गर्टी, क्या कर रही है ?" मां ने उसे झिड़का।

"आहा, अब मजा आयेगा। देखा न, मेरी बात से सबको कैसा डर लगा ?"

गर्टी ने अपना महत्व बताया। उसे विश्वास हो गया कि उसके ही डर से अरुण को छोड़ा गया है।

"पर इसमें तुझे क्या मजा आया जो इतना उछल रही है ?"

"अब मैं अरुणकांत को अपने घर ले जाकर अपने हाथों से शर्बत बनाकर पिलाऊंगी। और किसी को नहीं बनाने दूंगी। सब खराब कर देते हैं।"

अरुण ने गर्टी को बुलाकर अपने पास बैठाया और कुछ देर बाद बोला :

"गर्टी। अभी हमारी कैद पूरी नहीं हुई। हमारा तो पूरा देश ही जेल बन गया है।"

"अरे तो तुम्हारे देश को भी छुड़वा दूंगी। और बोलो, तुम जो चाहो, मुझसे कहना तो सही।"

सभी हंस पड़े। पर उस हंसी के नीचे सभी एक गंभीर सत्य के दर्शन कर रहे थे। राग द्वेष रहित बालक रंगभेद से दूर होते हैं। यदि बड़ों में भी बच्चों की-सी

उदारता हो तो स्वराज्य के लिए सत्याग्रह की भी आवश्यकता नहीं।

कृष्णकांत और धनसुखलाल कुछ देर ठहरकर वहां से चले गये थे। आज ही किशन को ठाकुरजी के दर्शन करवाने का मुहूर्त था। इसीलिए जल्दी से सीढ़ी लगवाने और बाकी व्यवस्था करने में कृष्णकांत की सम्मति लेनी थी।

आज ही पुष्पा को अस्पताल में न पाकर रंजन उसके घर गयी थी। और यह सोचकर कि नेत्रहीन अरुण पुष्पा को पसंद नहीं है, रंजन ने अरुण के पास जाने का पुष्पा का आग्रह मान लिया था।

दोनों को अस्पताल पहुंचा देखकर गर्टी को बुरा लगा।

"ये लोग बेकार यहां आती हैं। और यह एक औरत तो तुम्हें बहुत ही हैरान करती है न? कितनी दवा पिलाती है। दया ही नहीं आती।"

अरुण ने सिर हिलाकर हां की। वह समझा कि सुशीला और पुष्पा आयी होंगी। सुरभि तो पहले ही से वहां थी। वह जानता था कि रंजन नहीं आयेगी—यद्यपि वह हर क्षण उसी की प्रतीक्षा करता रहता था।

अंग्रेज डाक्टर ने आकर स्वास्थ्य पूछा और केस समाप्ति की सूचना पर उसने अरुण को बधाई देते हुए कहा :

"आप सरकारी आतिथ्य से मुक्त हो गये हैं तो मैं भी आपको कैद नहीं रखूंगा। आज से आप मुक्त हैं। अब आप आराम से घर जाइये।"

सभी ने डाक्टर के प्रति आभार प्रकट किया। इस अंग्रेज डाक्टर ने अरुण की आंख बचाने के लिए धरती आकाश एक कर दिये थे। और भूख और प्यास की चिंता किये बिना घंटों पैरों पर खड़े मेहनत करने के बाद भी जब उसने अपनी मेहनत बेकार जाती देखी और उसे यह विश्वास हो गया कि ऐसा युवक अब नेत्र-हीन होकर रह जायेगा तो उसने निराशा और दुःख से अपने कीमती औजार जमीन पर दे मारे। साथ ही अपनी बुद्धि को दंडित करने की-सी मनस्थिति में उसने अपने सिर को पीट लिया था। यह दृश्य सबकी आंखों में तैर रहा था।

अरुण ने डाक्टर के प्रति आभार प्रकट करते हुए कहा, "डाक्टर आपने मुझे जिलाया, मैं आभारी हूं। पर यह नेत्रहीन जीवन न रहे तो नहीं चल सकता क्या?"

"यह आपकी भूल है। आंखों का महत्व है किंतु आपने आंखों को बहुत अधिक

मान्यता दे दी है। यह सृष्टि के साथ संपर्क-सूत्रों में से एक उपकरण मात्र है। यह कहना दूसरे अंगों के साथ अन्याय है कि आंख ही सब कुछ हैं। सृष्टि से हमारा संसर्ग आंखों के बिना भी रह सकता है।"

अब अरुण का समाधान डाक्टर की इस बात से कितना हुआ, यह तो अरुण ही जाने, पर वह इस विवाद को रस लेकर सुन रहा था कि उसे कहां ले जाया जाय। सुरभि उसे अपने घर ले जाना चाहती थी किंतु जनार्दन ने कहा :

"इसका स्थान मेरे आश्रम में है। इसने मेरे आश्रम को आलोकित किया है।"

"पर वहां भाई की देखभाल कौन करेगा ?" सुरभि ने शंका प्रकट की।

"हम इतने सारे लोग क्या निकम्मे ही हैं ?" कंदर्प ने पूछा।

रहीम ने समाधान दिया, "अभी तो अरुण को सुरभि बहन के साथ ही जाने दो। पिताजी भी वहीं हैं। कुछ दिन दोनों को साथ रहने दो। फिर कुछ आदत पड़ने पर आश्रम में आ जायेगा।"

सभी ने रहीम की बात पसंद की, यह देखकर रंजन के मुख पर आनंद छा गया। पर पुष्पा की विचित्र मांग सुनकर उसे आश्चर्य हुआ। पुष्पा ने कहा :

"सुरभि बहन ! अरुणकांत को घर ले जाने से पहले मेरे घर ले चलना होगा।"

"क्यों ?"

"मैंने मानता मानी थी कि यहां से उठने पर ये पहले मेरे ठाकुरजी के दर्शन करेंगे।"

रंजन को आश्चर्य हुआ। पुष्पा ने भी रंजन के सामने देखा। चंद्र को भेंटने के लिए भागती दो बदलियां मानो एक हो गयीं।

सभी ने पुष्पा की बात मान ली और पुष्पा अरुण से मिले बिना ही चली गयी। सभी खुश थे। मात्र अरुण की आंखें छलछला रही थीं।

एक अंग न रहने पर इतनी बेबसी ? सभी मुझ पर दया खाने लगे ? और ठाकुरजी के दर्शन मैं करूंगा किन आंखों से ?

अरुण ने आंखों पर कोमल रूमाल का दबाव महसूस किया। कुछ देर बाद उसने रूमाल हटाने को हाथ बढ़ाया। वहां कोई कोमल हाथ रूमाल पकड़े था। अरुण ने हल्के से उस हाथ पर अपना अंगूठा फेरा। उसे लगा वह पुष्पा का स्पर्श

कर रहा है और उस कोमल स्पर्श को अनुभव करने के लिए उसे आंखों की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं हुई।

"यह मैं हूं।" रंजन कुहुकी।

"रंजनगौरी ?" धीरे से अरुण ने पूछा। पर उसके प्रश्न में सुखद आश्चर्य के सौ-सौ स्रोत फूट निकले थे।

"हां। चौंके क्यों ?"

अरुण की आंखें जीवित होतीं तो भी इस समय वह उन्हें मींच ही लेता। कई सौंदर्य बंद आंखों से ही अनुभव किये जा सकते हैं। कई-कई रस बंद आंखों में ही ग्रहण किये जा सकते हैं।

फिर सुख स्वप्न भी तो हम बंद आंखों से ही देखते हैं न ? अरुण ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी आंखें रंजन को नहीं देख रही थीं, तो भी लगता था जैसे उनमें दृष्टि-सामर्थ्य हो, अरुण ने उन्हें अपनी हथेलियों से ढक लिया।

41. दिव्यचक्षु

आकाश का विस्तृत काला पत्रक फैलाकर प्रकाश के शब्दों से ऋमंमाला अंकित की है। दिक्काल की डोरी में सारे ग्रह नक्षत्र गुंथे हैं। ब्रह्मांड का महाग्रंथ ब्रह्म मुखरित हो उठा है।

—न्हानालाल

सूर्यास्त हो रहा था किंतु अरुण को इससे क्या ? आंखवालों ने सूर्य को देखा, उसकी गति को देखा और घड़ी व पल का हिसाब भी रखा। किंतु अरुण को अब इन सब बातों से क्या लेना-देना था ?

लेकिन लेटे-लेटे भी अरुण को समय अंदाजने का अभ्यास हो ही गया था। उसने पूछा :

"छह बजने वाले हैं न ?"

"हां।" कह रंजन ने उसे सहारा देकर पलंग से नीचे उतारा।

देखकर गर्टी दौड़ी-दौड़ी आयी और रंजन को डांटने लगी :

"क्यों, मुझसे पूछे बिना क्यों उतारा इनको ?"

"अरे भई गर्टी माफ कर दो आज। अच्छा, चल अपन अरुणकांत को गाड़ी में बिठायें।"

रंजन और गर्टी अरुण को सहारा देकर अस्पताल के कमरे से बाहर आयीं।

और अब छुटकी-सी गर्टी ने रंजन को परे धकेल दिया।

अरुण की दुनिया ही बदल गयी थी। चारों ओर अंधकार और अंधकार। समतल जमीन पर भी पांव रखते हुए वह डर रहा था। लग रहा था कि हर कदम पर गहरे गड्ढे हैं और अगला पांव बढ़ाते ही वह किसी एक में जा गिरेगा।

कमरे से बाहर निकलते ही अस्पताल के लोग एकत्र हो गये। डाक्टरों और

परिचारिकाओं ने अरुण से हाथ मिलाये। अंग्रेज सर्जन तो उसके साथ ही वहां से जाने को था। रहीम, चार्ली, जेन आदि भी उसे घर तक छोड़ने जानेवाले थे। अन्य सब तो थे ही।

जीने से उतरते हुए उसे लगा कि वह पाताल में उतर रहा है। एक बालिका उसे सहारा देकर ले जा रही थी। एक छोटे से अंग——आंख के न रहने पर सब कुछ कितना उथल-पुथल हो गया था।

आखिर ऐसे जीवन का अब उपयोग क्या है? वह उग्रतावादी था, किंतु अब वह एक अक्षर भी लिख सकेगा? हिंसावादी अरुण क्या अब कोई भी शस्त्र उठा सकेगा? भारत को स्वतंत्र करने का उसका सपना अब कहां उड़ गया था? अब तो उसमें देश के लिए मरने तक की योग्यता नहीं रही थी। उसके मरने या जीने से देश की स्वतंत्रता पर तिल-भर भी असर नहीं पड़ना था। फिर क्यों इतने-इतने लोग उसे बचाने का प्रयत्न कर रहे थे?

वह भारी मन से कार में बैठा। नहीं, गर्टी ने उसे बैठाया। और धनसुखलाल का मकान आने पर गर्टी ने ही उसे सहारा देकर उतारा। तब उसके मन में आभार की भावना उभरी——

क्या मनुष्य एक दूसरे को मारने के लिए ही हैं? जीने से ऊपर चढ़ते हुए उसकी मानसिक दृष्टि के सामने धनसुखलाल की अट्टालिका प्रत्यक्ष आ खड़ी हुई। वह वहां बिताये दिनों को फिर से चलचित्र की तरह देखने लगा। ऊपर पहुंचते ही उसे धन्नाभगत की आवाज सुनाई दी। वह सोचने लगा, यह निरुपयोगी अंधा वृद्ध अब तक जीवित है। मैं भी किसी दिन इसी प्रकार निरुपयोगी रहते हुए वृद्ध हो जाऊंगा। आखिर हम दोनों की आवश्यकता ही क्या है? और क्यों ऐसे निरर्थक मनुष्यों को जीने दिया जाय?

उसे लगा, उसके आसपास बहुत लोग एकत्र हो गये हैं। उसकी आंखों ने सभी को देखना चाहा। किंतु देह से निकले प्राण कभी वापस लौटे हों तो मरी हुई आंखों में भी दृष्टि वापस आ सकती है। अरुण का मन सिर पीट लेने का हो गया।

"क्या बात है? क्यों ऐसा मुंह बना रहे हो?" अंग्रेज डाक्टर ने कुछ धमकाते स्वर में अरुण से कहा।

"कुछ नहीं।"

"खुश रहो। देखो, तुम अपने संबंधियों के साथ अपने घर जा रहे हो।"

अरुण ने हंसने का निष्फल प्रयास किया। रंजन जरा देर वहां से अलग हटी तो गर्टी ने फिर शिकायत की।

"यह लड़की बहुत खराब है। यहां से हटती ही नहीं।"

"कौन गर्टी ?" अरुण ने पूछा।

गर्टी ने रंजन का हुलिया बताया तो अरुण ने गहरी सांस ली। हर पल जिसे याद कर रहा था, वह आज आयी। दया आ गयी होगी।

भीख मांग कर खानेवाले भिखारी और अरुण में आखिर क्या अंतर है ? अरुण सोच रहा था।

धनसुखलाल की पुकार सुनाई दी। वे काफी व्यस्त थे। छोटे-छोटे कामों में भी वे शांत नहीं रह पाते थे तो फिर आज तो इतने लोग आये हुए थे। फिर एक अछूत को भगवान के दर्शन करवाने थे। एक ओर पुराने संस्कार फन उठा रहे थे तो दूसरी ओर मानवीय संवेदन उन्हें झकझोर रहा था। ऐसी स्थिति में वे अपनी पीड़ा को चिल्ला-चिल्लाकर ही तो छिपा सकते थे।

"अब सभी को बैठा दो। उत्थापन कभी का हो चुका है। अब आरती होगी··· डाक्टर साहब माफ कीजियेगा। चार्ली साहब मैं मंदिर में किसी को कुर्सी तो दे नहीं सकूंगा··· आप लोग नीचे बैठिये––अच्छा लगेगा।"

किंतु अंग्रेज अतिथि हिंदुत्व को समझने के लिए व्यग्र थे। यों मंदिर आदि की क्रियाएं देखकर विदेशी लोग उनका वर्णन अपने देश के पत्रों में लिखते रहते हैं। कभी-कभी उनमें अबोध बच्चों के खेलों में रुचि लेने वाले बुजुर्गों की-सी कृपादृष्टि भी देखी जा सकती है। किंतु यहां उपस्थित अंग्रेज उनसे कुछ भिन्न थे। वे तो अरुण के आत्मत्याग से प्रभावित हो, उसे घर तक पहुंचाने के शिष्टाचार के नाते आये थे। इस समय अरुण को दर्शन करवाने की क्रिया के साथ-साथ एक अछूत को मंदिर-प्रवेश करवाने वाली बात ने भी उन्हें आकर्षित किया था। अंग्रेज अतिथियों के साथ-साथ रहीम भी मंदिर के बाहरी भाग में आ गया था। धन्ना भगत और किशन एक ओर बैठे थे।

पुष्पा सभी को बैठाने की व्यवस्था कर रही थी और धनसुखलाल अपनी तरह से धमाचौकड़ी मचा रहे थे। भगवान के सामने वे किसी को भी कुर्सी पर बैठने

का अधिकार नहीं दे सकते थे इसीलिए उन्होंने अतिथियों को अलग कमरे में बिठाने की बात की थी। किंतु अतिथि आसन पर बैठकर ही पूजन देखने को आतुर थे।

कुछ ही देर में मंदिर के द्वार खुले।

"सब खड़े हो जाओ।" धनसुखलाल ने हिंदू-अहिंदू सभी को खड़ा कर दिया। सभी ने मंदिर में जगमगाते दीपक देखे। शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये अलंकारों से विभूषित कृष्ण की श्याम प्रतिमा सभी को दिखाई दी। अंदर पुजारी घंटा-ध्वनि के साथ आरती गा रहे थे। सुशीला आरती उतार रही थी। धन्ना भगत, किशन, पुष्पा, जनार्दन और धनसुखलाल आरती को तालियों की ताल दे रहे थे। यह देखकर गर्टी और उसके भाई को खूब मजा आया। वे और भी जोरों से तालियां बजाने लगे। डाक्टर, जेन, चार्ली और रहीम भी धीरे-धीरे ताली बजाने लगे।

कंदर्प और अरुण शांत खड़े थे। वे तो भगवान के अस्तित्व को ही नहीं मानते थे। फिर इस भावना के सामने कैसे झुकते ? पर नहीं, इस समय वैसे कोई बात इन दोनों के मन में नहीं थी। मनुष्य महान है, शक्तिशाली है, किंतु उससे भी बड़ा और शक्तिशाली कोई अस्तित्व है जो मनुष्य को मर्यादित कर देता है। अग्नि के विराट स्वरूप ने इन दोनों साहसियों को मानव की लघुता समझा दी थी। इस पर अरुण की आंखें छीनकर अग्नि ने उसे मात्र एक प्रतिमा ही बना छोड़ा था।

"किशन ! चल पैरों पड़। और अरुण ··· हाथ जोड़।" धनसुखलाल की आज्ञा का पालन हुआ। आरती समाप्त हुई। सुशीला ने दीपशिखा पर हाथ फेर कर मूर्ति की ओर हाथ बढ़ाया और फिर आरती की थाली के आसपास पानी छींटकर उसे बाहर लायी।

"यह तो बहुत ही सुंदर क्रिया है, बहुत आनंददायक।" जेन ने अपनी भाषा में ही कहा।

"जिसके प्रति श्रद्धा हो, उसे इसी तरह दीपदर्शन करवाना चाहिए।" डाक्टर ने व्याख्या की।

"मात्र मुख देखकर संतोष न हो तो मुख को प्रकाश से दीप्त करके देखना चाहिए।" रहीम ने कहा।

"पर मैं किस मुख को किस प्रकाश से देखूं ?" अरुण ने धीरे से रहीम से कहा।

डाक्टर ने चितापूर्वक अरुण की ओर देखा।

एक ओर बैठे किशन को आरती देते समय सुशीला ने अपना ही हाथ किशन की आंखों से छुआया। बातों में व्यस्त किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। किंतु किशन तो सुशीला को ठगा-सा देखता रह गया।

जनार्दन ने एक नया ही चित्र देखा। उन्होंने अरुण से पूछा :

"अरुण।"

"जी ?" अरुण बोला। जैसे किसी और ही लोक के प्राणी को उत्तर दे रहा हो।

"पता है, यहां कौन-कौन आये हैं ?"

"हां, आवाज से तो सभी को पहचानता हूं।"

"एक परंपरावादी वैष्णव के पूजाग्रह में हम आधुनिक आस्तिक या नास्तिक जो भी हैं--आये हैं।"

"हां।"

"अछूत भी यहां सम्मिलित हैं।"

"और रहीम भी है, यानी एक मुसलमान भी।"

"मैं भी यही कह रहा हूं, अरुण। स्पृश्य और अस्पृश्य हिंदुओं के अतिरिक्त हमारे साथ मुसलमान भी हैं। यह किस बात का सूचक है ?"

"हमें नहीं गिनोगे ?" जेन ने पूछा।

"आपको भी गिन रहा हूं। अरुण, तेरे दुश्मन भी यहीं हैं।"

"मेरे दुश्मन कौन ?"

"पहली तो वह गर्टी।"

"नानसेंस।" गर्टी चिढ़ गयी।

"दूसरा टाम।"

"वह मेरा दुश्मन कहां है ?" अरुण ने पूछा।

"अंग्रेज मात्र को देखते ही तू भड़क उठता था। और कंदर्प तो कहता था कि

उन्हें देखते ही उसके हाथों में बिजली दौड़ जाती है। अब तुम्हें पिस्तौल दूं तो क्या करोगे ?"

"फेंक दूंगा उसे।"

"मैं अधिक कुछ नहीं कहूंगा। हिंसा-अहिंसा की बातें भी नहीं करूंगा। बस इतना पूछूंगा कि तूने आंखें खोकर चार अंग्रेजों को अपना बना लिया। तेरे कारण ये सारे भारत के मित्र बन गये। तूने यदि उस समय इन्हें अग्नि में होम कर दिया होता तो ?"

"ऐसा कैसे हो सकता है ? मैं कोई राक्षस हूं क्या ?"

"तो क्या अंग्रेज राक्षस हैं ?"

"काफी अंशों तक।"

"तो उनमें से चार को तो तूने मनुष्य बना ही लिया न ? क्या हम पूरी अंग्रेज जाति की मानवता को प्रदीप्त नहीं कर सकते ?"

अरुण किसी सोच में डूब गया। उसकी कल्पना ने एक चित्र बनाया। कुछ क्षण उस चित्र को देखने के बाद वह बोला :

"हां, एक उपाय है।"

"क्या ?"

"हम एक ऐसा देवालय बनायें जिसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी सभी एकत्र हो सकें। तो वह संभव है।"

"अरे बेटे। तेरी आंखें खुल गयीं। भगवान ने तुझे दिव्यचक्षु दे दिये। वही देवालय है और उसी में भगवान बसते हैं। बेटे मेरे ! तू सौ बरस जी।" उत्तेजित से धन्नाभगत बोल पड़े।

वातावरण में अरुण का कल्पना-चित्र छा गया। सभी देर तक उसमें डूबे शांति बैठे रहे। प्रसाद बांटती रंजन को डाक्टर ने एक ओर ले जाकर पूछा :

"आज अरुण आप ही की देखरेख में हैं ?"

"हां।"

"आज रात भर इसका ध्यान रखेंगी।"

"कारण ?"

"उसे जानने की आपको आवश्यकता नहीं है। मैंने इसका चेहरा देखकर ही

आपको सूचना दी है। भूलेंगी नहीं।"

कुछ न समझने पर भी रंजन ने मन में डाक्टर की बात की गांठ बांध ली। विमोचन अकेला दूर बैठा था। किसी ने अब तक उसकी ओर ध्यान नहीं दिया था। उसे प्रसाद देते हुए रंजन बोली :

"अरे! आप भी आये हैं? यों पीछे कैसे बैठ गये। आगे जाइये न साहित्यकार महोदय।"

"साहित्यकारों की कद्र ही किसे है?" विमोचन ने धीरे से कहा।

रंजन ने गर्टी, टाम, और किशन को खूब प्रसाद दिया। धनसुखलाल ने कहा :

"सब उठने से पहले धन्ना भगत से एक भजन सुनेंगे।

"अरे बापा। मुझे भी कोई गाना आता है? दो बहनें बैठें तो मैं साथ-साथ कुछ सुना दूंगा।"

रंजन और पुष्पा स्वाभाविक संकोच सहित भगत के पास जा बैठीं। एक पुजारी अंदर से एकतारा, ढोलक और मजीरे ले आया। रंजन का ढोलक पर बड़ा मीठा हाथ था। पुष्पा ने मजीरे संभाले और भगत ने एकतारे का तार छेड़ दिया।

आत्म ज्योति देखी है मैंने, आत्म ज्योति देखी
अब तक दो-दो आंखें रहते भी वह अनदेखी रही
आत्म ज्योति ... ...
अगमगढ़ के शिखर पर वह ज्योति चमके
सूर्य, तारा, चंद्र कोई वहां तक न पहुंचे
आत्म ज्योति ... ...
हां रे गंगा थकी यमुना मार्ग भूली
और चिर मर्यादा भी सागर से है छूटी
आत्म ज्योति ... ...
क्या है तेरा, क्या है मेरा भूलकर सब
एक होकर एकता में झूलते
आत्म ज्योति ... ...
वाणी अटकी, ज्ञान हो मोहित गया है
एक प्रतिध्वनि "तू ही है' बस गूंजती है
आत्म ज्योति ... ...

एकाएक ढोलक की थाप, मजीरों की किण किण और एकतारे की झंकार में गुंथे मानव-स्वर रुके। भजन में एक अनोखा ही आकर्षण होता है। नास्तिक भी अनचाहे उस लय में डूब जाते हैं। मानो नाव में बैठकर हिचकोले खा रहे हों। जैसे झूले पर बैठे पैंगें ले रहे हों। भगवान के लिए नहीं। अपने उद्धार के लिए भी नहीं, पर अपने हृदय को उस अद्भुत रस में डूबो देने के लिए भजन सक्षम आधार हैं।

सभी जाने की तैयारी में थे। अरुण खोज-खोज कर सबसे मिला। मात्र भगवान को ही नहीं, सभी को उसने नमन किया। धन्ना भगत के पास लाये जाने पर उन्हें भी प्रणाम किया। धन्ना भगत ने अरुण में अपनी प्रतिकृति देखी और उन्हें अपने अंधत्व के आरंभिक दिनों की याद आने लगी, वे प्यार से बोले :

"अरुण भैया। घबराना नहीं, अच्छाऽऽ।"

"हां भगत।"

"अब कैसा लगता है ?"

"देखो ना, पिंजरे की एक जाली टूटी है। पर इतने भर से ही हंस मुक्त कैसे होगा ?"

धन्ना भगत क्षणभर को अवाक खड़े रहे। फिर बोले, "अच्छे बेटे, देह से ही वैर न बांध लेना।"

अरुण हंसा और फिर पुष्पा से विदा लेने उसे खोजने चल दिया।

उसी समय रंजन के कंधे पर हाथ रखे कुछ बोल रही पुष्पा का मुंह रंजन अपने हाथ से दबा रही थी।

"रंजन। सुबह मैं शर्त की बात कह रही थी, वह याद है ना ?"

"हां।"

"शर्त की बात तो मैंने तभी छोड़ दी। मुझे लगा, शर्त में बांधने की अपेक्षा तुझ से मांग लेना ही ठीक है।" सुनते ही रंजन के चेहरे पर व्यग्रता उभरने लगी।

हंसकर पुष्पा ने कहा, "घबरा मत मैं अरुणकांत को वापस नहीं मांग रही।"

"तो बोल न बुद्धू। जो चाहे, मांग ले। जो दिया था, वह तो संभाला नहीं गया।"

"कहूं ? अपना पहला बच्चा··· ···मुझे··· ···दे··· ···देना।" रंजन द्वारा मुंह दाबे जाने पर भी पुष्पा ने अपनी बात पूरी कर ही दी।

मनुष्य जीवन के लिए संघर्ष करता है। स्वदेह तो वह चिरंजीवी कभी नहीं हो सकेगा, पर मनुष्य इससे हार नहीं मान लेता।

स्वदेह न सही, वह परदेह में जीवित रहता है। यही प्रेम का मूल है। यदि प्रेम को ही जीवन कहा जाय तो भी गलत क्या है ? नारी का मातृत्व––बच्चे के लिए भूख भी प्रेम पिपासा··· ···जीवन पिपासा––ही है।

42. उसी आकाश में स्त्री उगी

स तस्मिन्नैवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभ-
मानामुमां हैमवर्तीतां होवाच किमेतद्यक्षामति

—केनोपनिषद

"सुरभि। अब तू जाकर सो।" अरुण ने कहा। रात काफी बीत गयी थी। अरुण के पिता भी अपने कमरे में जा चुके थे। आश्रम वाले तथा अन्य मित्र भी जा चुके थे। गर्टी का मन रात में वहीं रहने का था और सुरभि व कृष्णकांत ने भी आग्रह किया था। किंतु उसके पिता ने दिक्कत बढ़ने की दृष्टि से मना कर दिया।

अरुण ने भी उसे पास बिठाकर समझाया :

"देख गर्टी, आश्रम जाऊंगा न, तो तुझे अपने साथ ही रखूंगा। तेरे बिना कौन मुझे इधर-उधर ले जायेगा? अभी घर में तो सब हैं इसीलिए कोई खास बात नहीं।"

बेमन से गर्टी चली गयी। घंटे भर अरुण मसनद के सहारे पलंग पर चुप बैठा रहा। किंतु उसे पता था कि सुरभि वहीं बैठी है, अतः उसने अब उसे सो जाने के लिए कहा था।

"तो मैं तुम्हारे पास ही सोऊंगा।" सुरभि की जगह कृष्णकांत बोले।

"अरे तुम अब तक यहीं बैठो हो? क्यों इतने परेशान होते हो? देखो सेवा करने की जगह सेवा करवानी पड़ रही है।"

"नाउ नो मेलोड्रामा, यू सिली ब्वाय।[1]"

"हमें क्या परेशानी है? आराम से सोफे पर बैठना क्या कोई परेशानी होती है।"

अब कृष्णकांत उत्तेजित होने पर ही अंग्रेजी में बोलते थे।

---

1. अब कोई नाटक नहीं, बुद्धू लड़के।

"भैया ! किसी न किसी को पास सुलाये बिना काम कैसे चलेगा ?"

"यानी सब मुझे कैदी बनाओगे ? मेरी आंखें चली गयीं तो सभी मुझ पर आंख रखेंगे ?"

"अरुण। नालायक। तुझे ऐसा लगता है तो हम चले जाते हैं। चल सुरभि। इसे अकेले बैठा रहने दे ···और यह रंजन भी मूर्ख है। इतनी रात गये गाने बैठी है।" कहकर कृष्णकांत सुरभि को साथ ले कमरे से चले गये।

अरुण ने क्षणभर सोचा कि वे सचमुच ही बाहर चले गये हैं या नहीं। किंतु उसने बाहर जाती पैरों की चाप सुनी और फिर द्वार बंद होने की आहट। अब उसकी चेतना स्पर्श और श्रवण में ही सिमट कर रह गयी थी। और इस समय रंजन का गाना न सुनाई देता तो कितना अच्छा था ?

अरुण की समझ में नहीं आ रहा था कि रंजन आज क्यों इतना गाये जा रही है। उसके गाने में आज स्थिरता नहीं थी। उसने एक करुण स्वर छेड़ा :

'नयणां मारां नीतरे
कोई त्यो नयणांनी धार।
सागर मारा छीछरे
कोई ल्यो सागरनी सार।'

एकाएक संगीत रुक गया। मानो गुजराती गीत उसके भावों को समो नहीं पा रहा हो, रंजन ने हिंदी में आरंभ किया :

"मेरो मन नंदलाल सों
अटक्यो ··· ···"

गौड़ सारंग के इन सुरों में मस्ती कुछ अधिक लगी। अपेक्षित व्याकुलता की अनुगूंज उनमें नहीं थी। अतः रंजन ने उसे बीच ही में छोड़ दिया और करुणापूरित बागेश्वरी में तुलसीदास की रचना गाने लगी :

'जय जय जय गिरिराज किशोरी
जय महेश मुखचंद्र चकोरी
जय जय जय गिरिराज किशोरी।'

किंतु यह याद आते ही कि रुकमणि ने स्वयंवर से पूर्व अंबिका के स्मरण-दर्शन किये थे, रंजन ने गुजराती में गरबी गानी शुरू की :

"इस सूने सरोवर में आओ
ओ राजहंस ।
उस सूने सरोवर में आओ
... ...
हृदय के सरोवर में आओ
ओ राजहंस
हृदय के सरोवर में आओ।"
... ...

और वह एकाएक रुक गयी। अरुण ने दूर से सुरभि को कहते सुना :

"रंजन बहन ! आज सोना नहीं है क्या ?"

"हां भाभी बंद कर रही हूं। आज गाया ही नहीं जा रहा है ।"

अब अरुण की श्रवणदृष्टि भी शून्य हो गयी। मात्र मध्यरात्रि का निशब्द अंधकार उससे लिपट गया। मृत्यु भी क्या ऐसी ही शून्यावृत्त होगी ? उसने मृत्यु को अनुभव करने के लिये उस शून्य में डुबकी लगायी। किंतु शीघ्र ही उसे पता चला कि अभी उसका हृदय धड़क रहा है।

उफ इतनी शांति में भी हृदय का इतना कोलाहल ? उसे अपने हृदय पर क्रोध आया। उसने करवट बदली, शायद धड़कन दब जाये, न सुनाई दें। किंतु वह चौंक कर उठ बैठा। उसके तन का रोम-रोम, अणु-अणु जीवित था। उसके सिर के नीचे तकिया गड़ रहा था। हाथ-पैरों में बिस्तर गड़ रहा था, सारे शरीर में कपड़े चुभ रहे थे। स्पर्श का देवता उसके संपूर्ण शरीर में व्याप गया था।

कहां है शांति ? उसने तकिया उठाकर फेंक दिया।

परंतु स्पर्श की ही तरह श्रवण के देवता ने उससे कहा, तकिया जमीन पर गिर गया है।

अरुण को लगा कि उसके ये दोनों अंग उसे चिढ़ा रहे हैं।

क्या मजाक है यह ? आंखों के साथ यह प्राण भी क्यों नहीं निकल गये ? अब मेरा उपयोग ही क्या है ? मेरे लिए अब जगह कहां है ?

अरुण इस तरह सोच में डूब गया, मानो ये प्रश्न उससे जवाब मांग रहे हों।

मेरे लिए सेवादल में जगह थी ··· पर मुझे वहां कौन ले जायेगा ? शायद गर्टी ले जाय कुछ दिन ··· किंतु रंजन तो नहीं न ?

रंजन की आवाज भी आज इतने दिनों बाद सुनी है ··· और उसे देखे तो ···

अरुण ने फिर अपना हाथ पटका। उसे निश्चय हो गया था कि सभी अंधे पर दया ही करते हैं। उससे प्रेम किसीको नहीं हो सकता। फिर भी इस समय रोष में भरकर वह हाथ पटक बैठा।

अब मेरे लिए कहीं स्थान नहीं है। बस दया के एक कोने में ही मुझे पड़े रहना है। वह कुछ स्थिर होकर बैठा और उसने दूसरे प्रश्न का उत्तर भी खोज ही लिया।

अब मेरा क्या उपयोग है ? एक उपयोग था––देश के लिए मर मिटना पर अब मरने भी कौन देगा ? दूसरे का हाथ थाम कर मैं मर भी कैसे सकूंगा ? ओफ्फो; अब तो मैं मरने के योग्य भी नहीं रहा।

उसने अपने कपड़े खींच डाले। क्षण-भर को उसमें स्थिरता आयी, किंतु स्थिरता में भी उग्र भयंकरता भांय-भांय कर रही थी। वह हल्के से हंसा। कमरे के यदि आंखें होतीं तो वह इस हंसी को देखकर कांप उठता। उसने बिस्तर टटोल कर ओढ़ने की चद्दर निकाली और उसे भी टटोलकर उसका एक छोर संभाला। फिर उसने कमरे में चारों ओर दृष्टि घुमायी और तड़प कर रह गया कि वह कुछ भी देख नहीं पा रहा था।

कुछ देर बाद उसने धीरे से पुकारा :

"बहन।"

कमरा अनुत्तरित रहा।

"कृष्णकांत।"

"अरे कोई है यहां ?"

यों तो कमरे में बहुत कुछ था, किंतु सब कुछ निर्जीव। अरुण को विश्वास हो गया कि कमरे में कोई नहीं है। उसने चद्दर का एक सिरा गले के चारों ओर लपेटा। दोनों सिरे हाथ में पकड़कर एक बार फिर चारों ओर गर्दन घुमायी और फिर दोनों हाथों से दोनों सिरों को पूरी शक्ति से खींचा। उसने सोचा था कि क्षण मात्र में ही उसे संपूर्ण शांति मिल जायेगी। किंतु उसके हाथ पूरी तरह खिंच

ही नहीं पाये। कोई नया स्पर्श उसके हाथ से कपड़ा छुड़वाने का प्रयत्न कर रहा था। और फिर अरुण ने सुना :

"बहुत हो गया। अब बस करो। फांसी लगाना तक तो आता नहीं।"

रंजन ने अपने सहज हंसते खिलखिलाते से स्वर में कटाक्ष किया।

"रंजनगौरी। तुम यहां थीं?" अरुण ने डरते-डरते पूछा।

"कहीं भी थी मैं। पर मैंने तुम्हारी बहादुरी देख ली। आखिर यही करना था ना?" रंजन के प्रश्न में गहरी वेदना थी।

"और मैं कर भी क्या सकता हूं? दुनिया पर से अपना भार तो कम कर दूं?"

"देखूं तो तुममें कितना भार है?" कहकर रंजन ने अरुण का हाथ ऊपर उठाया।

"अब हंसी मत उड़ाओ रंजनगौरी। मुझे मरने भले ही नहीं दिया। पर मैं अंधा जीते हुए भी मरा हुआ ही हूं।"

"मैं तुम्हें आंखें दे दूं तो?"

"जीवित रहा तो किसी न किसी की आंखों से ही देखते रहना होगा।"

"तो फिर मेरी ही आंखों से देखो न।"

"नहीं-नहीं रंजनगौरी। मैं जी नहीं सकूंगा।"

"मैं पास ही तो हूं। मरने दूंगी तभी न?"

"पर मुझे जीवित रखकर भी क्या करोगी? मैं न घर के काम का हूं, न परिवार के और न देश के ही किसी काम का हूं।"

"मेरे तो काम के हो।"

अरुण यह भूल ही गया था कि उसका हाथ अब तक रंजन के हाथ में ही है। रंजन की बात सुनकर उसने हाथ खींच लिया और रंजन के सामने देखता रहा। रंजन ने अपनी आंखें हटा लीं। यह ख्याल भी उसके चेहरे को लाल किये दे रहा था कि अरुण उसे बिना आंख भी देख रहा है।

"रंजनगौरी तुम गलती कर रही हो।" कुछ देर बाद अरुण ने कहा।

"तुम करते होगे गलती। मैं नहीं।"

"मालूम है न, मेरे आंखें नहीं हैं?"

"नहीं। अभी तो मेरे सामने देख रहे थे ?"

"रंजनगौरी ? जिंदगी-भर दया नहीं की जा सकती।"

"मनुष्य के हृदय में दया के अलावा भी अन्य भाव होते हैं।"

"मैं सिर्फ एक भार हूं।"

"अच्छा। और भी कुछ कहना है ?"

"तुम्हें ऐसा पति अच्छा लगेगा जो सदा तुम पर आश्रित रहे ?"

रंजन खिलखिलाकर हंस पड़ी। बोली :

"हां, हां, मुझे ऐसा ही पति चाहिए। संसार-भर की स्त्रियों से पूछकर देखो। अब हम स्त्रियां ही पुरुषों को रक्षण दे रही हैं।"

"पर मैं आश्रित बनकर कैसे रह सकूंगा ?"

"तो यह बात है? स्त्रियों को आश्रित बनाते शर्म नहीं आती और स्त्रियां आश्रित बनायें तो तुम्हारा पुरुषाभिमान खंडित होता है ? क्यों ?"

"नहीं-नहीं, यह बात नहीं। पर…"

"अब देखो, और सरके तो नीचे गिरोगे। पलंग का किनारा आ गया है।"

रंजन के स्पर्श से उबरने के प्रयत्न में अरुण सरकते-सरकते पलंग के सिरे पर पहुंच गया था। अब आगे सरक पाना संभव नहीं था।

"रंजनगौरी। पूरी दुनिया तुम्हें मूर्ख और मुझे स्वार्थी कहेगी। तुमने यहां आने से पहले अपने भाई से पूछा था ?"

अरुण ने रंजन का पागलपन मिटाने का दूसरा मार्ग खोजा।

"क्यों पूछती ? भैया मुझे किसी भी बात के लिए कभी मना नहीं करते। और फिर दुनिया के कहे की मैंने या तुमने चिंता ही कब की है ?"

"पर स्वार्थ का कांटा मुझे तो जीवन-भर सालता ही रहेगा ना ?"

"कौन सा स्वार्थ ? मेरी संपत्ति का ? वह तो मैंने कभी की आश्रम को दान कर दी है।"

अरुण स्तब्ध हो बैठा रहा। रंजन भी अवाक बैठी रही। वह अरुण से ही लगी बैठी थी। यह सोचगर अरुण फिर चौंका। किंतु वहां से सरक पाना भी संभव नहीं था। उस शांत वातावरण में दो हृदय धड़क रहे थे। भाव सदा वाणी से परे होते हैं। मन की बात सदा ही होंठों तक आ नहीं पाती।

आखिर अपनी व्याकुलता को दबाते हुए अरुण बोला :

"पर मैं जी कर करूंगा भी क्या ?"

"जो करते थे, वही।"

"यानी ?"

"झंडा लेकर आगे-आगे दौड़ना।"

"आंखें रहते ही झंडा नहीं लहरा सका तो अब क्या करूंगा ? मेरा तो झंडा ढह गया।"

"नहीं। देखो यह रहा।" कहकर रंजन ने अपने ब्लाउज पर पिन से लगा एक छोटा-सा झंडा अरुण के हाथ में रख दिया। छोटा-सा ध्वज प्रतीक। परंतु उस प्रतीक में भारत का प्राचीन गौरव, वर्तमान तपस्या और भविष्य की मुक्ति समायी थी। सर्वव्यापी ईश्वर जैसे प्रत्येक के हृदय में अंगुष्ठ जितना बनकर समाया रहता है, उतना ही। भारतमाता भी ध्वजा की तरह छोटा सा रूप धारण कर भारतवासियों के हृदय में क्यों नहीं विराजतीं ?

अरुण के मुख पर एक तेज फैला। वह बहुत ही श्रद्धापूर्वक उस छोटे से झंडे को हाथ में पकड़े रहा। अचानक उसके हाथ से झंडा छूटकर नीचे गिरा। रंजन एकाएक बोली, "डरो मत। झंडा तो मैं उठाकर फिर रोपूंगी।"

जिस ध्वजा को पुरुष नहीं रोप सका, स्त्री क्या रोपेगी ? रंजन का यह कथन भारत और संसार की भावी की कोई आगाही तो नहीं ? आगाही कैसे ? यह तो होने ही लगा है।

"रंजनगौरी। तुम देवी हो।"

"बहुत अच्छा। अब यह सब छोड़ो। हम नाटक नहीं कर रहे हैं।"

"तुमने व्याकरण सीखी है ?" रंजन ने पूछा।

अरुण उसका आशय न समझ कर बोला :

"सीखी भी होगी तो भूल गया।"

"अच्छी बात है मैं सिखाती हूं। पता है सर्वनाम क्या होता है ?"

"हां।"

"मध्यम पुरुष को क्या कहा जा सकता है ?"

"तू या तुम।"

"एकवचन में ?"

"तू।"

"फिर भी तुम तुम किये जा रहे हो तब से। मैं तो दुखी हो गयी।"

"तो क्या मैं तुम्हें तू कहकर बुलाऊं ?"

"अभी भी समझ में नहीं आ रहा है ?"

"नहीं। मैं तुम्हें एकवचन में संबोधित नहीं कर सकता। तुम तो पूज्य ···।"

"देखो, अब अगर तुम कहकर बोले तो गले में फांसी ही लगा दूंगी।"

"लगाओ।"

"तो लो।" कहकर रंजन ने अरुण के गले में अपनी बाहों की माला डालकर भींच दिया।

"अरे अरे। छोड़ो न।"

"किससे कह रहे हो ?"

"तुमसे।"

"तुम कौन।"

"रंजन। तू।"

"तुम्हें कैसे पता चला ?"

"अब तुम्हें देख जो रहा हूं।"

प्रेमियों के आंखें नहीं होतीं। रात में भाई को देखने आने पर सुरभि ने द्वार खोला था, यह बात दोनों में से कोई नहीं जान सका। पूरे कमरे में एक ही प्रतिध्वनि गूंज रही थी : "तू ही है। तू ही है।"